



MATS
UNIVERSITY

NAAC
GRADE **A⁺**
ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

भारत का इतिहास 1200 से 1739 तक

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

तृतीय सेमेस्टर



SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

- 1- Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh
- 2- Dr. Sudhir Sharma , Subject Expert ,HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai
- 3- Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh
- 4- Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh
- 5- Dr. Rajesh Kumar Dubey , Subject Expert, Principal , Shahid Rajeev Pandey Government College ,Bhatagaon , Raipur ,Chhattisgarh
- 6- Dr. Shashikala Sinha , Government Mata Shabri Naveen Girls College, Bilaspur, Chhattisgarh

COURSE COORDINATOR

Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh

COURSE /BLOCK PREPARATION

Ms. Surbhi Singh Assistant Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh

March, 2025

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-
(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR'S MANUSCRIPT.

Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

अनुक्रमणिका

माड्यूल	विषय- भारत का इतिहास	
माड्यूल 1	इकाई-1 सल्तनत कालीन स्रोत, मुगलकालीन स्रोत, यात्रा वृतान्त	2-33
	इकाई-2 मोहम्मद तुगलक की विभिन्न योजनाएँ	34-46
	इकाई-3 फिरोजशाह तुगलक की नीति	47-60
माड्यूल 2	इकाई-4 क्षेत्रीय राज्यों का उदय	61-77
	इकाई-5 मुगल साम्राज्य (विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण)	78-94
	इकाई-6 शेरशाह	95-112
माड्यूल 3	इकाई-7 अकबर जहाँगीर एवं औरंगजेब की नीति	113-186
	इकाई-8 $e_{jk}B_k \cdot k_l u$	187-196
	इकाई-9 सल्तनत कालीन प्रशासन	197-220
माड्यूल 4	इकाई-10 $H_{if}D_r v_{ij}$ लन , $a_{ij} s_{Q_{ij}} v_{ij}$ लन	221-244
	इकाई-11 भू राजस्व एवं मन सबदारी	245-253
	इकाई-12 मुगलकाल में कला स्थापत्य साहित्य	254-260
माड्यूल 5	इकाई-13 मुगलकालीन विज्ञान एवं तकनीकी	261-266
	इकाई-14 मुगलकालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था	267-272

Acknowledgement

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Sould any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

(बी.ए. तृतीय सेमेस्टर)

अनुक्रमणिका

इकाई – एक

सल्तनतकालीन स्रोत

मुगलकालीन स्रोत

यात्रा वृत्तान्त

इकाई— दो

राजत्व सिद्धान्त

मुहम्मद तुगलक की विभिन्न योजनाएँ

मुहम्मद तुगलक का चरित्र एवं मूल्यांकन प्रान्तीय राज्यों का उदय

शासन व्यवस्था

सामाजिक और आर्थिक जीवन

तैमूर आक्रमण और उसके प्रभाव

इकाई—तीन

षेरशाह सूरी

मुगल साम्राज्य का विस्तार एवं सुदृढीकरण

पूर्वी एवं उत्तरी भारत की विजयें

जहाँगीर मुगल राजनीति में नूरजहाँ की भूमिका (१६०५-१६२७)

इकाई—चार

षाहजहाँ के दक्षिण, मध्य एशिया और ईरान के साथ संबंध

औरंगजेब – धार्मिक, राजपूत व दक्षिण नीति (१६५८-१७०७) शिवाजी

१७६१ ई. तक मराठा शक्ति का विस्तार

भारत में यूरोपीयों का आगमन

अर्थव्यवस्था

इकाई—चार

भारत का इतिहास

भक्ति आन्दोलन.

भारत में सूफी धर्म

मुगल प्रशासन, भू-राजस्व एवं मनसबदारी

इकाई पाँच

मुगल काल में कला, स्थापत्य, साहित्य, विज्ञान एवं तकनीकी

मुगल कालीन समाज व अर्थव्यवस्था.

कतिपय सामाजिक परम्पराएँ

इकाई – प्रथम

साहित्य किसी भी काल के समाज का प्रतिबिम्ब होता है, जिससे ने केवल उक्त समाज के नैतिक आदर्शों का ही परिज्ञान होता है, अपितु तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, परिस्थितियों के भी दर्शन होते हैं। यदि साहित्य की इतनी व्यापक भूमिका न होती तो हमें प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में अपूर्व बाधाओं का सामना करना पड़ता। प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में मनीशियों ने अपने दर्शन एवं ज्ञान से साहित्य जगत को आप्लावित किया है। इसके सुस्पष्ट प्रमाण वेद हैं। तदन्तर अनन्य राजवंशों के प्रश्रय में विद्वत् जनों द्वारा कोटि-कोटि साहित्य की रचनाएँ हुई। भारतीय इतिहास के मध्य युग में भी अनेक रोजनामचे लेखकों, तवारीखकारों, प्रशस्तिकारों, विदेशी यात्रियों आदि ने उस युग विशेष की परिस्थितियों को अपनी लेखनी से षब्दाबद्ध किया है। युग विशेष के इतिहास को लिपिबद्ध करने में विदेशी यात्रियों के वृत्तान्तों, सिक्कों, पिलालेखों के प्लाघनीय महत्व हो भी स्वीकार किया जाना चाहिए। इस अध्याय के लेखन में लेखन के उद्देश्यों को अग्रांकित बिन्दु से स्पष्ट किया जा सकता है

सल्तनतकालीन स्रोत

यह ग्रन्थ मौलिक रूप से अरबी में लिखा गया था। इसमें सिंध विजय का इतिहास है। मुहम्मद अली बिन अबू बक कूफी ने नसिरुद्दीन कुबेचा के समय में इसका फारसी में अनुवाद किया और शासक को समर्पित किया। करँची के डा. दाऊदयोंता ने इसको सम्पादित तथा प्रकाशित किया। ग्रन्थ में मोहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के काल की महत्वपूर्ण घटनाओं का विस्तृत वर्णन है। अरबों की विजय सम्बन्धे जानकारी के लिए यही एकमात्र साधन है।

तारीख-ए-सिंध, उपनाम, तारीखए-मासूमी

भक्खर से मीर मुहम्मद मासूम द्वारा रचित इस ग्रन्थ में सिंध के विस्तृत इतिहास का वर्णन है। इस ग्रन्थ में अरबों की विजय के समय से अकबर के शासन काल तक की उस प्रान्त की जीवन्त घटनाओं का वर्णन है। यद्यपि यह ग्रन्थ मुख्यतः चचनामा पर ही आधारित है एवं तत्कालीन नहीं पिफर भी इसमें अरबों की विजय तथा मोहम्मद बिन कासिम की सफलता के कारणों का सटीक वर्णन है।

ताज-उल-मासिर

इस ग्रन्थ की रचना सदरुद्दीन मोहम्मद हसन निजामी ने तुर्की भाषा में की। इनका जन्म निषापुर (खुराना) में हुआ था, किन्तु मंगोल उत्पात के कारण इन्हें अपनी जन्मभूमि त्यागनी पड़ी व इन्होंने हिन्दुस्तान में षरण ली। वे दिल्ली में काजी सर्कुमुल्क की सेवा में उपस्थित हुये। अपने मित्रों के इतिहास लेखन की प्रार्थना पर हसन निजामी ने इस ग्रन्थ की रचना 1205 ई. में प्रारम्भ की। इसमें 1191 से 1217 ई. की घटनाओं का वर्णन है, इतना लिखने के बाद निजामी ने लिखा श्यदि मैं जीवित रहा तो आगे का हाल भी लिखूंगा। इसका आगे का हाल (1228 ई. तक) एक हस्तलिखित प्रति से प्राप्त हुआ जो दिल्ली के नवाब जियाउद्दीन देहलवी से इलियट महोदय ने प्राप्त की थी। इस पुस्तक में लेखक ने आलंकारिक व क्लिष्ट भाषा का प्रयोग किया है। इसमें संक्षिप्त इतिहास ही है। हसन निजामी ने मुख्यतः कुतुबुद्दीन ऐबक तक की घटनाओं का ही वर्णन

दिया है। यद्यपि कुछ विवरण मुहम्मद गौरी व सुल्तान इल्तुतमिश के बारे में भी ज्ञात होता है। इसमें मुख्यतः युद्धों का ही वर्णन है।

इस ग्रन्थ के लेखक मिनहाजुद्दीन सिराज है, जिन्होंने इसे फारसी में रचा। इनका जन्म 1193 ई. में सिराजुद्दीन महमूद के परिवार में हुआ। मिनहाजुद्दीन सिराज का लालन-पालन मोहम्मद गौरी की पुत्री षहजादी माहेल मुल्क ने किया। इल्तुतमिश ने 1226 ई. में इन्हें ताजुद्दीन के पास राजदूत बनाकर नीमरोज भेज दिया था। 1228 ई. में मिनहाजुद्दीन सिराज को सुल्तान इल्तुतमिश ने राजकीय सेवा में लिया और 1251 ई. तक वह काजी-ए-ममालिक के प्रतिष्ठित पद तक पहुँच गया।

तबकाते नासिरी एक विस्तृत ग्रन्थ है जिसमें न केवल दिल्ली के गुलाम वंश के षासकों के समय की घटनाओं का वर्णन है, बल्कि उसने इसे इस्लाम के उत्थान के समय से आरम्भ किया है और पिफर विभिन्न खलीफाओं के षासन काल, ईराक के विभिन्न षासकों, गजनवी और वंश के षासकों तथा मुस्लिम राज्यों पर हुये मंगोल आक्रमणों की घटनाओं का वर्णन है। इस ग्रन्थ में समस्त घटनायें कमबद्ध व तिथियुक्त हैं। तबकाते नासिरी के अध्ययन से लेखक की ऐतिहासिक घटनाओं को समझने की योग्यता का पता चलता है। उसने कहीं-कहीं समकालीन राजनीति पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। रजिया के विषय में उसने लिखा है, उससे बादशाहों के सभी गुण विद्यमान थे। किन्तु भाग्य ने उसे पुरुष नहीं बनाया। अतः उसके समस्त गुण उसके लिये कुछ भी लाभप्रद नहीं हो सके। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण जिसमें भारत सम्बन्ध अध्याय है, बिबिलोथिका इण्डिया कलकत्ता द्वारा 1863-64 में प्रकाशित हुआ था। दूसरा संस्करण एच. जी. रेवर्टी ने प्रकाशित किया। इलियट एवं डाउसन ने भी अपने ग्रन्थ षिस्ट्री ऑफ इण्डिया के द्वितीय भाग में इस पुस्तक का अनुवाद किया है।

उक्त ग्रन्थ में महमूद गजनवी व सुबुक्तगीन के षासन काल का 1020 ई. तक का इतिहास वर्णित है। उतबी ने ग्रन्थ में अलंकार-युक्त भाषा का प्रयोग किया है जिससे ग्रन्थ में ऐतिहासिक पक्ष की अपेक्षा साहित्यिक पक्ष अधिक प्रकट होता है। महमूद के आक्रमणों के वर्णन के समय उसने तिथियाँ भी कम कर दी हैं। कुछ दोशों के होते हुए भी महमूद के प्राश्मिक जीवन तथा कार्यों के सम्बन्ध में यह प्रथम श्रेणी का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

तारीख-ए-फिरोजषाही

भारत का इतिहास

यह ग्रन्थ जियाउद्दीन बरनी द्वारा विरचित है बरनी का जन्म 1285–86 में हुआ था। उसकी माता सैयद वंश की थी, जो कैथल के निवासी थे। यह वंश अपने समय में विद्वत्ता एवं कुलीनता के लिए लक्ष्यप्रतिष्ठ था। इसका वंश दिल्ली के विभिन्न सुल्तानों के निकटस्थ सम्पर्क में रहा था। उसका चाचा अला— मुल्क दिल्ली का कोतवाल और सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी का मित्र था। वह खलजी तथा तुगलक सुल्तानों का समकालीन था। बरनी मोहम्मद बिन तुगलक का घनिष्ठ मित्र था, किन्तु फिरोज तुगलक उससे असन्तुष्ट हो गया और उसे जेल में डाल दिया। उसने फिरोज तुगलक को प्रसन्न करने के लिए तारीख—ए—फिरोजशाही और फतवा —ए—जहादारी दोनों ग्रन्थ जेल में रहकर ही लिखे।

तारीख—ए—फिरोजशाही में बरनी ने 1266 से 1357 ई. तक दिल्ली सल्तनत के इतिहास को वर्णित किया है। इसमें अलाउद्दीन के प्रशासनिक सुधारों व मोहम्मद बिन तुगलक की प्रशासनिक नीतियों का विस्तृत विवरण है। इस ग्रन्थ में फिरोज तुगलक के आरम्भ के शासनकाल के छह वर्षों का वर्णन है। वह इस ग्रन्थ को फिरोज तुगलक को भेंट करना चाहता था, किन्तु अमीरों के शङ्कान्त्र के कारण उसकी यह इच्छा अधूरी ही रही। बरनी को सबसे अधिक चिन्ता इस बात की थी कि सुल्तान फिरोज जैसे दयालु बादशाह के सिंहासन पर विराजमान होते हुए भी उसके कष्ट दूर नहीं हो रहे थे। बरनी ने लिखा है, शनीच और धूर्त लोग बड़े-बड़े पदों पर विराजमान हैं। किन्तु योग्य व्यक्ति को कोई नहीं पूछता। एक इतिहासकार मीर खुर्द ने बरनी की दयनीय अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है श्वह अत्यन्त निम्न अवस्था में मरा मरत्यु के समय उसके पास एक बोरी और एक चदर के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया था। उसे निजामुद्दीन औलिया के कब्रिस्तान में दफनाया गया था।

इसकी अन्य पुस्तकों में सनाय मुहम्मदी, सलाते कबीर, इनायत नामा—ए—इलाही, मआसीरे सादात, हसरत नामा, फलवात—ए—जहादारी, तारीख—ए—बरभिवयान प्रमुख हैं।

सनाय मुहम्मदी या सहीफे मुहम्मद लगभग 1353 ई. में लिखी गई रचना है। इस पुस्तक में बरनी ने मुहम्मद शाह की प्रशंसा की है। पुस्तक में पाँच अध्याय हैं। तीसरे अध्याय में हिन्दुओं की आलोचना करते हुए बरनी लिखा है, शहिन्दू न तो किताब वाले और न जिम्मी कुरान मानने वाले मगर अपने सर पर तलवार और सेना पाते हैं तो खिराज दे देते हैं नहीं तो उसका विरोध करते

हैं।

फतवाए जहादारी की एकमात्र हस्तलिखित प्रति इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन में है। इसमें 248 पन्ने हैं व इस पुस्तक में लेखक ने अपना नाम कहीं भी नहीं लिखा है। किन्तु फतवाए—जहादारी तथा तारीख—ए—फिरोजशाही के राज्य व्यवस्था सम्बन्ध सिद्धान्तों में जो समानता है उसे अब्बास रिजवी इस बात का प्रमाण मानते हैं कि दोनों का लेखक एक ही है। इसका अनुवाद मोहम्मद हबीब और अफसार बेगम ने किताब महल से प्रकाशित करवाया है।

तारीख—उल—हिन्द .

तारीख – उल – हिन्द के रचयिता अलबरूनी का जन्म 970–71 ई. में ख्वारिज्म राज्य में नगर खींचा में हुआ। वह अरबी व फारसी का ज्ञाता था। गणित, चिकित्सा, हेतुविद्या, दर्शन, धर्मशास्त्र, दर्शन ज्योतिषशास्त्र और धर्म में उसकी विशेष रुचि थी। महमूद गजनवी ने खींचा के शासक को 1017 ई. में जब पराजित किया तो अलबरूनी भी उसे युद्ध–बन्दी के रूप में प्राप्त हुआ। वह महमूद गजनवी के साथ भारत आया। उसने लाहौर में 30 वर्ष बिताये एवं संस्कृत, हिन्दू धर्म तथा दर्शन का अध्ययन किया।

अलबरूनी ने भारत पर अरबी भाषा में लगभग 20 पुस्तकें लिखीं, किन्तु उसकी प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण रचना तारीख – उल – हिन्द अथवा किताबुल – हिन्द है। इसमें 11वीं शताब्दी के आरम्भ के हिन्दुओं के साहित्य, विज्ञान, धर्म का आँखों देखा वर्णन है। अलबरूनी ने सिर्फ उत्तरी भारत के ही कुछ सम्राटों का वर्णन किया है, दक्षिण भारत के विषय में यह मौन ही रहा। महमूद गजनवी के आक्रमणों के समय के भारत की जानकारी के लिए तारीख–उल–हिन्द प्रामाणिक व मूल ग्रन्थ

मूलतः अरबी में लिखी हस्त पुस्तक का अनुवाद एडवर्ड सांचों ने अंग्रेजी भाषा में 1888 ई. में प्रकाशित करवाया। अंग्रेजी से श्री रजनीकान्त शर्मा ने हिन्दी में अनुवाद कर आदर्श हिन्दी पुस्तकालय इलाहाबाद से प्रकाशित करवाया है।

इस ग्रन्थ के रचयिता शेख अब्दुल हसन उपनाम इब्नुल असार मैसोपोटामिया का निवासी था। उसने यह ग्रन्थ 1230 ई. में पूरा किया। उक्त ग्रन्थ में मुख्यतया मध्य एशिया का और विशेषकर गौर के शंसबनी राजवंश का इतिहास है। इसमें मोहम्मद गौरी की विजय का रोचक वर्णन है। लेखक तत्कालीन था, फलतः आलोचनात्मक वर्णन ग्रन्थ की मुख्य विशेषता है।

खजाइनुल– फुतुह

अमीर खुसरो अपने समय का महान् कवि और मूर्धन्य विद्वान था। 1290 से ई. तक उसने राजकवि का पद धारण किया इसलिए यह जलालुद्दीन खिलजी से मुहम्मद बिन तुगलक तक सभी दिल्ली सुल्तानों का समकालीन था। इस ग्रन्थ में लेखक ने अलाउद्दीन का इतिहास लिखा है। इसमें सुल्तान की उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत की विजयों का उल्लेख है। अमीर खुसरो ने इस ग्रन्थ में अपने संरक्षक अलाउद्दीन के द्वारा स्वयं के चाचा जलालुद्दीन की हत्या व मंगोलों द्वारा अलाउद्दीन की पराजयों का उल्लेख नहीं किया है। उसने अपने सर्वेश्वर की सफलताओं का आलंकारिक व अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। अत्यधिक अलंकृत फारसी में लिखे गये ग्रन्थ खजाइनुल फुतुह की रचना अमीर खुसरो ने गद्य में अपनी योग्यता प्रदर्शित करने के लिए की थी। इस ग्रन्थ का अन्य नाम तारीख–ए–अलाई भी है। यद्यपि लेखक एक कवि था, इतिहासकार नहीं, तथापि उसने सारी घटनाओं का प्रत्यक्ष द्रष्टा होने के कारण तिथियों का सटीक वर्णन किया है।

3.1

भ

भारत का इतिहास

इसलिए उसके ग्रन्थ का महत्व अत्यधिक है। इस ग्रन्थ को विजयों का कोश भी कहते हैं। इसका रचनाकाल 1311 ई. है। प्रोफेसर हबीब ने अलाउद्दीन खलजी की रणयात्राएँ नाम से इसको अनुवादित किया है।

अमीर खुसरो के अन्य ग्रन्थ पद्य पैली में हैं जिनमें मुख्य है— मिप्ताह— उल — फुतुह । इसका रचनाकाल 1291 ई. है जिसमें जलाउद्दीन की एक दर्द की विजय और मलिक छज्जू की कड़े पर विजय का सविस्तार उल्लेख है। पदेवल रानी खिजखॉ नामक अन्य ग्रन्थ में गुजरात के राजा कर्ण देव की पुत्री देवलरानी एवं अलाउद्दीन के ज्येष्ठ पुत्र खिजखॉ की प्रेम कहानी व उनके पाणिग्रहण संस्कार में बंध जाने का रोजक वर्णन है। इसका रचनाकाल 1316 ई. है। मलिक काफर के शड्यन्त्रों की जानकारी इसी ग्रन्थ से मिलती है। जूह सिपेहर नामा नामक ग्रन्थ की रचना अमीर खुसरो ने 1318 ई. में ही जिसमें कुतुबुद्दीन मुबारक खिलजी की शासन की घटनाओं का विषय वर्णन है। इस ग्रन्थ में अमीर खुसरो ने हिन्दुस्तान की बड़ी प्रशंसा की है, इसी कारण लेखक को तुती—ए—हिन्द कहा जाता है। तुगलक नामा अमीर खुसरो की अंतिम कृति है। इसमें उसने खुसरो खॉ पर गियासुद्दीन तुगलक की विजय का वृत्तान्त रचा है।

तारीख—ए—फिरोजशाही

यह ग्रन्थ षम्स—ए—सिराज अफीफ द्वारा रचित है जिसमें फिरोज तुगलक के काल की घटनाओं, उसके शासन, उसके समय में समाज, आर्थिक स्थिति और व्यक्तियों के सांस्कृतिक जीवन के बारे में विस्तृत विवरण दिया है। इस ग्रन्थ की रचना अमीर तैमूर के आक्रमण के पश्चात् की गई। 99. फूतूहात—ए—फिरोजशाही

सुल्तान फिरोज तुगलक द्वारा रचा गया यह संक्षिप्त ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना के पीछे सुल्तान का मुख्य उद्देश्य स्वयं को एक आदर्श मुसलमान सिद्ध करना था। इस कारण उसने इसमें युद्धों का विवरण नहीं दिया जो साम्राज्य विस्तार के लिये किये गये, अपितु सुल्तान ने उन कार्यों का उल्लेख किया है जो उसने अपनी प्रजा में इस्लाम धर्म फैलाने के लिए किये। इस ग्रन्थ से हमें फिरोज तुगलक के शासन को जानने में अत्यन्त सहायता मिलती है।

. फुतुह—उस—सलातीन

प्रो. के. एस. लाल ने लिखा है कि फुतुह—उस—सलातीन लेखक ख्वाजा अब्दुल्ला मलिक इसामी नामक एक अज्ञात कवि के टूटे हुए दिल की आवाज थी। जब मोहम्मद तुगलक ने 1327 ई. में राजधानी परिवर्तन किया तो इसामी को भी अपने परिवार सहित दौलताबाद (देवगिरी) जाना पड़ा। उसने इस ग्रन्थ की रचना पद्य में की और 10 दिसम्बर, 1339 ई. को प्रारम्भ कर 14 मई, 1350 को समाप्त कर दी। इसामी ने उक्त ग्रन्थ में महमूद गजनवी के वंश के इतिहास से आरम्भ करके तुगलक वंश के इतिहास को लिखा है। बाद के इतिहासकारों जैसे बदायूनी और फरिष्ता ने अपनी रचनाओं में फुतुह—उस—सलातीन से सहायता ली जो इसकी उपयोगिता को स्पष्ट करता है। प्रो. के. एस. लाल ने लिखा है कि कति में न तो ऐतिहासिक अपुद्धियाँ ही हैं और न काव्य सौरभ की कमी।

93. किताब—उल—रहला

इस ग्रन्थ का रचनाकार इब्नबतूता है। इब्नबतूता का जन्म 1304 ई. में मोरक्को में हुआ। 1325 ई. में उसने यात्रा प्रारम्भ की और उत्तरी अफ्रीका, अरबिया, ईरान, कुस्तुनतुनिया होता हुआ वह भारत आया। वह सर्वप्रथम 12 सितम्बर, 1333 ई. में सिंध पर उतरा। दिल्ली आने पर मोहम्मद तुगलक ने उसका स्वागत किया और दिल्ली का काजी नियुक्त किया। इस पद पर वह 8 वर्ष तक कार्यरत रहा। बाद में मोहम्मद तुगलक उससे नाराज हो गया। 1342 ई. में वह मोहम्मद तुगलक द्वारा चीन का राजदूत बनाकर भेजा गया। मार्ग में जहाज के नष्ट हो जाने से वह माल-द्वीप समूह में चला गया। 1345 ई. में श्रीलंका होकर वह मदुरा पहुंचा, वहां से चहगाँव और उसके पश्चात् उसने मक्का जाकर हज किया। लगभग 24 वर्ष यात्रा पूरी करने के पश्चात् वह 1349 ई. में मोरक्को पहुंचा। 74 वर्ष की अवस्था में 1378 ई. में वह पंचतत्त्व में लीन हो गया।

अपने जवन के अन्तिम 25 वर्षों में वह मोरक्को के सुल्तान के दरबार में रहा और सुल्तान के आदेश से ही उसने अपनी यात्राओं के विवरण अबु अब्दुल्ला मोहम्मद बिन मोहम्मद (जो इब्न जुजी के नाम से जाना जाता है) को लिखवाये जिसने उन्हें शेरलाह के नाम से प्रकाशित करवाया। इस ग्रन्थ का अन्य नाम तुहुफत-उन-नुजार भी है। रिहाला का शाब्दिक अर्थ विवरण होता है। इब्नबतूता ने सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक और मोहम्मद तुगलक की राजनीतिक घटनाओं, युद्ध, शासन प्रबन्ध, त्यौहार, उत्सव, बाजार, भोजन, दरबार, शहरों के जीवन, समाज, अर्थव्यवस्था आदि सभी के बारे में विस्तृत वर्णन दिया है। उसे किसी सुल्तान का न भय था और न किसी से कुछ पाने की आशा। उसने यह ग्रन्थ कई मीलों दूर अफ्रीका जाकर लिखा था। अतएव रेहला तत्कालीन भारतीय इतिहास को जानने का एक उपयोगी ग्रन्थ है।

१४. तारीख-ए-मुबारक शाही

याहिया बिन अहमद द्वारा रचित यह ग्रन्थ सैयद वंश के इतिहास को जानने का एकमात्र समकालीन स्रोत है। याहिया बिन अहमद सैयद वंश के सुल्तान मुबारकशाह (1421-34 ई.) के संरक्षण में था। सर जदुनाथ सरकार याहिया बिन अहमद को शिया मतावलम्बी मानते हैं। लेखक ने यह ग्रन्थ पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखना आरम्भ किया। उसने मुइज्जुद्दीन मोहम्मद गौरी के राज्यारोहण से लेकर 1434 ई. तक का इतिहास लिखा है। 1400 ई. से 1434 तक का उसका वर्णन प्रामाणिक माना गया है एवं बाद के इतिहासकारों निजामुद्दीन अहमद, बदायूनी और फरिस्ता ने भी इस काल के लिए उसकी पुस्तक का समुचित प्रयोग किया है।

१५. तारीख-ए-दाऊदी

यह अब्दुल्ला द्वारा रचित माना जाता है जिसमें लोदी और सूर वंश का इतिहास है। यह पुस्तक जहांगीर के शासन काल में लिखी गई। उपाख्यानों व तिथिक्रम की अस्पष्टता की भरमार के बावजूद भी लोदी इतिहास को इसके बिना जाना नहीं जा सकता। इसकी एक प्रति पटना के खुदाबख्श ओरियन्टल पब्लिक लाइब्रेरी में उपलब्ध है।

१६. तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगाना अथवा तारीख-ए-शाही

भारत का इतिहास

इस ग्रन्थ की रचना अहमद यादगार ने की। प्रमुखता यह ग्रन्थ दिल्ली के लोदी व सूर शासकों के इतिहास का वर्णन करता है। इसी कारण इसे सुल्तान बहलोल लोदी के समय से आरम्भ किया गया है और हेमू की मृत्यु पर इस ग्रन्थ की समाप्ति की गई है।

मुगलकालीन स्रोत

तुजुक ए बाबरी

मुगल बादशाह जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर द्वारा तुर्की भाषा में रचित यह ग्रन्थ विश्व के ऐतिहासिक ग्रन्थों और साहित्यिक रचनाओं में अग्रगण्य माना जाता है। यह ग्रन्थ बाबर की आत्मकथा है। प्रो. ई. डेनिसन रॉस के शब्दों, शबाबर के आत्मचरित की गणना विश्व युगयुगीन साहित्य में एक आकर्षक एवं रोमांचकारी रचनाओं में करनी चाहिये। श्रीमती बेवरिज का मत है, उसका आत्मचरित उन अमूल्य रचनाओं में है जो सभी युग के लिए उपयोगी है और उसकी तुलना सेंट आगस्टाइन, रूसो, गिबन और न्यूटन के आत्मचरितों से की जानी चाहिये। एशिया में तो वह अपना एकमात्र उदाहरण है। ऐतिहासिक तथ्यों के अतिरिक्त तुजुक—ए—बाबरी भारतवर्ष से सम्बन्धित आँकड़ों के लिए अधिक महत्वपूर्ण है। बाबर ने अपनी आत्मकथा में भारत की भौगोलिक स्थिति, जलवायु, नदियों, यहाँ के लोगों के वस्त्र, खान—पान, रहन—सहन, राजनीतिक व सामाजिक स्थिति, ऋतुओं, फल—फूलों, जानवरों आदि का वर्णन किया है जो इतिहास की दृष्टि से अद्वितीय है। पानीपत के प्रथम युद्ध का वर्णन करने के तुरन्त पश्चात् भारत का वर्णन करते हुए वह लिखता है, 'शभारतवर्ष प्रथम, द्वितीय और तृतीय जलवायु में स्थित है। उसका कोई भाग चतुर्थ जलवायु में नहीं आता। यह अत्यन्त सुन्दर देश है। हमारे प्रदेशों की तुलना में यह बिल्कुल भिन्न है। पौधे, निवासी और उनकी भाषायें, वायु एवं वर्षा समस्त भिन्न हैं। भारतीयों के अवगुणों का उल्लेख करते हुए वह लिखता है कि शभारत के निवासी न सुन्दर हैं और न सुसभ्या हमें यहाँ पर अच्छे छोड़े,

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

कुत्ते, अंगूर, खरबूजे तथा अन्य फल प्राप्त नहीं होते। यहाँ बाजार में अच्छी रोटी का पका हुआ खाना प्राप्त नहीं होता। यहाँ गर्म पानी से नहाने के गुसलखाने नहीं हैं और न ही अच्छे विद्यालय हैं। यहाँ के निवासी मषाल या मोमबत्ती का प्रयोग नहीं करते। इसके स्थान पर यहाँ तेल के दिव्यों का प्रयोग किया जाता है। यहाँ बागीचों को चाहरदीवारी से घेरा नहीं जाता। यहाँ के मकानों में स्वच्छ हवा को व्यवस्था नहीं होती। यहाँ के किसान निर्धन हैं और प्रायः अर्द्धनग्न रहते हैं। भारतवर्ष के नगर व ग्राम बड़े गंदे होते हैं। बाबर ने सिर्फ अवगुण ही नहीं, बल्कि भारत के गुणों का भी स्पष्ट विवेचन किया है। उसने भारत का मुख्य आकर्षण यहाँ सोने—चाँदी की उपलब्ध प्रचुर मात्रा को बतलाया है। उसने यहाँ के मौसम की बड़ी प्रशंसा की है। अपनी—अपनी कलाओं में दक्ष कारीगरों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यहाँ मानव—श्रम प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

अपनी आत्मकथा में बाबर ने भारत की राजनीतिक स्थिति और अपने शत्रुओं से होने वाले युद्ध का भी वर्णन किया है। उसने अपने मित्रों व शत्रु के बारे में निष्पक्ष होकर लिखा है। उसने दौलत खाँ लोदी, इब्राहीम लोदी, आलम खाँ लोदी, राणा संग्राम सिंह आदि के चरित्र और व्यक्तित्व के बारे में बड़ा सटीक वर्णन किया है। उसने दिल्ली, गुजरात, बहमनी, मालवा

और बंगाल के मुसलमान शासकों तथा मेवाड़ और विजयनगर के हिन्दू शासकों के सम्बन्ध में लिखा है। उसने युद्ध के तरीकों, विजय-पराजय के कारणों का भी अपने ग्रन्थ में विषद विप्लेशन किया है।

यद्यपि साहित्यिक और ऐतिहासिक दर्शक से तुजुक ए बाबरी अद्वितीय उच्च कोटि की रचना है, किन्तु निष्पक्ष और आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो उसमें अनेक न्यूनताएँ पाई जाती हैं। उसका भारत वर्णन न तो पूर्ण है और न ही पूर्णतया सही है। उसने भारत के सभी राज्यों का वर्णन नहीं किया। वह भारत की परिस्थितियों और यहाँ के निवासियों को ठीक प्रकार नहीं समझ पाया। यह तथ्य स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि बाबर के आक्रमण के समय भारतीय समाज सुसभ्य व सुसंस्कृत नहीं था। वह युद्धों से सम्बन्धित आँकड़े भी निष्पक्षता से नहीं दे पाया। पानीपत के प्रथम युद्ध में उसने अपनी सेना की संख्या 8000 बतलायी व इब्राहीम लोदी की संख्या 1,20,000 बतलायी जो अविश्वनीय है। अफसानाएँ शाहाना के अनुसार महाराणा सांगा की खानवा के युद्ध में पराजय का मुख्य कारण यह था कि युद्ध के समय नागौर के खानजादे लगभग 40000 की संख्या में महाराणा से पृथक् होकर भागे थे। इस विषय में बाबर मौन है। तुजुक ए बाबरी की सबसे बड़ी न्यूनता यह है कि उसमें अनेक अन्तराल हैं। उसके आत्म चरित्र में 1520 से 1525 ई. तक सितम्बर 1528 ई. के बाद का इतिहास नहीं मिलता।

इन कमियों के होते हुए भी तुजुक ए बाबरी साहित्यिक व ऐतिहासिक दर्शक से विलक्षण प्रमाण है। अंग्रेजी, फ्रेंच व कई अन्य यूरोपीय भाषाओं में इस ग्रन्थ का अनुवाद किया गया। आधुनिक विद्वानों में मैडम बेवरिज द्वारा अंग्रेजी में किया गया अनुवाद, सबसे प्रामाणिक व श्रेष्ठतम माना गया है, क्योंकि यह अनुवाद तुर्की में लिखी गई मूल पुस्तक से है। एलफिन्सटन ने इस ग्रन्थ को स्पेनिया में लिखी गई एकमात्र पुस्तक कहकर पुकारा है।

२. कानूने हुमायूँनी –

कानूने हुमायूँनी के रचनाकार खौदामोर का वास्तविक नाम गयासुद्दीन मुहम्मद था। उसका लालन-पालन व शिक्षा-दीक्षा उसके नाना मीरखन्द के घर हुआ जो स्वयं एक प्रतिष्ठित विद्वान व इतिहासकार था। बाल्यावस्था से ही उसका ऐतिहासिक ज्ञान बढ़ा ही प्रखर हो गया जिसकी ख्याति सुन तीस वर्ष की अवस्था में हैरात के शासक सुल्तान हुसैन बबिन मंसूर ने उसे हैरात आने के लिए आमंत्रित किया। सुल्तान हुसैन विद्वानों का कद्रदान और उसका प्रधानमंत्री अली षेर नवाई विद्वानों का आश्रयदाता था। मी अली षेर नवाई ने अपना पुस्तकालय उसे दान कर दिया जिसकी प्रेरणा से खौदामीर ने अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना की।

कानूने हुमायूँनी खौदामीर की अन्तिम रचना है। यह ग्रन्थ हुमायूँ का आरम्भिक इतिहास जानने का महत्वपूर्ण स्रोत है। इसमें हुमायूँ का सिंहासनारोहण, उसकी ज्योतिष में रुचि, शासन प्रबन्ध सम्बन्धी नियम तथा उसके द्वारा निर्मित भवनों का उल्लेख मिलता है। हुमायूँ के व्यक्तित्व को समझने के लिये यह अद्वितीय रचना है। यह ग्रन्थ अत्यन्त आलंकारिक भाषा से पूर्ण व साहित्यिक आडम्बरों से युक्त है।

तारीख-ए- रशीदी

भारत का इतिहास

इसका रचयिता बाबर का चचेरा भाई मिर्जा मुहम्मद हैदर दोगलत था। यह फारसी भाषा में लिखा गया ग्रन्थ है। लेखक ने ग्रन्थ की रचना कष्मीर विजय के पश्चात् की। लेखक ने इसमें अपने जीवन काल में हुई घटनाओं का ब्यौरा दिया है जिसमें 1541 ई. तक का इतिहास मिलता है। भारतवर्ष का इतिहास जानने का महत्वपूर्ण स्रोत दूसरा खण्ड ही है जिसमें कामरान द्वारा कन्धार विजय, हुमायूँ की सहायतार्थ उसका आगरा से आगमन, कन्नौज का युद्ध, हुमायूँ का लाहौर की ओर पलायन, और कष्मीर पर विजय का विस्तरत इतिहास मिलता है। लेखक षेरशाह के विरुद्ध कन्नौज की लड़ाई में हुमायूँ के साथ लड़ा था। कष्मीर के कुछ भाग को उसने हुमायूँ के आदेश पर जीता और वहीं कुछ समय पश्चात् (1551 से 52 ई.) श्रीनगर के निवासियों ने उसके महल पर धावा बोलकर उसका कत्ल कर डाला। चूँकि वह तत्कालीन परिस्थितियों का प्रत्यक्षदर्श था इसी कारण उसकी रचनाओं को अमूल्य धरोहर व प्रामाणिक स्रोत माना गया है।

अकबरनामा के लिये अकबर बादशाह के आदेशानुसार जिन सहायक ग्रन्थों की रचना की गई, उनमें बाबर की पुत्री गुलबदन बेगम द्वारा रचित हुमायूँनामा को विशेष ख्याति प्राप्त है। यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से हुमायूँनामा अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु उसके सांस्कृतिक महत्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। गुलबदन बेगम ने उक्त ग्रन्थ अपनी स्मृति के आधार पर लिखा। गुलबदन जून 1529 ई. में आगरा आई और बीच हुई अन्तःपुर की घटनाओं, बाबर की मृत्यु का बड़ा मार्मिक व हृदयस्पर्शी वर्णन उसने ग्रन्थ में किया। बाबर के व्यक्तिगत चरित्र के अध्ययन में हुमायूँनामा विशेष स्थान रखता है। हुमायूँ द्वारा सिन्ध की यात्रा और काबुल विजय का वृत्तान्त उसने अकबर की माता हमीदा बानो बेगम से सुनकर तथा कुछ घटनाओं का विवरण अपने पति खिज खाजा खाँ व अन्य निकट सम्बन्धियों से सुनकर लिखा था। वह हमीदा बानो बेगम व हुमायूँ के विवाह के समय उपस्थित थी जिसकी रोचक वर्णन इस ग्रन्थ में उसने किया है। हुमायूँ के व्यक्तित्व व उसके अन्तरंग जीवन पर प्रकाश डालने वाला यह ग्रन्थ अमूल्य धरोहर है।

हुमायूँनामा की एकमात्र पाण्डुलिपि ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन में उपलब्ध है। यह अपूर्ण है। 1555 ई. में हुमायूँ के आदेशानुसार मिर्जा कामरान को अन्धा बनाये जाने की घटना का विवरण है। इसके पश्चात् हुमायूँनामा अकस्मात् समाप्त हो जाता है। गुलबदन बेगम ने इसे 1582 ई. के पश्चात् तक भी लिखा था। उसकी मृत्यु 1603 ई. में हुई, किन्तु पूर्ण ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। तजकिरात-उल वाकियात

इस इतिहास की रचना हुमायूँ के एक अनन्य सेवक जौहर आफताबची द्वारा 1586 ई. में हो गई। यह ग्रन्थ भी अबुल फजल द्वारा रचित अकबरनामा के लिये सहायक ग्रन्थ के रूप में रचा गया। लेखक ने इसे स्मृति के आधार पर रचा, चूँकि वह हुमायूँ के साथ सदैव रहता था इसलिए उसे तात्कालिक घटनाओं का ज्ञान था। उसने अपनी पुस्तक में बाबर के निधन और हुमायूँ के राज्यारोहण से उनकी मृत्यु तक का इतिहास वर्णित किया है। इसमें हुमायूँ के षेरशाह और बहादुरशाह से सम्बन्ध, भारतवर्ष में अनेक युद्धों का वर्णन, हुमायूँ का सिन्ध की ओर आगमन, अकबर का जन्म, काबुल और कन्धार की यात्रा का वर्णन मिलता है। मिर्जा कामरान को अन्धा करने के लिये जिन व्यक्तियों को आदेश मिला था, उनमें जौहर आफताबची भी शामिल था। उसने इस घटना का हृदय विदारक और मार्मिक वर्णन किया है। ग्रन्थ में ऐतिहासिक घटनाओं के निष्पक्ष वर्णन का ध्यान रखा गया है। तुलनात्मक

दर्शक से यह ग्रन्थ गुलबदन बेगम की करति हुमायूँनामा से कहीं अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। तजकिरातुल वाकियात की भाषा सरल, किन्तु ठोस है।

तजकिरा-ए-हुमायूँ व अकबर- रु

अकबरनामा के अन्य सहायक ग्रन्थ तजकिराए हुमायूँ व अकबर की रचना बायजीद बयात ने की। बायजीद बयात अकबर बादशाह का बकावलबेगी (षाही रसोईघर का मुख्य अधिकारी) था। इस ग्रन्थ की रचना 1590 ई. में की गई। ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने के लिये अबुल फजल ने एक मुंषी लेखक के घर भेजा। बायजीद बयात मौखिक रूप से उसे सुनाता जाता और मुंषी उसे लिपिबद्ध करता जाता। रचना पूरी होने पर वह संकलन तजकिराए हुमायूँ व अकबर कहलाया। 1587 ई. में उसे 200 का मनसबदार नियुक्त किया गया। इसी समय उसे इस ग्रन्थ की रचना का फरमान प्राप्त हुआ जिसे उसने 1590 ई. में पूरा किया।

बायजीद बयात का यह सुप्रसिद्ध इतिहास 1542 ई. से आरम्भ होकर 1590 ई. में समाप्त होता है जिसे उसने चार अध्यायों में बाँटा है। पुस्तक में घटनाओं की तिथियों की प्रचुरता है जो विश्वसनीय है। हुमायूँ के ईरान और काबुल में निवास के समय का इसमें वर्णित इतिहास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अकबर से सम्बन्धित विवरण अधिक विस्तृत है। दरबार के अनेक प्रतिष्ठित अमीरों जैसे बैरम खाँ, मुनीम खाँ और तादबंग के विषय में अत्यन्त ठोस सामग्री ग्रन्थ में संकलित की गई है।

तारीख-ए-षाही अथवा तौहफाते अकबर षाही

इलियट एवं डाउसन का कथन है, यह ग्रन्थ इतिहास ने होकर एक जीवन-कथा है। फिर भी भाग्यवश इसमें षेरशाह के चरित्र और गुणों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। डा. एस. बी. पी. निगम (सूरवण का इतिहास) का कथन है, अब्बास खाँ ने अनेक घटनाओं से सम्बन्धित अपने सूचना स्रोतों का भी उल्लेख किया है। अतः इस पुस्तक के तथ्यों में कोई सन्देह नहीं है। षेरशाह का सम्पूर्ण विवरण जितना विस्तारपूर्वक इस ग्रन्थ में मिलता है, उतना किसी अन्य में नहीं है।

तारीख-ए-षेरशाही का लेखक अब्बास खाँ षेरशाह का समकालीन था। इस पुस्तक का वास्तविक नाम तौहफाते अकबर षाही है, किन्तु तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगान के लेखक अहमद यादगार ने इसे तारीख-ए-षेरशाही लिखा है और यह इसी नाम से विख्यात है। लेखक के पिता मियाँ हस्स अथवा षेख अली षेरवानी षेरशाह के बहनोई, परम साहयोगी व सर्वोच्च अमीर थे। लेखक का एक पूर्वज षेख बायजीद षेरशाह का अत्यन्त सम्माननीय अमीर था। इसी आधार पर उसने अपने आधार स्रोत का वर्णन इस प्रकार किया है, अतः उसके हाल से मैं भली-भाँति परिचित हूँ जो कि मैंने अपने पूर्वजों से छानबीन कर जाना है। मैंने पठानों का विवरण खाने आजम खाँ से सुना था। लेखक अपने प्रपितामह षेख राजू की जागीर का स्वामी 1578-79 ई. तक रहा था।

इलियट एवं डाउसन के अनुसार इस पुस्तक की रचना 1579 ई. में हुई थी। डा. एस. बी. निगम का कथन है, लेखक ने 1588-89 ई. में मेहर सुल्ताना की मृत्यु का वृत्तान्त लिखा है जिससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ की रचना 1588-89 ई. के पश्चात् ही हुई। ८

भारत का इतिहास

लेखक ने अपने चाचा षेख मुहम्मद, जो बाबर की सेना में था, से बाबर का पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात किया था। उसने षेरशाह द्वारा चुनार दुर्ग विजय का विवरण अपने उन स्वजनों से सुना था जो इस विजय में षेरशाह के सहयोगी थे। वह अपनी नीरीक्षण शक्ति के विषय में स्वयं लिखता

कुछ उनके विरुद्ध सुना था और जाँच की कसौटी पर नहीं उतरा था, उसे त्याग दिया। तत्सम्बन्धी डा. निगम की टिप्पणी है अतः हम निश्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि अब्बास खां षेरवानी द्वारा लिखित एक विश्वसनीय इतिहास है। इस पुस्तक में लिखे तथ्यों पर कोई सन्देह नहीं है। बड़ी-बड़ी घटनाओं की पुष्टि हुमायूँ से सम्बन्धित अनेक इतिहासों से भी होती है। इस ग्रन्थ में षेरशाह के पूर्वजों के भारत आगमन व उनके कार्यों, फरीद के जन्म के विवरण व षेर खां की प्रशासनिक योग्यता भी हमें इस इतिहास से पूर्ण ज्ञात होती है। अब्बास खां षेरवानी लिखता है कि फरीद ने जागीर का प्रबन्ध लेने से पूर्व अपने पिता से कहा, श्रेष्ठ का बसना दो बातों पर निर्भर है, प्रथम तो समस्त जनता के प्रति सद्भावना रखना तथा जो निर्बल हैं उन पर दया करना क्योंकि वह भगवान द्वारा दी गई अमानत है। दूसरा सिद्धान्त जिस पर देश का बसना आधारित है न वह सत्यता है। शासक को चाहिये कि आलस्य को कभी स्थान न दे और सदैव न्याय के लिये दरबार करे। ख. बादशाहत राजनीति द्वारा ही स्थिर रहती है। षेरशाह की प्रशासनिक प्रतिभा स्वयं उसी के मुख से लेखक ने इस प्रकार उद्धृत की है, हमारे परगने के सम्बन्धियों या कर्मचारियों में से किसी ने अत्याचार किया तो, यदि वह दण्ड के योग्य होगा तो मैं दण्ड दूंगा। इस ग्रन्थ में फरीद तथा सुलेमान के मध्य वैमनस्य, फरीद का बहार खां के पास जाना, और षेर खां की उपाधि ग्रहण

करना, बाबर द्वारा षेर खां की बुद्धिमत्ता से सतर्क रहने की अपने वजीर खलीफा को चेतावनी, आदि वर्णित है। षेरशाह ने यह लक्ष्य घोषित किया था, यदि मेरे भाग्य तथा वैभव ने सहायता की तो मैं मुगलों को हिन्दुस्तान से बड़ी सरलता से निकाल दूंगा। षेरवानी ने षेरशाह के विरुद्ध हुमायूँ की पराजय के कारणों को घटनाओं के साथ अत्यन्त स्पष्ट रूप से बतलाया है। उदाहरणार्थ जब हुमायूँ ने चुनार दुर्ग को प्रथम बार षेरशाह से विजित किया तब षेरशाह ने स्वयं को हुमायूँ का दास व दरबारी सेवक बतलाकर किसी अन्य के स्थान पर अपने ही स्वामित्व में ले लिया। दूसरी बार जब हुमायूँ ने चुनार दुर्ग व गौड़ अभियान दोनों में से किस कार्य को पहले करे इस प्रश्न का समाधान हुमायूँ के अफगान अमीर खाने ने चुनार विजय की प्राथमिकता के परामर्श से किया था। षेरशाह द्वारा रोहतास विजय, हुमायूँ को चौसा की रणभूमि में पराजय, तदन्तर आगरा गमन, षेरखाँ द्वारा सिंहासनारोहण के समय षेरशाह की उपाधि अंगीकार करना आदि भी क्रमानुसार वर्णित है। षेरशाह के प्रशासनिक सिद्धान्तों को उसी के मुख से इस प्रकार कहलाया गया है शबादशाह के वकील तथा प्रधानमंत्री को रिश्वत लेने वाला न होना चाहिये। उसने षेरशाह द्वारा दाग लगाने की प्रथा वर्णित की है उसने न केवल घोड़ों पर ही दाग लगाने की प्रथा को पुनः प्रारम्भ किया, अपितु बिना दाग लगाये किसी को वेतन न देता था, यहाँ तक कि स्वामिभक्त सेवकों और महल को वेष्याओं को दाग लगाये बिना कुछ न देता था। सैनिक का हुलिया तथा कोड़ों के निषान व रंग लिखे जाते थे। सैनिकों के नाम स्वयं अपने मुख से पुकारता था। षेरशाह द्वारा परगना शासन के अधिकारियों की नियुक्ति, उनके प्रति दो वर्ष उपरान्त स्थानान्तरण की नीति बनाने, प्रतिदिन सेना में वृद्धि तथा सदैव अपने साथ एक लाख पचास हजार की सवार, पच्चीस हजार पदाती तोड़ेदार बन्दूकची, रखने के भी वृत्तान्त हैं। षेरशाह ने मार्गों व

घाटों की सुरक्षा व्यवस्था की, चार लम्बे सड़क मार्ग निर्मित किये एवं 1700 सरायें बनवायी। यही नहीं, अपने कृषि प्रेम के अन्तर्गत वह स्वयं जमींदार खेतों का निरीक्षण करते थे, साथ ही कृषि उजाड़ने वाले सैनिकों को दण्ड देते थे। कृषि हानि की वह क्षतिपूर्ति भी करता था।

निश्कर्ष रूप में डा. निगम लिखते हैं, इस पुस्तक की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि लेखक ने घटनाओं की तिथियाँ नहीं दी हैं। परन्तु फिर भी बहुत सी घटनाओं की तिथियाँ अन्य पुस्तकों में मिल जाती हैं। लेखक ने यह पुस्तक तीन भागों में लिखने का विचार किया था और प्रत्येक भाग में कई अध्याय थे किन्तु हमको तृतीय भाग का प्रथम अध्याय, जो षेरशाह से सम्बन्धित है, मिलता है।

अब्बास खां षेरवानी लिखते हैं, अपने राज्य के शासन और कृषि कर के प्रत्येक काम को षेरशाह स्वयं ध्यान से देखता था चाहे वह काम छोटा हो या बड़ा। इलियट एवं डाउसन ग्रन्थ की भाषा पैली के सन्दर्भ में लिखते हैं, अभिव्यक्ति में भिन्नता नहीं है, सर्वत्र एक ही पैली है, सब सम्बन्धित व्यक्ति एक ही प्रकार से बात करते हैं। उनकी बातों में और लेखक के वृत्तान्त में एक ही जैसे शब्दों का बाहुल्य है जिससे थकान उत्पन्न होती है। ८

तवारीख-ए-दौलत-ए-षेरशाही

फारसी ग्रन्थ तवारीख-ए-दौलत-ए-षेरशाही का लेखक हसन अली खां षेरशाह का समकालीन तथा उसके घनिष्ठ मित्रों में से एक था। दो बार षेरशाह को मृत्यु के मुख से सुरक्षित निकालने वाले इस लेखक को षेरशाह ने अपने सिंहासनारोहण के समय ३ अमीर आस्मान शिकोष की उपाधि प्रदान की थी। लेखक इस्लामाबाद व अकबर के काल में भी कुछ समय जीवित रहा था, किन्तु उसके ग्रन्थ को पूर्ण अवस्था में प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस पुस्तक के दूसरे एवं छठे अध्याय की खोज 1921 ई. रफ़ूक विलियम्स ने की थी। इसके द्वितीय अध्याय का मूल पाठ मैडिगल इंडिया क्वालों के जुलाई 1950 ई. के अंक में प्रकाशित हुआ था। इसी अंक में रामप्रसाद त्रिपाठी द्वारा अनूदित छठा अध्याय भी प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ के उपलब्ध भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इसमें षेरशाह के पूर्वजों व उसके पिता द्वारा बाल्यकाल में उसके निश्कासन के विवरण से ही इतिहास लेखन आरम्भ किया गया। षेरशाह को शक्ति प्रदर्शन का उपासक बतलाकर आरम्भ से ही समय की गति को पहचानने वाला सिद्ध किया गया है। फरीद के जीवन की घटनाओं में उसका बहादुर खां लौहानी के पास वजीर पद पर नियुक्त होना, उसके पुत्र का गुलाम बनना,

बहादुर खां के जीवन को षेर से मुक्ति दिलाना और फिर उसका फरीद को षेर खां की उपाधि प्रदान करना, बाबर द्वारा उसे प्रीतिभोज में नियन्त्रित करना आदि का सविस्तार उल्लेख है। इसी प्रीतिभोज में मदिरोन्मत्त षेर खां ने यह घोशणा की थी, ईश्वर जो विश्वास करने वालों की शक्ति है, ने यदि चाहा तो मैं तैमूर वंश को भारतवर्ष की भूमि से निकालकर अफगानों के साम्राज्य को पुनः स्थापित करूंगा। लेखक ने दरीब के पद से स्वयं प्रशासिक सुधार किया व षेरशाह के प्रशासनिक सुधारों का इसलिए प्रामाणिक विवरण भी दिया। षेरशाह ने स्वयं अपने भतीजे द्वारा दस हजार टंके ही हेराफेरी पर उसकी सम्पत्ति की जब्ती व मृत्युदण्ड का आदेश भी दिया। षेरशाह द्वारा चुनार दुर्ग विजय व लाड मलिक से विवाह के समय लेखक उसके साथ था। षेरशाह ने माप-तौल के एक से बाँट व नियम ही नहीं बनाये थे, वरन् प्रत्येक उपभोक्ता वस्तु के भाव भी सुनिश्चित किये थे। उसके द्वारा मात्र दो चुगियों

भारत का इतिहास

के निर्धारण, भूमि कर के नवीन व्यवस्थापक एवं बेगार प्रथा की समाप्ति, हिन्दुओं को उच्च पदों पर नियुक्त करने मुख्यतया राजा टोडरमल व हेमराज को, कानून व्यवस्था के नियम, पृथक विभाग बनाकर यातायात नियमन करना, कैदियों की शिक्षा व नैतिक कल्याण के नियम बनाने, आदि वृत्तान्त इस ग्रन्थ में सविस्तार लिपिबद्ध है। डा. एस. बी. पी. निगम का मत है कि यद्यपि लेखक ने स्वयं को षेरशाह का उच्च पदस्थ दरबारी बतलाया है किन्तु तारीख-ए-षेरशाही में षेरवानी ने उसका नाम अमीरों की सूची में सम्मिलित नहीं किया है। डा. निगम का कथन है किन्तु तारीख-ए-दौलते – षेरशाही का सबसे बड़ा महत्व यह है कि उसके छठे अध्याय में षेरशाह द्वारा निर्गत सत्रह निर्गत सत्रह राजाज्ञाओं का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है जो षेरशाह के शासन प्रबन्ध के अध्ययन में सहायक हैं। डा. अतहर अब्बास रिजवी इस पुस्तक के मुख्य पृष्ठ की सत्यता पर संदेह व्यक्त करते हैं। डा. सिद्दीकी भी लिखते हैं, शयह ग्रन्थ सर्वथा अविश्वसनीय एवं कृत्रिम है जिसे किसी बाद के लेखक ने हसन अली खां के नाम से लिखा क्योंकि उस समय अफगानों के इतिहास की बड़ी मांग थी।

वाकियात-ए-मुप्ताकी

फारसी ग्रन्थ वाकियात-ए-मुप्ताकी के लेखक षेख रिजक उल्ला मुप्ताकी का जन्म 1491-92 ई. में हुआ था व मृत्यु 24 अप्रैल, 1581 ई. को हुई थी। डा. निगम का कथन है श्पुस्तक को पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि वाकियात-ए-मुप्ताकी एक कुंजी है। लेखक बहुत धीघ्रता से घटनाओं का उल्लेख करता है। इस ग्रन्थ में फरीद को षेर खाँ की उपाधि दरिया खां द्वारा इसलिए प्रदान करना वर्णित है कि उसने दौलत खां लौहानी द्वारा निश्फल अभियान को स्वयं सफल करके दिखाया था। गौड़ विजय के उपरान्त हुमायूँ का रंगरेलियाँ में लीन हो जाने व षेरशाह द्वारा विभिन्न दुर्गा में सैनिकों की नियुक्ति का विषय वर्णन है। षेरशाह के रणथम्भौर व कालिंजर अभियानों तथा सैनिकों का वेतन स्वयं निश्चित करने का इसमें विवरण है। डा. निगम लिखते हैं,

पुस्तक में यद्यपि इतिहास की अनेक घटनाओं का वर्णन किया गया है, फिर भी स्थान-स्थान पर उसने अनेक अद्भुत घटनाओं का भी उल्लेख किया है जिनपर विश्वास करना कठिन है। जहां तक षेरशाह के इतिहास का सम्बन्ध है, उसने यह वृत्तान्त बहुत संक्षिप्त दिया है यद्यपि वह षेरशाह का समकालीन था। उसने घटनाओं की तिथि देने की बिल्कुल परवाह नहीं की है। फिर भी, षेरशाह से सम्बन्धित अनेक नवीन तथ्यों का वर्णन इसमें किया गया है।

वाकियात-ए-मुप्ताकी से हमको इस्लामशाह और उसके उत्तराधिकारियों के विषय में भी ज्ञान प्राप्त होता है। इस्लामशाह की मृत्यु के पश्चात् किस प्रकार मोहम्मद आदिल शाह का पतन हुआ और पुनः भारतवर्ष में मुगलों का राज्य स्थापित हुआ, इस विषय में भी लेखक महत्वपूर्ण तथ्यों का वर्णन करता है।

तारीख-ए-फरिष्ता

डॉ. एस. बी. पी. निगम का कथन है, शतबकाते अकबरी की भाँति षेरशाह का इतिहास अधिकतर तारीख-ए-षेरशाही से लिया गया है किन्तु उसने तिथियों का वर्णन भी किया है। तारीख-ए-फरिष्ता का रचयिता मोहम्मद कासिम हिन्दूशाह फरिष्ता अस्ताराबादी था।

फरिष्ता ने षुलषन-ए-इब्राहीमी को जिसे त्तारीख-ए-फरिष्ता भी कहते हैं, इब्राहीम आदिलषाह को 1606-07 ई. में समर्पित की थी। इस इतिहास की रचना में फरिष्ता ने लगभग 35 ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन किया

और कुछ ऐसे ग्रन्थों का उपयोग किया जो सम्भवतरु तबकात-ए-अकबरी के लेखक निजामुद्दीन को उपलब्ध नहीं थे। डॉ. रिजवी ने लिखा है कि यह इतिहास एक प्रस्तावना तथा 12 खण्डों में विभाजित है

प्रस्तावना – मुसलमानों के राज्य के पूर्व के हिन्दू राज्यों का इतिहास

(प) लाहौर के गजनवियों का इतिहास, (पप) देहली के सुल्तानों का इतिहास, (पपप) दक्षिण के सुल्तानों का इतिहास छः भागों में— बहमनी, आदिलषाही, निजामषाही, कुतुबषाही, एमादषाही, बरीदषाही, (पअ) गुजरात, (अ) मालवा, (अप) बुरहानपुर, (अपप) बंगाल तथा जौनपुर के षर्को सुल्तान, (अपपप) सिन्ध, थट्टा तथा मुल्तान, (प•) सिन्ध के जमींदार, (•) कष्मीर, (•प) मालाबार, (•पप) हिन्दुस्तान के सूफी सन्त तथा हिन्दुस्तान का वर्णन ।

डा. रिजवी लिखते हैं कि फरिष्ता के इस इतिहास को मध्यकालीन भारतीय इतिहास में जो प्रसिद्धि प्राप्त हुई है वह किसी अन्य इतिहास को नहीं मिल सकी है और बहुत समय तक तो षोध सम्बन्धी कार्यों में केवल इसी ग्रन्थ का प्रयोग होता रहा। फरिष्ता अपने इतिहास की रचना षेरषाह के पितामह इब्राहीम के बहलोल लोदी के काल में आगमन से प्रारम्भ करता है। फरीद का जन्म हिसार (हरियाणा) जिले में हुआ। इसमें उसके पिता हसन का जौनपुर में जाना तथा सहसराम और ख्वासपुर, टोंड़ा आदि परगनों की जागीर प्राप्त करना फरीद का इन जागीरों का प्रबन्ध करना, हसन के पुत्र का वैमनस्य तथा फरीद का दौलत खाँ अमीर के यहाँ नौकरी करना आदि बातों का विवरण मिलता है। त्तारीख-ए-फरिष्ता में अन्य इतिहास की भाँति फरीद का बिहार में जाना, षेर खाँ की उपाधि प्राप्त करना, बाबर के पास जाना, चन्देरी के अभियान में बाबर के साथ रहना, उसकी बुद्धि परिचय का पता चल जाना, पुनः सुल्तान मुहम्मद नूहानी के पास चले जाना, जलाल खाँ का गुरु बन जाना, बंगाल के विरुद्ध युद्ध में विजय प्राप्त करना, चुनार के दुर्ग को प्राप्त करना रोहतास को प्राप्त करना आदि घटनाओं का भी विवरण मिलता है। षेरषाह के रायसीन, मारवाड़ व कालिंजर अभियानों का भी इसमें विवरण उपलब्ध

इलियट एवं डाउसन का कथन है, शून्य इतिहासकारों की भाँति अब्दुल्ला भी तिथियों के मामले में असावधान है तथा किस्से कहानियों को संग्रहित करने का बहुत ही षौकीन है जो कि बहुत कम महत्व की हैं। इलियट एवं डाउसन ने त्तारीख-ए-दाऊदी के उद्धरणों से यह निश्कर्ष निकाला है कि इसका रचयिता अब्दुल्ला था जिसने ग्रन्थ की रचना जहांगीर के राज्यरोहण के उपरान्त की थी। यह ग्रन्थ बाकियात-ए-मुष्ताकी, त्तारीख-ए-षेरषाही और तबकात-ए-अकबरी पर आधारित है। ग्रन्थ के विषय में स्वयं लेखक का कथन है, श्मैने बहलोल लोदी के षासन से, जो अफगान राजवंष का प्रथम सुल्तान था, यह ग्रन्थ षुरू किया और मोहम्मद अदलीसूर तथा दाऊदषाह तक जो इस वंष का अन्तिम षासक था, लाकर समाप्त किया और इसका नाम त्तारीख-ए-दाऊदी रखा। डॉ. एस. बी. पी. निगम लिखते हैं कि श्उसने षेरषाह से सम्बन्धित अनेक ऐसी घटनाओं और तथ्यों का उल्लेख किया है जो अन्यत्र नहीं मिलते। श् ग्रन्थ की सबसे बड़ी कमी यह खटकती है कि अब्दुल्ला

भारत का इतिहास

ने घटनाओं की तिथियों बहुत कम दी हैं तथा अनेक स्थानों पर ऐतिहासिक क्रम का ध्यान भी नहीं रखा है।

अब्दुल्ला ने षेरशाह के विवरणों फरीद द्वारा सुव्यवस्थित प्रबन्ध, सुलेमान का भागना, फिर सुलेमान का प्राप्त करना आदि प्रारम्भिक घटनाओं का विवरण दिया है। षेरशाह के राजत्व सिद्धान्तों में बादशाह को सर्वशक्तिमान मानने का उल्लेख किया गया है। साथ ही षेरशाह के दृष्टिकोण में मुगलों की दुर्बलताएँ इस प्रकार बतलायी गई, श्भुगलों को भारतवर्ष से बाहर निकालना अत्यन्त सरल है। बादशाह स्वयं शासन के कार्यों को बहुत कम देखता है। समस्त कार्य अमीरों एवं मन्त्रियों पर छोड़ रखे हैं। मंत्री रिश्वत की लालसा में सत्यतापूर्वक राजकीय कार्यों को नहीं करते। अफगानों की निर्बलताएँ भी षेरशाह के माध्यम से बतलाई गई हैं, श्अफगानों में यह दोष है कि वह परस्पर फूट रखते हैं। १ षेरशाह को मुस्लिम धर्मान्धता के क्षेत्र में तीन हिन्दुओं के दमन पर अब्दुल्ला प्रसन्नता व्यक्त करता है जिनमें पटना के समीप महारथ चेरु का राज्य, जोधपुर एवं रायसीन आदि थे। षेरशाह के चुनार, बंगाल व हुमायूँ के विरुद्ध सैन्य अभियानों के विवरणों के अतिरिक्त उसके प्रजा हितैशी कार्यों व असाधारण स्मृति की भी चर्चा की गई है। अश्व के दाग लगाने सम्बन्धी पत्र प्रस्तुत होते समय षेरशाह स्वयं उस पत्र की भाषा का नीरीक्षण करता था। एक धर्म सहिष्णु घटना के विवरण में अब्दुल्ला लिखत है कि एक बार एक ब्रह्मण हमीरपुर के समीप एक नदी में स्नान कर रहा था। षेरशाह ने उसको सत्य बोलने पर उसे उसका अपना ग्राम इनाम में दे दिया। अब्दुल्ला का कथन है कि अफगानों का इतिहास विविध ग्रंथों में बिखरा पड़ा था। अतः उसने समस्त अफगानों का हाल एक ही स्थान पर एकत्रित करने की दृष्टि से इस ग्रन्थ की रचना की। १२. तारीख—ए—षाही रु

अहमद यादगार ने इस फारसी ग्रन्थ की रचना दाऊद शाह—बिन—सुलेमान के आदेश से प्रारम्भ की थी, किन्तु यह जहाँगीर के शासनकाल में पूर्ण हुई थी। पुस्तक में षेरशाह के कुछ ऐसे छोटे—छोटे अभियानों का विवरण मिलता है जो अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। अहमद यादगार की सूचना के अनुसार षेरशाह ने भी मुहम्मद तुगलक की भांति तांबे की सांकेतिक मुद्रा चलाई, जो सफल हुई। षेरशाह के सैनिक अभियानों का विवरण भी दिया गया है, किन्तु अनेक युद्धों के कारणों व तिथिक्रम के विवरण में विसंगतियों का समावेश है। उदाहरणार्थ, अहमद यादगार के अनुसार षेरशाह — और महारथ जमींदार के बीच युद्ध प्यामसुन्दर नामक एक हाथी के कारण हुआ जबकि तथ्य—कुछ अन्य ही है। डॉ. एस. बी. पी. निगम का कथन है, श्ग्रन्थ में महान त्रुटियों भी हैं। उसने घटनाओं की तिथियाँ बहुत कम दी हैं और सुनी—सुनाई बातों पर अधिक विश्वास किया है। अन्य ऐतिहासिक तथ्यों पर संदेह होता है, किन्तु उसकी पुस्तक का सबसे बड़ा महत्व यह है कि उसने सभी अफगान शासकों के सामन्तों को सूची दी है जो किसी अन्य स्थान पर प्राप्त नहीं होती। १३. मआदने — अखबारे — अहमदी —

इस ग्रन्थ का रचयिता अहमद बिन बहबल जमात कम्बों था। डॉ. एस. बी. पी. निगम का कथन है, श्उसने इस ग्रन्थ की रचना जहाँगीर के समय 1614 ई. में समाप्त की। हजरत आदम से लेकर जहाँगीर के समय तक का इतिहास लेखक ने इस ग्रन्थ में संकलित किया है। षेरशाह का इतिहास तबकात—ए—अकबरी की भांति संक्षिप्त है, किन्तु उसने घटनाओं को क्रमानुसार लिखा है तथा घटनाओं की तिथियाँ भी दी हैं।

१४. मखजन-ए-अफगानी अथवा तारीख-ए- खानजहाँलोदी –

इन फारसी ग्रन्थ का रचयिता नियामतुल्ला जहाँगीर के दरबार का वाक्यानवीस था और उसने नवाब खानजहाँ लोदी की आज्ञा से 1640 हि. में यह ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। यह ग्रन्थ सुल्तान बहलोल लोदी के समय से आरम्भ होकर ख्वाजा उसमान की मरत्यू (1612-13 ई.) तक की जानकारी देता है जब अफगान जहाँगीर से पराभूत हो चुके थे। डॉ. एस. बी. पी. निगम का कथन है, इसमें अफगान जातियों की उत्पत्ति से लेकर लोदी तथा सूरवंश का इतिहास लिखा गया है। यद्यपि इस इतिहास के संकलन में लेखक ने बड़ा परिश्रम किया है किन्तु षेरशाह का वृष्टान्त संक्षिप्त मिलता है। डॉ. निगम के मतानुसार नियामत उल्लाह ने पुस्तक को सात भागों में लिखा है। साथ ही प्रस्तावना में अपनी सूचना स्रोतों के उल्लेख भी किये हैं। डॉ. के. आर. कानूनगो का कथन है शब्बास खां षेरवानी के ग्रन्थ का सारांश ही इस ग्रन्थ में सुरक्षित है, परन्तु अन्तिम प्रकरण मौलिक है। अफसानाएं षहान इस ग्रन्थ का रचयिता षेख मोहम्मद कबीर था। इस ग्रन्थ में 140 कहानियां हैं किन्तु सबसे अधिक संख्या में कहानियां षेरशाह से सम्बन्धित हैं। डॉ. कानूनगो इसको अविश्वसनीय बताते हैं एवं डॉ. आर. पी. त्रिपाठी भी इसे एक कहानियों, लोकगाथाओं तथा इतिहास का सम्मिश्रण मानते हैं। डॉ. एस. बी. पी. निगम का कथन है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक ने ऐतिहासिक घटनाओं को कमबद्ध नहीं लिखा है और यद्यपि पुस्तक के अन्त में इसका नाम तारीख-ए-अफगानी दिया गया है किन्तु यह इतिहास लिखने के सिद्धान्तों की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। फिर भी इतना मानना ही पड़ेगा कि षेख कबीर को षेरशाह के विषय में सूचना प्राप्त करने के बहुत अच्छे आधार प्राप्त थे, क्योंकि उसके पूर्वज षेरशाह के सेवक रह चुके थे। बिहार प्रदेश का निवासी होने के कारण वैसे भी स्थानीय घटनाओं को जानने के लिये उसके पास अच्छे साधन थे। उसने षेरशाह तथा बंगाल के शासकों के सम्बन्ध में तथ्य दिये हैं वे बहुत महत्वपूर्ण हैं और अन्य किसी पुस्तक में नहीं मिलते। युद्धों के वर्णन में आश्चर्यजनक कुशलता का परिचय दिया है। मेरा अपना मत यह है कि षेरशाह से सम्बन्धित बिहार और बंगाल के लिये यह इतिहास बहुत महत्वपूर्ण है, किन्तु पश्चिमोत्तर भारत की घटनाओं के लिये उसके द्वारा संकलित ऐतिहासिक सामग्री को सावधानी से उपयोग में लाने की आवश्यकता है।

अबुल फजल ने अकबरनामा की रचना बादशाह अकबर के आदेशानुसार की थी। अकबर ने उसे ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध करवाने के उद्देश्य से फरमान जारी किया था जिसके फलस्वरूप अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। अकबर ने शासन के 19वें वर्ष में षाकेआत नवीसी का आदेश भी जारी कर दिया था। इसके अतिरिक्त उस समय अभिलेख, फरमान, अमीरों के नाम पत्र तथा शासन सम्बन्धी अन्य पत्र भी अबुल फजल को प्राप्त थे। अतः उसके ग्रन्थ के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध थी, जिसे उसने घोर परिश्रम एवं वैज्ञानिक ढंग से अपने ग्रन्थ की रचना में प्रयोग किया। फारसी में रचित अकबरनामा के तीन भाग हैं। प्रथम भाग में तैमूर देश के इतिहास एवं बाबर, सूर सुल्तानों तथा हुमायूँ के शासन काल तक की घटनाओं का वर्णन किया गया है। अकबरनामा के दूसरे भाग में 1602 ई. तक के अकबर के काल के इतिहास का वर्णन किया गया है। बाबर के शासन काल की घटनाओं का वर्णन करते हुए उसने यह प्रयास किया कि जो घटनाएँ तुजुक ए बाबरी में वर्णित नहीं हैं उसमें तत्कालीन घटनाओं और इतिहास को सम्मिलित किया जाए। इसमें हुमायूँ व षेरशाह के मध्य युद्ध का भी विस्तार से उल्लेख है। अकबर के शासन काल का वर्णन करते हुए उसने अकबर के युद्धों, उसकी नीतियों, उनके कारणों तथा परिणामों पर विस्तृत रूप से प्रकाश

भारत का इतिहास

डाला है। इस कारण मुगलों के इतिहास को जानने के लिए अकबरनामा एक महत्वपूर्ण स्रोत है। वह अकबर को केवल एक बादशाह ही नहीं समझता था, वरन् वह उसे इन्साने कामिल तथा देवी प्रकाश अथवा नूर का अंश भी मानता था। उसे अकबर के प्रत्येक सुधार एवं कार्य में अच्छाई के हो दर्शन होते थे। यह अकबरनामा का सबसे बड़ा दोष है। इसके अतिरिक्त अकबरनामा की भाषा अत्यधिक अलंकार पूर्ण है; कुछ स्थलों पर अतिशयोक्तियाँ भी हैं। अकबरनामा का विप्लेशन करते हुए विन्सेन्ट स्मिथ लिखते हैं, अबुल फजल के ग्रन्थ में ऐतिहासिक सामग्री षाब्दिक अलंकार में छिपी हुई है। लेखक को बादशाह की प्रशंसा करते हुए झिझक नहीं होती। वह सत्य को छिपाता है और कभी-कभी जानबूझकर कुछ का कुछ कर देता है। उदाहरणार्थ, नामकरण की कहानी से जन्म की तिथि तथा असीरगढ़ दुर्ग की विजय का वृत्तान्त देना। अकबरनामा में सामाजिक इतिहास का कोई स्थान नहीं है। हम यह कह सकते हैं कि अकबरनामा किसी युग अथवा समाज का इतिहास न होकर प्रधानतया अकबर की ही कथा है। किन्तु यह ग्रन्थ अकबर काल के इतिहास के लिये एक आधार है। इसमें जो तिथियाँ दी गई हैं वह तबकाते अकबरी तथा शमुन्तखबुत्तवारीख की तुलना में कहीं अधिक विश्वनीय हैं। १७. आईन-ए-अकबरी

अबुल फजल द्वारा फरसी भाषा में रचित आईन-ए-अकबरी अकबरनामा का तीसरा भाग है। किन्तु इसने एक पृथक् ग्रन्थ का रूप धारण कर लिया। लेखक ने इस ग्रन्थ को पाँच खण्डों में विभक्त किया है। प्रत्येक खण्ड से पृथक्-पृथक् विषयों पर प्रकाश पड़ता है। इसमें अबुल फजल ने अकबर के राजनीतिक इतिहास को नहीं लिखा अपितु उसकी शासन व्यवस्था, उसके कानून, नियम आदि के बारे में लिखा है। इसमें बादशाह का खजाना, हरम, घुड़साल, मुद्रा व्यवस्था, दरबार के रीति-रिवाज, उत्सव, सैनिक व असैनिक अधिकारियों के पद व उनका वेतन, न्याय, लगान व्यवस्था, राज्य की आय और व्यय के साधन, दीन-ए-इलाही धर्म विदेशी आक्रमण, हिन्दू और मुस्लिम सन्त तथा विद्वान आदि के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन दिया है। अबुल फजल सम्भवतः भूगोल काल का पहला इतिहासकार था जिसने अत्यधिक विस्तारपूर्वक शासन व्यवस्था, संस्कृति तथा शासन सम्बन्धी आँकड़ों को प्रस्तुत किया है। अकबर के शासन काल को जानने का अमूल्य स्रोत-ए-अकबरी है।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

१८. तबकात-ए-अकबरी

ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद द्वारा अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ तबकात-ए-अकबरी की रचना अकबर शासन काल में की गई। इसने इस ग्रन्थ की रचना में अकबरनामा के अतिरिक्त 28 ऐतिहासिक ग्रन्थों की सामग्री एकत्रित की थी। लेखक द्वारा तबकात-ए-अकबरी को 9 खण्डों में विभाजित किया गया। निजामुद्दीन अपने ग्रन्थ के प्राक्कथन में लिखता है कि उसने इस ग्रन्थ में उन घटनाओं का विवरण दिया है जो हिन्दुस्तान में इस्लाम के आगमन अर्थात् 977 ई. से लेकर 1593 ई. तक घटीं। किन्तु उसके ग्रन्थ में 987 ई. से लेकर 1594 ई. तक का इतिहास उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में प्रान्तीय राज्यों के इतिहास में मालवा और गुजरात राज्यों का वर्णन विस्तृत रूप से दिया गया है। इतिहासकार फरिष्ता अपनी प्रसिद्ध पुस्तक शुलषने इब्राहीमी में लिखता है, शमैने बहुत ग्रन्थ पढ़े हैं, परन्तु मैं इसी ग्रन्थ (तबकात अकबरी) को पूर्ण मानता हूँ।

१९. मुन्तखब -उत- तवारीख अथवा तारीख-ए-बदायूनी

यह ग्रन्थ अब्दुल कादिर बदायूँ द्वारा रचित है जो अकबर के काल का अरबी, फारसी और संस्कृत भाषा का एक बड़ा विद्वान था यद्यपि बदायूँनी ने अपने ग्रन्थ को १ तबकात—ए—अकबरीश का संक्षिप्त संस्करण बताया है और प्रायः इसमें राजनीतिक घटनाएं तबकात—ए—अकबरी से ही उद्घाट की गई हैं, किन्तु उसके धार्मिक दृष्टिकोण एवं उसकी साहित्यिक कुशलता के कारण ग्रन्थ का अत्यधिक महत्व है। ग्रन्थ के तीन भाग हैं। बदायूँनी ने अकबर के धार्मिक विचारों और नीति की कटु आलोचना की थी इसी कारण उसने अपने ग्रन्थ के इस दूसरे भाग के इतिहास को तब तक छुपाकर रखा तब तक जहाँगीर बादशाह नहीं बन गया। उसके ग्रन्थ से अकबर के शासन के दूसरे पक्ष को जानने में सहायता मिलती है। अतः यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत है।

२०. तकमीले अकबरनामा

इस रचना के लेखक इनायत उल्ला खाँ हैं। डॉ. बेनी प्रसाद इसके सन्दर्भ में लिखते हैं कि सलीम के विद्रोह, अबुल फजल के वध, बंगाल में अफगान विद्रोह, दक्षिण का युद्ध, वीर सिंह देव का विद्रोह और अकबर की मृत्यु के बारे में इस ग्रन्थ से महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। यह ग्रन्थ मूल फारसी भाषा में रचित है जिसके कुछ अंशों का अनुवाद इलियट और डाउसन ने अपने ग्रन्थ के छठे भाग में प्रस्तुत किया है।

२१. मआसिर—उल—उमरा

व

इसके लेखक षमसुद्दीन शाहनवाज खाँ थे। यह रचना मुगलकालीन प्रमुख अमीरों के जीवन चरित्र का एक संकलित ग्रन्थ है। मुगल के शासकाल में प्रमुख अमीरों के जीवन से सम्बन्धित वृत्तान्त का इसमें विस्तार से उल्लेख किया गया है। हेनरी बेबरिज ने इसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है।

२२. तुजुक ए जहाँगीरी

डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना (मुगल सम्राट शाहजहाँ) जहाँगी की आत्मकथा के सन्दर्भ में वर्णित करते हैं, यह ग्रन्थ साहित्य और इतिहास दोनों दृष्टियों से एक मूल्यवान् सम्पदा है। इलियट एवं डाउसन अपने विषय ग्रन्थ शम्सेजवतल वफ़िकपंश के छठे भाग में तुजुक के सन्दर्भ में लिखते हैं, यह दुर्लभ ग्रन्थ है। न इसमें उन बातों का सरल और कुशल वर्ण है जिनको लेखक महत्वपूर्ण समझता है, पूरे ग्रन्थ को पढ़ने पर यह रोचक प्रतीत होता है। इसका रचयिता जहाँगीर को मान लिया जाने तो पता चलता है कि वह साधारण योग्यता का आदमी नहीं था। वह अपनी कमजोरियों और दोषों को स्पष्ट स्वीकार करता था। इस ग्रन्थ को पढ़ने से उसके चरित्र और उसकी बुद्धि के बारे में अच्छे विचार बनते हैं। इन्होंने विचारों के विपरीत डॉ. बेबरिज ने अपने पृथक मत व्यक्त किये हैं, कि जहाँगीर की आत्मकथा के महत्व के बारे में विचार करना व्यर्थ नहीं है, इसमें 17वीं शताब्दी में भारत के आरम्भिक दो दशकों का स्पष्ट और मार्मिक वर्णन किया है। यह अकबरनामा के एक सहायक ग्रन्थ के रूप में महत्वपूर्ण है। १

भारत का इतिहास

विशय-सामग्री – तुजुक –ए-जहाँगीरी सम्राट जहाँगीर के शासनकाल को जानने के लिए सन्दर्भ ग्रन्थ है। इससे हमें तत्कालीन शासन-प्रणाली, सम्राट के आदेशों, कानूनों, सम्राट की दिनचर्या सैन्य अभियानों, खुसरों, एवं महाबत खां विद्रोह का स्पष्ट विवरण मिलता है। नूरजहाँ के चरित्र, कूटनीतिक चातुर्य एवं नूरजहाँ जुन्ता का साम्राज्य पर प्रभाव, मुगल-राजपूत सम्बन्ध, एवं दरबारी गुटबन्दी के विषय में भी यह ग्रन्थ पर्याप्त जानकारी देता है। सम्राट जहाँगीर प्राकृतिक आपदाओं का वर्णन करते हुए अपने शासन के 12वें में वर्ष लिखता है, इस वर्ष हिन्दुस्तान के षहरों में महामारी फैल रही है जो पिछले वर्ष पंजाब के परगनों में प्रकट हुई थी, बढ़ते-बढ़ते लाहौर पहुँची, जिसमें बहुत से हिन्दू मारे गये, फिर सरहिन्द होकर दिल्ली में फैल गयी और उसकी तलहटी में बहुत से गाँव उजड़ गये। इस ग्रन्थ से सम्राट की शिकारी मनोवृत्ति का पता चलता है। एक बार जब शिकार पर था और एक षेर का पीछा कर रहा था तो नूरजहाँ के सम्बन्ध में अपनी आत्मकथा में लिखता है कि नूरजहाँ ने एक ही ऐसी गोली मारी कि षेर चित्त हो गया। १

कमियाँ- तुजुक ए जहाँगीरी सम्पूर्ण रूप से सम्राट जहाँगीर की आत्मकथा स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि सम्राट ने केवल शासन के 17वें वर्ष तक की घटनाओं को ही स्वयं लिखा था और स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण 18वें तथा 19वें वर्ष तक की घटनाओं की विवरण मोतमिद खां द्वारा लिखवाया गया। उसने केवल अपने ग्रन्थ में प्रिय लगने वाली घटनाओं का ही जिक्र किया है। उसने अपने विद्रोह का (षहजादा काल के), षेर अफगन की मृत्यु का एवं नूरजहाँ के आरम्भिक जीवन का कोई विवरण नहीं छोड़ा है। डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना लिखते हैं, शजब राजकुमार विद्रोही हो गया तब उसके प्रति जहाँगीर का रुख बदल गया और उसने षाहजहाँ को ओजपूर्ण उपाधियों के बजाय शबेदौलत या ष भाग्यहीन कहना षुरु कर दिया।

समीक्षा – इलियट एवं डाउसन का मत है कि सम्राट जहाँगीर ने अपनी कमजोरियों तथा दोषों को निर्भीक रूप से स्वीकार किया है, अतः यह दुर्लभ ग्रन्थ है। डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना का मत है, श्यह ग्रन्थ चित्ताकर्षक और हमारे विश से अत्यधिक सन्दर्भित है।

ग्रन्थ के अनुवाद – फारसी भाषा के इस मूल ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद अलेक्जेंडर रोजर्स ने किया एवं इसी को संशोधित कर हेनरी बेवरीज ने सम्पादित किया। मुन्षी देवी प्रसाद ने हिन्दी भाषा में जहाँगीरनामा में इस ग्रन्थ का संक्षिप्त अनुवाद प्रस्तुत किया एवं इलियट और डाउसन ने भी शम्सेजवतल वण्दिकण्श के छले भाग में इसके कुछ अंशों का अनुवाद किया।

२३. इकबालनामा-ए-जहाँगीर –

इस ग्रन्थ का रचनाकार मोतमिद खा था। जो मुहम्मद षरीफ के नाम से प्रसिद्ध था। कुछ नवीन बातों को छोड़कर जहाँगीर के शासनकाल के 19वें वर्ष तक की घटनाओं का विवरण तुजुक –ए-जहाँगीरी से लिया गया है।

इलियट एवं डाउसन का कथन है, इकबालनामा तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग में खाकान राजवंश का इतिहास है जिसमें बाबर और हुमायूँ का शासन सम्मिलित है, दूसरे भाग में अकबर का शासन है और तीसरे में जहाँगीर का। ख तीसरे भाग में जहाँगीर का समस्त शासन दिया हुआ

है। ९

ग्रन्थ में महावत खाँ के विद्रोह एवं उसके चंगुल से सम्राट के निकलने; नूरजहाँ के व्यापक प्रभाव का उल्लेख है। उसने नूरजहाँ की आलोचना करने में भी कोई संकोच नहीं किया। इस ग्रन्थ में कुछ त्रुटियाँ भी हैं जिनमें उसका सम्राट से व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क एवं उसके (सम्राट) उज्ज्वल पक्ष का वर्णन प्रमुख रूप से उल्लेख्य है। डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना का कथन है, शमोतमिद खाँ साहित्यिक चोरी का अधिक दोशी दिखाई पड़ता है। उसने तो तुजुक ए-जहाँगीर का वस्तुतः छायांनुवाद की किया है। १९

इलियट एवं डाउसन का कथन है, इस देश के आलोचकों में इस ग्रन्थ का स्थान ऊँचा नहीं माना जाता, परन्तु दूसरे भाग से अधिक कोई पुस्तक प्रचलित नहीं है। इस शासन में लेखक बहुत ऊँचे पदों पर था और बड़े-बड़े कामों में उसका हाथ था, इसलिए हमको मानना चाहिए कि यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। २०

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

२४. बादशाह नामा अथवा पादशाह नामा

इस ग्रन्थ का रचनाकार मिर्जा अमीना कजवीनी था जो अफजल खाँ के संरक्षण में था। शाहजहाँ के शासनकाल के इतिहास को लिखने वाले दरबारी इतिहासकारों में मुहम्मद अमीन कजवीनी का नाम सर्वप्रथम आता है। कजवीनी स्वयं लिखता है कि शाहजहाँ ने अपने शासन के आठवें वर्ष में उसको विधिवत् ढंग से इतिहास लिखने का आदेश दिया। रचनाकार ने इस ग्रन्थ को तीन भागों में विभक्त किया है। इस ग्रन्थ में शाहजहाँ के शासनकाल के अतिरिक्त दस वर्षों का इतिहास वर्णित है। प्रथम भाग में शाहजहाँ की बाल्यावस्था से लेकर उसके सिंहासनारोहण तक के इतिहास का विवरण प्राप्त होता है। द्वितीय भाग में सम्राट के आरम्भिक दस वर्षों का इतिहास है तथा तृतीय भाग विवरण प्राप्त होता है। द्वितीय भाग में सम्राट के आरम्भिक दस वर्षों का इतिहास है तथा तृतीय भाग में लेखक के समकालीन विद्वानों, साधु-सन्तों, फकीरों आदि की सूची प्राप्त होती है। उसकी लेखन शैली परम्परागत फारसी शैली है। उसने सम्राट के प्रति उदारता बरती है। शाहजहाँ द्वारा किये गये विद्रोह का पूर्ण दोशारोपण लेखक नूरजहाँ पर डालता है। नूरजहाँ की कड़ी आलोचना करते हुए उसने शाहजहाँ के विद्रोह को वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से किया है। यह ग्रन्थ पक्षपातपूर्ण है किन्तु डॉ. बनारसी प्रसाद के शब्दों में शाहजहाँ की आरम्भिक शिक्षा तथा उसके शासन काल के आरम्भिक दस वर्षों की घटनाओं के लिए यह रचना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। २

२५. बादशाहनामा अथवा पादशाहनामा

शाहजहाँ ने जब मुहम्मद अमीन कजवीनी को इतिहास लेखन के उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया तब उसने अब्दुल हमीद लाहौरी को यह उत्तरदायित्व सौंपा। उसने उक्त ग्रन्थ में सम्राट के आरम्भिक दस वर्षों का इतिहास दो खण्डों में विभक्त कर लिखा है। प्रथम खण्ड में उसने अपने बारे में संक्षिप्त परिचय दिया और शाहजहाँ की जन्मपत्री से लेकर सिंहासनारोहण तक की घटनाओं का वर्णन है। इस ग्रन्थ का दूसरा भाग महत्वपूर्ण है जिसमें शाहजहाँ के शासनकाल के दसवें वर्ष से लेकर बीसवें वर्ष तक की घटनाओं का वर्णन है। मूल रचना में लगभग सोलह सौ बासठ पृष्ठ हैं। इसमें शाहजहाँ के दैनिक कम

भारत का इतिहास

की छोटी गतिविधियों का भी वर्णन आता है। मुन्तखाब— उत्त— तवारीख के लेखक खांफी खाँ ने अपने ग्रन्थ षाहजहाँ के शासनकाल के पहले बीस वर्षों के इतिहास का जो विवरण दिया है वह लाहौरी की रचना पर ही आधारित है।

२६. बादशाहनामा अथवा पादशाहनामा

जब अब्दुल हमीद लाहौरी वृद्ध हो गया तो उसने उक्त ग्रन्थ के लेखन का उत्तरदायित्व अपने शिष्य मुहम्मद वारिस को सौंपा। वारिस ने षाहजहाँ के शासनकाल के अन्तिम दस वर्षों के इतिहास को वर्णित किया है। वारिस ने भी एक दरबारी लेखक के रूप में इस कार्य को सम्पन्न किया था जिसमें उसे उस काल की राजनीतिक घटनाओं की प्रत्यक्ष जानकारी थी और उन्हें जानने के लिये सभी साधन उपलब्ध भी थे। इसी कारण तिथिक्रम और घटनाओं के वर्णन के लिए यह अति महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। मुहम्मद वारिस ने जब अपना लेखन कार्य पूर्ण किया तो उसकी यह रचना पुनरावलोकन हेतु अला—उल—मुल्कतूरी के पास सम्राट औरंगजेब के आदेशानुसार भेजी गयी। इस कारण इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि औरंगजेब से सम्बन्धित अप्रिय वस्तुतः को रचना से निकाल दिया गया हो। डॉ. बारसी प्रसाद के शब्दों में, षाहजहाँ के समय में निर्मित

भवनों का वर्णन उसने बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

२७. षाहजहाँनामा —

यह ग्रन्थ मुहम्मद सादिक द्वारा रचित है। लेखक दरबारी इतिहासकार नहीं था तथा किसी अन्य व्यक्ति को प्रसन्न करने के लिए भी उसने उक्त ग्रन्थ की रचना नहीं की, इस कारण ग्रन्थ का महत्व बढ़ जाता है। जहाँगीर की मृत्यु से लेकर औरंगजेब के काल में षाहजहाँ को बन्दी बनाये जाने तक की घटनाओं का विवरण उक्त ग्रन्थ प्रस्तुत करता है। डॉ. बनारसी प्रसाद लिखते हैं, 'यद्यपि मुहम्मद सादिक षाहजहाँ के प्रति कुछ उदार है परन्तु फिर भी घटनाओं के प्रस्तुतीकरण में वह अधिक न्यायपूर्ण है। आवश्यकता पड़ने पर वह आलोचना भी करता है और अप्रिय घटनाओं के उल्लेख में भी संकोच नहीं करता है।'

२८. मुलाख खास

इस ग्रन्थ के रचनाकार मुहम्मद ताहिर हैं जिसने ग्रन्थ में षाहजहाँ के शासनकाल के तीस वर्षों का इतिहास वर्णित किया है। षाहजहाँ के प्रति अति उदार होने के कारण उसकी अनेक अप्रिय गतिविधियाँ जैसे खुसरो का वध, अपने पिता के विद्रोह के पूर्व की गई मांग आदि का वर्णन लेखक ने नहीं किया।

२९. तजकिरत — उल — मुलुक

इस ग्रन्थ का लेखक रफीउद्दीन शिराजी था जो 1559 ई. में भारत आया था। शिराजी गुजरात, दिल्ली की यात्रा के पश्चात् अपने चचेरे भाई अफजल खाँ के पास बीजापुर चला गया जो अली आदिलशाह के दरबार के महत्वपूर्ण पद पर कार्यरत था। शिराजी बीजापुर में उन्नति करता हुआ अन्त में सूबेदार के पद तक पहुँच गया। यद्यपि लेखक ने अपना लेखन पूर्ण रूप से बीजापुर तक ही सीमित रखा, किन्तु मुगल और फारस के सफवी शासकों पर भी

इस ग्रन्थ से प्रकाश पड़ता है। गोलकुण्डा, अहमदनगर और गुजरात के बारे में भी यह ग्रन्थ जानकारी उपलब्ध कराता है। मलिक अम्बर के बारे में जानकारी उपलब्ध कराने वाला यह एकमात्र ग्रन्थ है। मुगल शासकों की दक्षिण भारत में गतिविधियों के बारे में जानकारी उपलब्ध कराने से ग्रन्थ का महत्व बढ़ जाता है।

३०. फुतुहात-ए-आदिलशाही

इस ग्रन्थ का लेखक फिजुनी अस्त्रावादी का निवास था। लेखक को मोहम्मद आदिलशाह के दरबार में संरक्षण प्राप्त था। इस रचना से इब्राहीम आदिलशाह और मोहम्मद आदिलशाह के आरम्भिक समय के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है जो अन्य रचनाओं में उपलब्ध नहीं है। मुगल शासक दक्षिण भारत में किस उद्देश्य को लेकर कार्य करते थे यह जानकारी उक्त ग्रन्थ से प्राप्त होती है। बीजापुर और मुगल शासकों के 1646 ई. तक आपसी सम्बन्धों का विवरण इस ग्रन्थ से उपलब्ध होता है।

३१. हकीकत-उल-आलम

इस ग्रन्थ से कुतुबशाही वंश के इतिहास की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। इसका रचनाकार राजीउद्दीन मूसावी मीर आलम था। औरंगजेब द्वारा गोलकुण्डा को अपने नियन्त्रण में लिये जाने तक की घटनाओं का विवरण ग्रन्थ प्रस्तुत करता है। लेखक औरंगजेब की आलोचना करते हुए लिखता है कि मुगल साम्राज्य के ऐश्वर्य में इससे तनिक भी वर्द्धि नहीं हुई और मुगल साम्राज्य इससे कमजोर हुआ और मराठा शक्ति का इससे विस्तार हुआ।

३२. मुन्तखाब-उल-लुवाब अथवा तारीख-ए-खाफी खां

इस ग्रन्थ का रचनाकार हाशिम खाफी खां जिसने इस ग्रन्थ को मुगल वंश के संस्थापक बाबर के आक्रमण से प्रारम्भ कर मुगल सम्राट मोहम्मदशाह के शासनकाल के पन्द्रहवें वर्ष के वर्णन के साथ समाप्त किया है। इसलिए डाउसन इस ग्रन्थ को मुगल वंश का इतिहास कहकर पुकारते हैं। यह ग्रन्थ औरंगजेब के शासन काल का विषय वर्णन प्रस्तुत करता है।

चूँकि खाफी खां एक शिया था, अतः उसका शिया अमीरों के प्रति पक्षपाती वर्णन है। उसने प्रथम निजाम की इतनी प्रशंसा की कि उसे 'निजाम-उल-मुल्की' कहकर लोग उसका उपहास करते हैं। उसने मुगल साम्राज्य के पतन के कारणों पर प्रकाश नहीं डाला है। फरुखसियर की हत्या का कारण बताता है कि सम्राट ने बन्दीगिरह से भागने की कोशिश की, इसलिए सम्राट सैयद बन्धुओं द्वारा मारा गया। खाफी खां शिवाजी को विद्रोही मानता था और उनपर अफजल खाँ को छल से हत्या करने का दोष मढ़ता है। सर जदुनाथ सरकार के मतानुसार खाँ की छल से हत्या करने का दोष मढ़ता है। सर जदुनाथ सरकार के मतानुसार खाफी खाँ एक इतिहासकार के रूप में ऊँचे आदर्शों की पूर्ति करता है। वह अपने कार्यों के प्रति सजग है।

३३. नुस्ख-ए-दिलकुषा -

भारत का इतिहास

उक्त ग्रन्थ इतिहासकार भीमसेन द्वारा फारसी भाषा में लिखा है जो औरंगजेब के शासन काल के लिए विषिष्ट ग्रन्थ है। सर जदुनाथ सरकार ने भीमसेन को षहान् संस्मरण हिन्दू लेखक माना

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

भीमसेन मुगल सेना में क्लर्क के पद पर कार्यरत था, इस कारण वह मुगल सम्राटों के दरबारी इतिहासकारों की बुराइयों से कोसों दूर है। सबसे बड़ी उसकी विशेषता यह है कि उसके दक्षिण के मुगलों का युद्ध वर्णन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना आधुनिक यूरोप की एक प्रत्यक्षदर्शी रिपोर्ट। उक्त ग्रन्थ से हमें मराठा इतिहास व शिवाजी के बारे में भी जानकारी उपलब्ध होती है। लेखक ने औरंगजेब के शासन की एक तटस्थ व्यक्ति की भाँति देखा और घटनाओं के कारण परिणामों का सटीक वर्णन प्रस्तुत किया।

वह पूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन में उपलब्ध है। इस ग्रन्थ की एक अपूर्ण प्रति इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लंदन में भी है। सर्वप्रथम इस ग्रन्थ के एक अंश का अंग्रेजी में अनुवाद स्काट की शिस्ट्री ऑफ दी डेकनश में सन् 1794 ई. में प्रकाशित हुआ था।

यात्रा वृत्तान्त

अलबरूनी

मूर्धन्य तुर्की विद्वान अलबरूनी भारत में आने वाले पर्यटकों में से प्रथम था जो ख्वारिज्म से महमूद गजनवी के साथ भारत आया था। उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ तारीख –उल–हिन्द (अलबरूनी का भारत ७) नाम से विख्यात है। सचऊ द्वारा इसे अंग्रेजी में अनुदित किया गया है।

इब्नबतूता

तुगलक वंश के इतिहास को जानने का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन इब्नबतूता है जो शिहाला के नाम से विख्यात है। इसका अंग्रेजी में अनुवाद ली और गिब्स ने किया।

मार्कोपोली का यात्रा वृत्तान्त

इस विश्वविख्यात पर्यटक ने 13वीं शताब्दी में भारत का भ्रमण किया और जो कुछ देखा उसका वृत्तान्त एक पुस्तक के रूप में लिखा। उसके वर्णन में ब्यौरे की बातों की कमी है, फिर भी इस युग के इतिहास के लिए उसका महत्व है।

सम्राट अकबर के दरबार में गोआ से भेजे गये प्रथम ईसाई मिशन में एक सदस्य के रूप में कादर मोनसरेट भी गया था। 1580 ई. से 1582 ई. तक वह सम्राट के दरबार में रहा। उसने अपने प्रवास के दौरान वहाँ की शासन व्यवस्था, सलीम के आरम्भिक जीवन के बारे में व अकबर के बारे में जो कुछ भी देखा, उसे लिपिबद्ध किया। इसका वृत्तान्त अकबर व जहाँगीर के शासन कार्य के बारे में पर्याप्त ज्ञान कराता है।

विलियम हाकिन्स –

विलियम हाकिन्स 1607 ई. में सूरत पहुंचा और 1612 ई. तक वह भारत में ही रहा। उसने जहांगीर के शासन काल का विवरण प्रस्तुत किया है। जहांगीर के साथ आयोजित नौरोज का उत्सव, सम्राट का तुलादान, दरबारी व्यवस्था, जहांगीर का दैनिक जीवन आदि के बारे में हाकिन्स विद्वत्तापूर्ण विवरण देता है।

यह एक जर्मन यात्री था। 1638 ई. में वह भारत आया और 1639 ई. में सूरत से स्वदेश के लिए प्रस्थान किया और डोवर पहुंचा। इस वर्ष एक वर्ष के अल्प समय में उसने अहमदाबाद, खम्भात, आगरा, लाहौर आदि की यात्रा की। उसने अपने यात्रा विवरण में मुगल प्रशासन का सविस्तार उल्लेख किया है, किन्तु इसमें बहुत सा वर्णन काल्पनिक है। शाहजहाँ के शासन काल के सांस्कृतिक जीवन की झांकी हमें इसी ग्रन्थ से मिलती है।

पीटर मंडी

यह 1628 ई. में सूरत आया और लगभग 8 वर्ष तक भारत में रहा। उसके वर्णन से हमें हिन्दुओं के सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक रीति-रिवाज की झलक मिलती है। उसने शाहजहाँ के काल

की महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का भी उल्लेख किया है जैसे कि शाहजहाँ का दक्षिण अभियान, महाबत खां की दौलताबाद विजय, शाहजहाँ के शासक बनने से पूर्व की घटनाएँ आदि। मैनरीक

मैनरीक पुर्तगाल के अपोर्ग नगर का निवासी था जो 1629 ई. में बंगाल आया और उसने लगभग 6 वर्ष आराकान में व्यतीत किये। छूटीनेरेरियो नामक अपने ग्रन्थ में यद्यपि उसने आराकान का विस्तारित उल्लेख किया है तदपि उसने उत्तरी भारत की आर्थिक स्थिति और सामाजिक जीवन का विवरण प्रस्तुत किया है वह प्रशंसनीय है।

डॉ. बी. पी. सक्सेना अपनी पुस्तक मुगल सम्राट शाहजहाँ बर्नियर के विवरण सबसे से अधिक लोकप्रिय है। यह उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति व्यक्ति था और इसमें अन्वेषण की पैनी सामर्थ्य थी। इसका पूरा नाम था फ्रेंक्वीएस बर्नियर। दर्शनशास्त्र, चिकित्सा शास्त्र और अन्य विभिन्न विषयों पर उसको पूर्ण अधिकार प्राप्त था। २8 वर्ष की आयु में बर्नियर ने सूरत आकर भारत का भ्रमण प्रारम्भ किया। 1669 ई. तक उसने भारतवर्ष के विभिन्न अंचलों का भ्रमण किया। 1670 ई. में उसने अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया। 1688 ई. में उसका देहावसान हो गया।

(प) बर्नियर के सूचना स्रोत – दिल्ली के दरबार का एक प्रमुख मनसबदार दानिषमन्द खाँ बर्नियर का पोशक था। अपनी वार्ता में यदा कदा उसने संसूचन के स्रोत का हवाला दिया। धर्मत के युद्ध का हाल उसकी औरंगजेब के तोपखाने के एक फांसीसी कर्मचारी ने बताया, भुजा की अन्तिम दशा का विवरण उसने उन पुर्तगालियों, मुसलमानों और डचों से प्राप्त किया जो बंगाल में उपस्थित थे। मुगलशाही हरम का वर्णन उसको ख्वाजा सराओं की साक्षी से प्राप्त हुआ। इस प्रकार उसने स्वयं ही यह स्वीकार कर लिया है कि संसूचना प्राप्ति हेतु उसने अनेक स्रोतों की सहायता ली है। डॉ. बी. पी. सक्सेना लिखते हैं, श्रुत्यन्त सुसम्भ्य होने के फलस्वरूप वह वास्तविक को आदर्श से पृथक् न कर सका। इसका उदाहरण मुगल प्रान्तपतियों के अत्याचारों का वाक्पद वर्णन तथा निरंकुश शासन के दोषों की व्यवस्था है।

भारत का इतिहास

इस प्रकार वह ऐसे निश्कर्ष पर पहुंच गया है कि जिसकी संपुष्टि अन्य समसायिक लेखकों द्वारा नहीं होती।

(पप) विभिन्न वृत्तान्तों का विवरण— षाहजहाँ के पुत्रों में उत्तराधिकार सघर्ष का वर्णन बड़ा सजीव हुआ है। बर्नियर लिखता है कि षाहजहाँ वस्तुतः दारा का बन्दी था। कैदी दारा व सपरषिकोह को दिल्ली की सड़कों पर घुमाने के वेदनापूर्ण दृष्य का मार्मिक विवरण किया गया है।

उसने यह भी लिखा है कि औरंगजेब ने आगरा के किले में बन्दी षाहजहाँ को पूरी छूट दे रखी थी, किन्तु मनुची ने इस कथन का खण्डन किया है। बर्नियर ने दारा व सुलेमान षिकोह के जीवन के अन्तिम दृष्यों को स्वयं आँखों से देखा था।

(पपप) औरंगजेब का चरित्र चित्रण— बर्नियर लिखता है, औरंगजेब में दारा के समान शिष्टता तथा भद्रतापूर्ण आचार-विचारों का अभाव था किन्तु उसमें निर्णय लेने की अद्भुत क्षमता थी तथा अपने सहायकों एवं हितैशियों का चुनाव करने में उसकी नजर बड़ी पैनी थी। वह गम्भीर तथा चालाक था तथा अपने विचारों एवं योजनाओं को गुप्त रखने में अत्यन्त निपुण था। बहुत बीमार होने पर भी औरंगजेब राजकार्य में व्यस्त रहा और यह देखता रहा कि उसका पिता सुरक्षित रूप से बन्द है या नहीं। उसने सुल्तान मुअज्जम को सलाह दी कि बादशाह को जेल से मुक्त करा दिया जाए, परन्तु वह ऐतबार खां को निरन्तर पत्र लिखता रहा कि वह अपना कर्तव्य स्वामिभक्ति और कठोरता से साथ निभाए। औरंगजेब अपनी रूग्णावस्था में भी जानबूझकर इसलिए दरबार लगाता था कि उसे नाजुक अवस्था में जानकर लोग उपद्रवी न हो जाएं। औरंगजेब अपने कर्तव्य पालन को आराम से अधिक महत्व देता था व बादशाही का प्रमुख गुण न्याय व कर्तव्य पालन को मानता था।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

औरंगजेब की न्याय व्यवस्था — बर्नियर लिखता है, शफरियादियों के प्रार्थना पत्र दरबार के बड़े कमरे में बादशाह के सामने प्रस्तुत किये जाते थे और उसके सामने पढ़े जाते थे। बादशाह स्वयं ऐसे शरियादियों से पूछताछ करता था और प्रायः वहीं पर ही पीड़ित व्यक्तियों की शिकायतों को दूर कर देता था। सप्ताह के छः दिन दो मुख्य काजियों के साथ वह अपने न्यायालय में बैठकर न्याय करता था।

(अ) औरंगजेबकालीन भारतवर्ष की स्थिति — डॉ. बी. पी. सक्सेना (वही. ब) का कथन है, मुगलों की सामरिक व्यवस्था से सम्बन्धित उसके विचार बिल्कुल सही हैं, किन्तु मुगल सैनिक संख्या के बारे में उसके बयान विश्वसनीय नहीं। श्रद्धा, आगरा और कश्मीर का उसका वर्णन चित्ताकर्षक हैं। आधुनिक इतिहासकारों ने भारत की आर्थिक दशा के विप्लव में बर्नियर का भरपूर सहारा लिया है। इनके विचार विशेष रूप से उस पत्र से प्रभावित हैं जो बर्नियर ने कोबर्ट को लिखा था और जिसमें उसने विभिन्न विषयों का उल्लेख किया है, जैसे भारत की भौगोलिक दशा, मुद्रा का लय हो जाना, यहाँ के साधन तथा न्याय पद्धति इत्यादि। डॉ. बी. पी. सक्सेना (वही व, भ) का कथन है, श्राव्य तो यह है कि एक ओर तो वह सम्पन्नता का उल्लेख करता है और दूसरी ओर व्यापार की मन्दगति की भी आलोचना करता है जबकि वस्तुतः इस समय व्यापार अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया

था। बर्नियर ने आकरा और दिल्ली के बाजारों, अमीरों व गरीबों के निवास स्थानों तथा अन्य षाही इमारतों का विवरण प्रस्तुत किया है। बर्नियर के अनुसार इन नगरों की इमारतें पाष्चात्य देशों की तुलना में किसी भी प्रकार

में किसी भी प्रकार से कम नहीं हैं। इसके अतिरिक्त उसने यहाँ के षिल्पों, कलाकारों, त्यौहारों, मनोरंजन के साधनों, लोगों की वेष-भूषा आदि का भी वर्णन किया है। उसने आगरा के जैसूइट चर्चा तथा कॉलेजों, डच कारखानों आदि का विवरण दिया है। उसने यातायात की व्यवस्था पर भी प्रकाष डाला है।

बर्नियर ने हिन्दू समाज का भी चित्रण किया है। वह लिखता है कि ब्राह्मण अन्धविश्वास एवं भ्रान्तियों को बढ़ावा देते हैं जिसके कारण उनकी सम्पन्नता बनी रहती है। उसने सती प्रथा तथा जगन्नाथ की मूर्ति से अबोध लड़कियों के विवाह की प्रथा का भी वर्णन किया है, जिसका लाभ बराबर पुजारी लोग उठाया करते थे। राजपूतों के सन्दर्भ में बर्नियर का कहना है कि राजपूतों को षस्त्र षिक्षा पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त होती थी। उनके राजाओं द्वारा उन्हें भू-अनुदान प्रदान किए जाते थे। उन्हें बचपन से ही अफीम खाने लग जाता है। बर्नियर इस देश के घुड़सवारों से बड़ा प्रभावित था। वह लिखता है कि शइससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस देश में घुड़सवारों, तीरन्दाजों का कार् संचालन अत्यन्त सहज है, तीर छोड़ने में उनकी गति आष्चर्यजनक है। इतनी देर में एक बन्दूकधारी दो बार बन्दूक दागता

3

घुड़सवार छः तीर छोड़ देता है।

बर्नियर भारत के निर्यात होने योग्य उपभोक्ता भण्डार का विवरण देता है। निर्यात से प्राप्त स्वर्ण व रजत राषि की तुलना में यहाँ आयात कम होने से इस राषि का निष्कासन नहीं होता था। कृषि उत्पादन के अत्यधिक करारोपण एवं षोशण से त्रस्त कृषक प्रायः अन्यत्र कृषिदास अथवा सैनिक बन जाते थे। दिल्ली के समीपवर्ती क्षेत्रों के अत्यधिक उर्वरा होने से मक्का, दाल, चावल, गेहूँ आदि का प्रचुर उत्पादन होता था। आभूषणप्रियता के कारण भारतवर्ष में स्वर्ण रजत को विनिमय का माध्यम अन्तर्देशीय व्यापार में कम ही बनाया जाता था। साथ ही भारतीयों का सामान्य जीवन स्तर भी अपेक्षकष्ट निम्न था। ष्टद्योग धन्धों के अन्तर्गत बर्नियर ने षाही कारखानों में वस्त्रों की कषीदाकारी, रंगाई व छपाई— तथा कारीगरों की दयनीय अवस्था का सजीव चित्रण किया है। कष्मीर के ष्टोन्ज षालों व मछलीपट्टनम् की आकर्षक छींट का व्यवसाय अत्यधिक उन्नत अवस्था में था। (अप) अमीरों की स्थिति — मुगल अमीरों को ऊँची उपलब्धियाँ, मनसब व उच्च वेतन प्राप्त होते थे। वे षाही सेवा में तल्लीन थे, उनका व्यक्तिगत जीवन विलासप्रिय था। डॉ. अतहर अली

ने बर्नियर के विवरण को अपने ग्रन्थ ष्ट मनसबदार्स ऑफ औरंगजेब में प्रचुर मात्र में प्रयुक्त किया है।

(अपप) चरित्र चित्रण — बर्नियर ने षाहजहां की सन्तानों का चरित्र व्यक्तिगत निरीक्षण से आंका है। दारा षिकोह के विशय में वह लिखता है, श्दारा में अच्छे गुणों का अभाव नहीं था। वह बड़ा ही विनम्र तथा उदार था, परन्तु वह अपने आपको बहुत ऊँचा समझता था। श षुजा शड़यंत्र रचने में काफी निपुण था तथा वह प्रमुख अमीरों की मित्रता प्राप्त करने की

भारत का इतिहास

विधि जानता था। परन्तु वह वासनाओं का दास था, वह अनेक दिनों तक स्त्रियों के साथ संगीत, नृत्य और सुरापान में संलग्न रहता था। शमुराद आमोद-प्रमोद, षिकार तथा निषानेबाजी का शौकीन था वह अपने तीन भाइयों से हर दृष्टि में निम्नतर था। परन्तु वह उदार, विनम्र तथा साहसी था।

जहाँआरा बेगम अपने पिता की अत्यन्त दुलारी सन्तान थी। अफवाहों के अनुसार शाहजहाँ का लगाव उस सीमा तक पहुँच चुका था जिसके बारे में विश्वास नहीं किया जा सकता। शाहजहाँ के ऊपर जहाँआरा का असीमित प्रभाव था तथा महत्वपूर्ण मामलों में उसका पूरा हस्तक्षेप रहता था।

प्रो. फिरदौस अनवर की टिप्पणी है, शर्नियर का यात्रा वृत्तान्त बड़ा ही रोचक तथा व्यापक है। उसने न केवल हिन्दुस्तानियों तथा मुगलों के तौर तरीकों तथा परम्पराओं, विद्या व ज्ञान तथा उनके जीवन के लक्ष्यों तथा कार्यकलापों का ही वर्णन किया है, बल्कि उनकी विविध प्रकार के तथ्यों से पुष्टि करने का प्रयत्न किया है। सर जे. एन. सरकार की तत्सम्बन्धी विवेचना है, कि शजहाँ तक राजनीतिक इतिहास का प्रश्न है, शर्नियर ने बाजार की प्रचलित लोक गाथाओं का सहारा लिया है। दरबारियों तक उसकी पहुँच नहीं थी, उसका फारसी ज्ञान भी अधूरा सा था और फारसी इतिहासकारों के साथ उसका कोई विशेष सम्पर्क नहीं था अतः राजनीतिक इतिहास के बारे में हम उसके वर्णन का सहारा नहीं ले सकते।

डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना के मतानुसार निकोलाओं मनुची ने स्टोरिया-ड-मागोर नामक इतिहास ग्रन्थ की रचना में अपने तुर्की व फारसी के अल्प ज्ञान का सहयोग लिया था। भारतवर्ष में वह शाहजहाँ के पुत्रों के उत्तराधिकार संघर्ष के काल में प्रविष्ट हुआ था एवं 1717 ई. में उसका मृत्यु हुई। इस प्रकार औरंगजेब का सम्पूर्ण शासनकाल उसी की उपस्थिति में घटित हुआ। मनुची ने दारा शिकोह की ओर से सामूगढ़, भक्कर के युद्धों में भाग लिया था एवं मिर्जा राजा जयसिंह एवं शाहआलम के साथ दक्षिण के युद्धों में भी सम्मिलित हुआ था। मिर्जा राजा जयसिंह के पुत्र कीर्त सिंह से उसकी प्रगाढ़ मैत्री थी।

(प) मनुची के सूचना स्रोत— डॉ. बी. पी. सक्सेना का मत है, श्रग्रन्थ में उसने निरन्तर उन स्रोतों तथा मूल आधारों का उल्लेख किया है जिनसे उसको संसूचन प्राप्त होता है। खख चूँकि वह दारा और बेगम साहेब का करपा — पात्र था, इस आधार पर यह अनुमान करना तर्कसंगत ही होगा कि उसका सम्पर्क अन्य शाही पदाधिकारियों से ही रहा होगा। रमत के युद्ध के बारे में उसकी जानकारी के स्रोत थे कुछ प्रमुख अमीर जिन्होंने उसमें भाग लिया था तथा औरंगजेब के यूरोपीय तोपची । सामूगढ़ के युद्ध में तो वह स्वयं ही मौजूद था, खजुआ की लड़ाई का वृत्तान्त उसे राजमहल के प्रान्तपति मिर्जा जानी से तथा हुगली के मुख्य अधिकारी मुहम्मद मुगल ने बताया और ध्योराई की लड़ाई का हाल मीरतकी के एक अनुचर ने बताया। इस प्रकार उत्तराधिकार के युद्ध का उसका विवरण सामान्य रूप से सही है। परन्तु शाहजहाँ के पूर्ववर्ती सम्राटों के बारे में उसके कथन विवेकपूर्ण गाथाओं से अधिक नहीं हैं। श. डॉ. बी. पी. सक्सेना लिखते हैं, श्विलियम इरविन लेटर मुगल्स, खण्ड ८ ने ठीक ही कहा है कि शर्नियर के अलावा मनुची ने किसी भी लेखक से नकल नहीं की। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शर्नियर की अपेक्षा

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

व्यापक था। मनुची बर्नियर का अत्यधिक खण्डन करता है।

(पप) मनुची द्वारा भारतीयों की आलोचना – डॉ. बी. पी. सक्सेना मनुची द्वारा जैसुइट पादरियों व बादशाह औरंगजेब की आलोचना किया जाना बतलाते हैं। डॉ. सक्सेना के षड्यों में, औरों के समान ही मनुची ने भी भारतीयों (चाहे हिन्दू हो या मुसलमान) के आचरण को बहुत ही निम्न कोटि का माना है। मनुची द्वारा वर्णित वरतान्त – शाहजहां की रुग्णावस्था (1657 ई.) के उपरान्त से औरंगजेब ही नहीं वरन् शाहजहां के परिवार के अन्य सदस्यों के विभिन्न जीवन वृष्टान्तों को मनुची ने अग्रानुसार वर्णित किया है

शाहजहां के पुत्रों में उत्तराधिकार के युद्ध का प्रारम्भ होना, इस युद्ध में औरंगजेब की विजय, दारा की पराजय व उसका वध किया जाना।

(इ) औरंगजेब के नवीन नियम कानून, मद्यपान, भांग आदि पर प्रतिबन्ध, संगीत का निषेध, सतीप्रथा पर प्रतिबन्ध।

(ब) शाइस्ता खान का शिवाजी के विरुद्ध अभियान।

(क) मीर जुमला का आसाम युद्ध।

(म) औरंगजेब तथा शाहजहां के सम्बन्ध।

शाहजहां की कारावास में दारुणावस्था में मृत्यु।

शिवाजी का समर्पण, औरंगजेब की दक्षिण यात्रा एवं मुगलों के अन्तःपुर का वर्णन, औरंगजेब का चरित्र, मराठों से संघर्ष, औरंगजेब की मरत्यु, हिन्दुओं के रीति-रिवाज विवाह, प्रणाली, मुगल राजकुमारों की विलास कीड़ाओं का मनोहारी वर्णन आदि है। (पअ) स्टोरिया की ऐतिहासिक उपादेयता – प्रो. एस. आर. शर्मा की टिप्पणी है, शइस युग के विशय में इटेलियन यात्री निकोलस मनुची का लिखा हुआ वृत्तान्त महत्वपूर्ण साधन है। वह दारा का घनिष्ठ पक्षपाती था और औरंगजेब से द्रोहपूर्ण व्यवहार के कारण घृणा करता था। उसने भारत वर्ष के सामाजिक और राजनीतिक जीवन को बहुत करीब देखा था, परन्तु अन्य यूरोपीयन लेखकों की भांति यह विश्वसनीय नहीं है, विशेषकर जब वह निजी ज्ञान के आधार पर नहीं, बल्कि सुनी-सुनाई और बाजारी गप्पों के आधार पर उस समय का वर्णन करता है। श इरविन का कथन है, शाहजहाँ के शासन के पिछले वर्षों के लिये और औरंगजेब के शासन के 50 वर्षों के लिये मनुची एक ऐसा लेखक है जिसके कथनों की अवहेलना नहीं की जा सकती। जहाँ तक उसकी सूचना के आधार का प्रश्न है, वह पूरा ईमानदार और स्पष्ट है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ तक इतिहास के व्यक्तिगत पक्ष का प्रश्न है, उसमें लिखने की बड़ी रुचि थी।

१६. अब्दुर रज्जाक

भारत का इतिहास

रज्जाक ईरानी राजदूत था जो विजयनगर के सम्राट के दरबार में आया था। वहाँ वह 1442-43 ई. तक रहा। उससे विजयनगर की राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का अच्छा वर्णन प्रस्तुत किया है।

१२. निकोलो कोण्टी

कोण्टी एक पर्यटक था जो भारत में 1520 ई. में प्रविष्ट हुआ था। उसने विजयनगर साम्राज्य की समृद्धि व सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति पर प्रशंसीय प्रकाश डाला है।

१३. डोमिंगोज पेड्रज

यह पुर्तगाली यात्री था। इसने भी दक्षिण भारत की यात्रा की एवं विजयनगर साम्राज्य का विस्तृत वर्णन किया है।

१४. ऐडोड बारबोसा

बारबांसा ने 1516 ई. में विजयनगर की यात्रा की। इसका विवरण महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करता है।

सिक्के

इतिहास को जानने के स्रोतों में सिक्के भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनसे हमें तत्कालीन समाज की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। सिक्कों के द्वारा कई असंदिग्ध तथ्यों की पुष्टि होती है। इन सिक्कों पर अंकित चिन्ह, मूर्ति, विरुद्ध, तौल, लिखावट, आकार, षासक का नाम, टकसाल का नाम, धातु का प्रयोग आदि ऐसे बिन्दु हैं जो कई रोचक विषयों पर प्रकाश डालते हैं। षिलालेख

प्रस्तर खण्ड पर राजाज्ञाएँ अंकित कराने की परम्परा का विधिपूर्वक शुभारम्भ मौर्य अधिराट् अशोक महान् द्वारा किया गया, जिसका अनुकरण युग-युगान्तर से षासकों, सामन्तों व अमीरों द्वारा किया जाता रहा है। आलोच्यकालीन युग में भी इस प्रथा के अनुकरण के कतिमय उदाहरण उपलब्ध हैं। सुल्तानों व बादषाहों द्वारा किये गये धार्मिक व प्रशासनिक कार्यों का उल्लेख कुछ विषिष्ट स्थानों से प्राप्त षिलालेखों में मिलता है। सल्तनत व मुगल अधिकृत प्रदेशों में उनके सामन्तों, सरदारों, जमींदारों द्वारा भी सार्वजनिक हित के लिये किये गये कार्यों का उल्लेख तत्कालीन प्रस्तर लेखों में उपलब्ध हैं मध्युगीन षिलालेखों की प्रचुरता राजस्थान के अनेक भागों में है। राजस्थानी षिलालेखों के प्रभूत अध्ययन का कार्य प्रमुखतः डॉ. गौरीषंकर हीराचन्द ओझा, डॉ. गोपीनाथ षर्मा, डॉ. ष्याम प्रसाद व्यास ने किया है। डॉ. ष्याम प्रसाद व्यास ने अपने षोध-प्रबन्ध षराजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन में अनेक अभिलेखों का उल्लेख किया है। जेड. ए. देसाई ने राजस्थान के फारसी षिलालेखों का अध्ययन कर एक पुस्तक के रूप में लिखा। इसी तरह भारत के अन्य भागों के अन्य भागों में फारसी, अरबी भाषा के षिलालेख उपलब्ध होते हैं जो तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन पर विस्तृत प्रकाश डालते हैं।

अरस्तु सार रूप में कहा जा सकता है कि आलोच्यकालीन अभिलेख भी हमारे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत हैं जिनकी सहायता से तत्कालीन समाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति की विवेचना की जा सकती है।

प्र. 9. मध्यकालीन (सल्तनतकालीन) भारतीय इतिहास के अध्ययन के स्रोतों का विवेचन कीजिए।

उत्तर— प्रत्येक देश का इतिहास रहस्यपूर्ण घटनाओं से युक्त होती है और कल्पना के रंग में इसे इतना अधिक रंग दिया जाता है कि सही तथ्यों को खोजना एक दुश्कर कार्य हो जाता है। देश में घटने वाली प्रत्येक घटना ऐतिहासिक घटना नहीं कही जा सकती। अतएव इतिहासकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह विद्यार्थियों के सम्मुख उन्हीं घटनाओं को प्रस्तुत करें जो सत्य हों और जिनका ऐतिहासिक महत्व हो। घटना को बढ़ा-चढ़ा वर्णन करना, अथवा घटा को छिपा लेना इतिहासकार का सबसे बड़ा दोष है। सफल इतिहासकार सदैव इन दोषों से बचने का प्रयास करता है और अपनी घटनाओं के चित्रण के लिये ऐसे स्रोतों का पता लगाता है जिनके वास्तविक होने में किसी को भी संदेह न हो। मध्य युग का इतिहास जानने के लिये अनेक ऐतिहासिक ग्रंथों, यात्रियों द्वारा दिये गये वर्णनों, साहित्यिक और धार्मिक ग्रंथों और मुद्राओं एवं अभिलेखों का आश्रय लिया गया था।

ऐतिहासिक ग्रंथ (भूजवतपबंस ठववो) मध्यकालीन इतिहास के जानने के लिये अनेक ऐतिहासिक और सामाजिक ग्रंथ प्राप्त होते हैं। मुसलमानों ने अपने इतिहास के विषय में बहुत कुछ लिखा है। इस सम्बन्ध में प्रो. डाडवेल का मत है इस्लाम के अभ्युदय से भारतीय ऐतिहासिक वस्तुओं की एक बड़ी श्रृंखला का प्रारम्भ होता है। मुस्लिम ऐतिहासिक वस्तुएं हमारे अपने (अंग्रेजी) मध्यकालीन ऐतिहासिक वस्तुओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हैं। उनका अधिकतर भाग संयासियों द्वारा नहीं बल्कि षक्तिषाली वीरों द्वारा लिखा गया था, अधिकतर उन समकालीन व्यक्तियों द्वारा जिन्होंने उन घटनाओं में भाग लिया था जिनका कि उन्होंने वर्णन किया है १ मुस्लिम काल जीवित मनुष्यों का काल है जबकि हिन्दु-काल प्रतिइच्छाओं का काल है।

परन्तु इस सम्बन्ध में स्मरण रखना चाहिए कि वह वर्णन तुर्क एवं अफगानों द्वारा किया गया है। अतः यह पक्षपात पूर्ण है। इस्लाम के उत्कर्ष का वर्णन तो उन्होंने बहुत खुलकर किया है परन्तु उस युग के शासन प्रबंध आदि की चर्चा अधिक नहीं की है। इन ग्रंथों की चर्चा यहाँ संक्षेप में की जा रही है।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

मध्यकाल के इतिहास को जानने के लिये पञ्चनमाष नामक ग्रंथ का विषेश महत्व है। यह मूल रूप से अरबी भाषा में लिखी गयी है और उसमें अरबों द्वारा सिन्ध पर विजय प्राप्त करने का पूर्ण वस्तुान्त दिया गया है। तत्कालीन दषा का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है और महत्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाष डाला गया है।

ष्टारीखे सिन्ध की रचना मक्कर के अमीरों और मीर मोहम्मद मासूम ने की थी। इस पुस्तक में अरबों की विजय से लेकर अकबर के शासन काल तक सिन्ध प्रान्त का इतिहास बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया है। फरिष्टा द्वारा रचित षोहम्मद कासिम से भी तत्कालीन इतिहास के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

भारत का इतिहास

षकिताबुल यमीनी और जैनूल अखबार नामक ग्रंथों में इस युग में इतिहास पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। षकिताबुल यमीनी का लेखक अबूनस बिन मुहम्मद अल अवरुल उतवी था। इस ग्रंथ द्वारा गजनवी वंश के इतिहास के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। वास्तव में यह साहित्यिक रचना है। परन्तु उसमें सुबुक्तगीन और मोहम्मद गजनवी के शासन काल पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

षब सईद द्वारा रचित जैनूल अखबार वास्तव में ईरान का इतिहास है, परन्तु उसमें मोहम्मद गजनवी के जीवन काल का वर्णन मिलता है। अतएव भारतीय इतिहास की दृष्टि से भी इसका महत्व है। इनके अतिरिक्त षबुल फजल मुहम्मद बिन हुसेन अलबरी द्वारा लिखित तारीखोमसूदी हसन जिमामी द्वारा रचित षांजूल मासिर और अल्बरुनी द्वारा लिखित ष्तारीखे उल हिन्द नामक पुस्तकों का भी विशेष महत्व है।

ष्तारीखे मसूदी में दरबारी जीवन और दरबारों के शङ्खचंत्रों का वर्णन किया गया है। षांजूल मासिर में कुतुबुद्दीन और इल्तुतमिश के प्रारम्भिक जीवन का वर्णन है। अल्बरुनी में कई ग्रंथों की रचना की है। परन्तु सल्तनत काल के इतिहास की दृष्टि से ष्तारीख उल हिन्द का विशेष महत्व है।

गुलाम वंश का इतिहास जानने के लिए अनेक प्रमाणिक पुस्तकें प्राप्त होती हैं। कुतुबुद्दीन ऐबक के समकालीन लेखक ने ष्तारीख फखरुद्दीन मुबारक शाह की रचना की। षमिनहाजुससिराज द्वारा लिखित ष्तबकाते नासिरी में मोहम्मद गोरी के आक्रमणों से लेकर सन् 1260 ई. तक का इतिहास प्राप्त होता है। कहा जाता है कि मिनहाजुससिराज नासिरुद्दीन के शासन काल में दिल्ली का मुख्य काजी था। अतएव उसका वर्णन प्रमाणित माना जाता है। इस पुस्तक में इल्तुतमिश और बलबन के समय का पक्षपातपूर्ण वर्णन मिलता है।

गुलाम हसन सलीम द्वारा रचित ग्रन्थ षरिवाज—उस—सलातीन से भी तत्कालीन इतिहास का पता चलता है। इस युग के ग्रंथों में अमीर खुसरो द्वारा रचित ग्रंथों का विशेष महत्व है। अमीर सन् 1290 से लेकर सन् 1325 ई. तक दिल्ली के दरबार में रहा था। उसने अपने ग्रंथ खजाय—नुल फूतूह में जलालुद्दीन खिलजी, अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक के समय की घटनाओं का वर्णन है।

तुगलक वंश के इतिहास की जानकारी प्राप्त करने के लिए बनी द्वारा लिखित ष्तारीखे फिरोजशाही का विशेष महत्व है। पुस्तक में खिलजी वंश से मुहम्मद बिन तुगलक और फिरोजे के राज्य काल के वर्षों का प्रमाणित इतिहास दिया गया है। जियाउद्दीन बर्नी एक अन्य ग्रंथ षफतवाय जहाँदारी का भी विशेष महत्व है। इस ग्रंथ में उसने राजनीति के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। स्वयं फिरोज तुगलक द्वारा रचित ग्रंथ में उसने राजनीति के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। स्वयं फिरोज तुगलक द्वारा रचित ग्रंथ षफूतूहास फिरोजशाही भी उल्लेखनीय है।

सन् 1333 ई. से 1342 ई. तक इब्नबतूता नाम का एक विदेशी यात्री भारत में रहा। मोहम्मद बिन तुगलक ने उसे दिल्ली का काजी नियुक्त किया था। स्वदेश लौटने पर उसने

षकिताब—उल—रहला नामक ग्रंथ का सृजन किया जिसमें मोहम्मद बिन तुगलक के शासन काल को भारत की भाषा और रीति—रिवाजों का सुन्दर वर्णन है। इसके अतिरिक्त षम्ससिराज अफीफ द्वारा रचित फिरोजशाही से तत्कालीन इतिहास के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

सैयद वंश का इतिहास जानने के लिए यहिया—बिन—अहमद के तारीखे षुबारक— शाही नामक ग्रंथ का विशेष महत्व है। मुसलमान लेखकों के अतिरिक्त अनेक पाश्चात्य लेखकों ने भी सल्तनत काल के

इतिहास पर प्रकाश डाला है। विषय विस्तार के भय से भी उनकी चर्चा करना यहाँ उपयुक्त न होगा।

२. विदेशी यात्रियों द्वारा दिये गये वर्णन (क्वेबतपचजपवद हपअमद इल जीम वितमपहद जतअमससमते) — सल्तनत काल में अनेक विदेशी यात्री भारत आये। उनमें से कुछ यहाँ सदैव के लिए बस गये और कुछ थोड़े समय के उपरांत वहाँ से चले गये। उन लोगों ने भी अपनी यात्राओं का वर्णन किया है जिससे तत्कालीन इतिहास के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। अलवरुनी और

इब्नबतूता नामक यात्रियों का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। तेरहवीं शताब्दी में मार्को पालो नामक यात्री भारत आया था। उसने दक्षिण भारत का भ्रमण किया था। उसने अपनी यात्रा का पूर्ण वर्णन किया है जिसका सम्पादन यूल नामक एक विद्वान ने किया है।

अब्दुल रज्जाक पर्षिया का रहने वाला था, जो सन् 1442 से 1443 ई. के मध्य विजयनगर राज्य में पर्षिया के सम्राट का प्रतिनिधि था। उसने यहाँ की राजनीतिक, प्रशासकीय, आर्थिक और सामाजिक दशा का वर्णन किया है। उसके वर्णन का भी ऐतिहासिक महत्व है। पाइस नामक एक पुर्तगाली यात्री ने विजयनगर राज्य का भ्रमण किया था। उसका वर्णन भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। सन् 1516 ई. में बारबोसा नामक यात्री ने दक्षिण भारत का भ्रमण किया और उसने भी वहाँ की दशा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

३. मुद्रा एवं अभिलेख (बपदे दक प्देबतपचजपवदे) — मुद्राओं और अभिलेखों के द्वारा भी सल्तनत काल के इतिहास के विषय में बहुत जानकारी प्राप्त है। उड़ीसा और दक्षिण भारत के हिन्दू राजाओं की मुद्राएँ वहाँ के इतिहास के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती हैं उनसे यह पता चलता कि मुसलमानों ने सभी ग्रंथों का सज्जन अपने ही दर्पश्टकोण से किया है और हिन्दुओं की राजनीतिक हलचल की अवहेलना की है। इस काल के मुस्लिम सिक्कों के विषय में लेनपूल की राजनीतिक हलचल की अवहेलना की है। इस काल के मुस्लिम सिक्कों के विषय में लेनपूल ने लिखा है— श्वास्तव में नियमानुसार हम मुस्लिम सिक्कों को उन वंशों के वास्तविक इतिहास के आधार के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिनके द्वारा वे चलाये गये थे। एक मुस्लिम शासक के सिक्कों के द्वारा उसके शासन की उत्तिथियों की जानकारी होती है जिनकी पूर्वी इतिहासकार छोड़ देते हैं या गलत बतलाते हैं। उसके राज्योरोहण की तिथि उसके राज्य के क्षेत्र विस्तार पड़ोसी शक्तियों से उसके सम्बन्ध तथा धार्मिक नेताओं से उसके सम्बन्ध आदि तथ्यों के विषय में हम निश्चिततापूर्वक उसके सिक्कों से जान सकते हैं।

भारत का इतिहास

विजयनगर के स्मारकों और मदुरा तथा बहमनी राज्यों के सिक्कों द्वारा भी हमें बड़ी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सल्तनत काल के इतिहास को जानने के लिए अनेक साधन हैं। विभिन्न विद्वानों ने इन्हीं साधनों का आश्रय लेकर तत्कालीन इतिहास का वर्णन किया है।

सारतः सल्तनत काल के इतिहास को जानने के लिए ऐतिहासिक ग्रंथों, यात्रियों द्वारा दिये गये वर्णनों, साहित्यिक और धार्मिक ग्रंथों और मुद्रा एवं अभिलेखों का आश्रय लिया गया।

भारत का इतिहास – (1200 से 1739 तक)

इकाई—दो

अपने पिता गयासुद्दीन तुगलक की मृत्यु के तीन दिन पश्चात फरवरी या मार्च 1325 ई. में उलूग खाँ (जूना खा मुहम्मद बिन तुगलक के नाम से सुल्तान बना। चालीस दिन तक वह तुगलकाबाद में रहा, तत्पश्चात उसने दिल्ली में प्रवेश किया। इस अवसर पर सभी ने उसका स्वागत किया। उसने भी उदारतापूर्वक अपनी प्रजा में सोना चांदी लुटाया और सरदारों में पदों का वितरण किया। अपने पिता की मृत्यु में मुहम्मद तुगलक का कुछ भी हाथ रहा हो या न रहा हो परन्तु उसके सिंहासन पर बैठने का विरोध किसी ने नहीं किया। उल्लेखनीय है कि बंगाल की विजय से लौटकर आने की सूचना मिलने पर युवराज उलूग खाँ ने अपने पिता का स्वागत करने के लिए तुगलकाबाद से कुछ दूरीपर स्थिति अफगानपुर नामक गाँव के पास एक लकड़ी का महल तैयार करवाया। ठीक समय पर युवराज सुल्तान गयासुद्दीन का स्वागत करने अफगानपुर पहुंच गया। सुल्तान ने वहीं पर रात्रि विश्राम कर दूसरे दिन राजधानी में प्रवेश करने का निश्चय किया। सायंकालीन भोजन के बाद जब अधिकांश अमीर और दूसरे लोग हाथ धोने के लिए बाहर निकल आये तो लकड़ी का महल अचानक धराषायी हो गया और सुल्तान अपने छोटे पुत्र मुहम्मद के साथ उसके नीचे दबकर मर गया। तारीखे – मुबारषाही के अनुसार यह घटना फरवरी मार्च 1325 ई. में घटी थी। इस घटना में मुहम्मद बिन तुगलक का हाथ था या नहीं, इस बारे में इतिहासकारों की अलग-अलग राय है।

दिल्ली के सिंहासन पर बैठकर उसने मुहम्मद तुगलक शाह की उपाधि धारण की। इतिहासकारों का मानना है कि सुल्तान बनते समय मुहम्मद बिन तुगलक को जितनी अनुकूल परिस्थितियाँ मिली शायद ही किसी अन्य शासक को मिली होंगी। सम्भवतः मध्यकालीन भारत के शासकों के चरित्र और नीतियों की दृष्टि से कोई भी शासक इतना विवादपूर्ण नहीं रहा जितना मुहम्मद बिन तुगलक। उसका छब्बीस वर्षीय शासन उचित ढंग से सोची गई किन्तु गलत ढंग से क्रियान्वित की गयी योजनाओं और कार्यों की रोचक किन्तु

दुःखद कहानी है। उसका मस्तिष्क नयी-नयी योजनायें बनाने में जितना तेज था उतना ही जनता की मनोवृत्ति समझने में मंद था। वह जनता से ऐसी घनिष्टता तथा पारस्परिक सहानुभूति कभी स्थापित नहीं कर सका जो उसकी योजनाओं को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किये जाने के लिए अत्यन्त आवश्यक थी। उसकी समस्त योजनायें और कार्य भयंकर रूप से असफल सिद्ध हुए और उनके अत्यन्त विनाशकारी परिणाम निकले जिनके फलस्वरूप पूरे साम्राज्य में उसके विरुद्ध असंतोश और षत्रुता का वातावरण उत्पन्न हो गया।

इन सबके बावजूद भी मुहम्मद बिन तुगलक का शासन काल दिल्ली सल्तनत के इतिहास में एक युगांतकारी घटना है, क्योंकि उसके समय में ही सल्तनत विस्तार के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच गयी। किन्तु साथ ही उसके समय विद्रोहों की एक ऐसी श्रृंखला प्रारम्भ हुई जिन्होंने सल्तनत की नींव को हिलाकर रख दिया। यद्यपि मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने शासनकाल में देश राजनीतिक तथा प्रशासनिक एकता स्थापित करने के लिये निरन्तर प्रयत्न किये परन्तु वह अपने प्रयत्नों में असफल रहा और उसकी मृत्यु के समय 1351 ई. तक बहुत सारा प्रदेश सल्तनत के आधिपत्य से मुक्त हो गया तथा अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये।

राजत्व सिद्धान्त

मुहम्मद बिन तुगलक राजा के देवी अधिकारों को मानने वाला शासक था। वह राजा को पृथ्वी पर ईश्वर की छाया मानता था और उसका विश्वास था कि ईश्वर अपनी इच्छा से किसी व्यक्ति को राज्य पद देता है। इसलिये अन्य सभी लोगों को बिना किसी विरोध के राजा की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। वह अपने आप को सर्वप्रभुत्व सम्पन्न शासन समझता था। ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में अपने अमीरों एवं अधिकारियों तथा प्रजा से स्वामीभक्ति की अपेक्षा करना अपना अधिकार समझता था।

वह अपने युग का एक अत्यधिक स्वेच्छाचारी निरंकुश शासक था। कहने को प्रशासनिक कार्यों में उसे सलाह देने के लिये एक लघु परिषद् थी परन्तु उसने शायद ही कभी उससे सलाह ली हो। वह स्वयं ही अपनी नीति का निर्माता था और अन्य सभी लोग उसकी नीतियों को लागू करने वाले कर्मचारी मात्र थे। वह अपने आदेश की अवज्ञा करने वाले अधिकारी के खिलाफ सख्त कार्यवाही करता था। एक अवसर पर उसने कहा था, 'जब किसी वृक्ष को अपनी सीमा से अधिक सिर उठाये देखता हूँ तो उसका सिर कुल्हाड़ी से काट कर उसके स्थान पर दूसरा वृक्ष लगा देता हूँ'। ८

कहा जाता है कि मुहम्मद बिन तुगलक अपने युग के एक महान विद्वान भी था। उसके इस्लाम के धार्मिक ग्रंथों एवं कानूनों का हगरा अध्ययन कर रखा था, और सुल्तान बनने के बाद अलाउद्दीन की भाँति धर्म को राजनीति से दूर रखने की नीति अपनाई। उसके समान निरंकुश व्यक्ति अपने कार्यों में उलेमाओं का क्या किसी व्यक्ति अथवा समूह का प्रभाव या हस्तक्षेप सहन करने को तैयार नहीं था। यही कारण है कि उसने उलेमाओं से कभी सलाह नहीं ली, और न ही उन्हें किसी प्रकार की रियायतें हो प्रदान कीं। इतना ही नहीं, जब कभी उलेमा वर्ग का कोई सदस्य राजकीय घन के गबन अथवा अन्य मामलों में अपराधी पाया जाता तो मुहम्मद तुगलक उसे भी सामान्य अपराधी की भाँति सजा देता था। उलेमा वर्ग के सुल्तान के प्रति विरोध का एक प्रमुख कारण यही रहा था कि सुल्तान के विरुद्ध अपना जिहाद जारी रखा और उसकी शासन व्यवस्था को बदनाम करने में कोई कसर बाकी न रखी। उलेमा वर्ग के असंतोश का एक कारण यह भी रहा कि मुहम्मद तुगलक के पहले

भारत का इतिहास

न्याय प्रशासन पर उन्हीं का एकाधिकार था। सुल्तान ने उनके इस एकाधिकार को खत्म करते हुए योग्य व्यक्तियों को भी न्यायधीषों के पदों पर नियुक्त करना शुरू कर दिया। उलेमाओं के निर्णयों को बदलने में वह तनिक भी नहीं हिचकता था। चूँकि सुल्तान, स्वयं ही न्याय का अन्तिम स्त्रोत था, अतः उसके निर्णय के विरुद्ध कहीं अपील नहीं की जा सकती थी। सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देते हुए हिन्दुओं के साथ अच्छा व्यवहार किया और अपने पूर्वाधिकारियों की भांति उनपर अत्याचार नहीं किये।

मुहम्मद तुगलक की विभिन्न योजनाएँ

राजस्व व्यवस्था में सुधार

मुहम्मद तुगलक अत्यधिक परिश्रमी व्यक्ति था। राज्यारोहण के तत्काल बाद उसने राजस्व व्यवस्था में सुधार करने के लिए अनेक कदम उठाये। प्रान्तीय अधिकारियों को आदेश दिया गया कि वे पहले की भांति अपने-अपने क्षेत्रों की आय व्यय का लेखा तैयार करके दिल्ली में दीवन-ए-विराजत के पास भेजें। दीवान-ए-विराजत में प्रत्येक सूबे की आय व्यय का हिसाब रखने के लिए एक पथक रजिस्टर रखा गया। कुछ विद्वानों का मत है कि षायद मुहम्मद तुगलक अपने सभी प्रान्तों में राजस्व व्यवस्था लागू करना चाहता था और इस बात का विशेष ध्यान रखा कि कोई भी गांव लगान वसूली से अछूता न रह जाए। प्रान्तों से आने वाले हिसाब की बारीकी के साथ जांच की जाती थी तथा पूरी लगान जमा नहीं करने वाले अधिकारियों के खिलाफ सख्त कार्यवाही की जाती थी और सख्ती के साथ बकाया लगान वसूल किया जाता था। इसके लिए एक पथक अधिकारी नियुक्त किया गया जो सुल्तान को समय-समय पर रिपोर्ट देता रहता था। बरनी और इब्न बतूता दोनों ने सुल्तान की राजस्व व्यवस्था के एक दोष का उल्लेख किया है। वह है छजारेदारी प्रथा अर्थात् कर-वसूली के काम को ठेके पर देना। जो व्यक्ति इस काम के लिए, सबसे ऊँची धनराशि की बोली लगाता था उसी को लगान वसूल का काम मिल जाता था। परन्तु उस आदमी की माली हालत की जांच नहीं की जाती थी, जिसकी वजह से कई बार सरकार को आर्थिक हानि उठानी पड़ती थी।

दोआब में कर वृद्धि

1325 – 27 ई. सुल्तान मुहम्मद तुगलक का पहला कार्य दोआब में कर वृद्धि का क्रियान्वयन था। उसने करो में वृद्धि क्यों की? इसके बारे में तत्कालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी ने कुछ नहीं लिखा है, परन्तु डा. ईश्वरी प्रसाद जैसे आधुनिक इतिहासकारों ने लिखा है कि दोआब में कर-वृद्धि के दो कारण थे 1. दोआब की भूमि बहुत अधिक उपजाऊ थी, इसलिये यहाँ के लोग अधिक टैक्स दे सकते थे। 2. दोआब के लोगों में विद्रोह की भावना थी। मुहम्मद तुगलक से पहले अलाउद्दीन ने भी दोआब के खुत, मुकद्दम और चौधरियों से कठोर व्यवहार किया था क्योंकि वे मुस्लिम सरकार को तुग करते थे।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

दोआब में कर की मात्रा कितनी बढ़ाई गई, इसके बारे में इतिहासकारों में काफी मतभेद है। बरनी कथानुसार इसे दस या बीस गुना अधिक कर दिया गया। फरिष्ता के अनुसार यह कर तीन चार गुना अधिक किया गया। गार्डनर ब्राउन ने इस कर वृद्धि को बहुत साधारण बतलाया है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार सुल्तान ने भूमि कर में वृद्धि नहीं की बल्कि

मकानों तथा चरागाहों आदि पर कर लगाया। वास्तविकता कुछ भी हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कर में वृद्धि की गयी थी। जिस समय दोआब में कर वृद्धि की गई उस समय वहां सूखा और अकाल पड़ा। अतएव किसानों ने कृषि छोड़ कर चोरी-डकैती का पेशा अपना लिया। लगान अधिकारियों ने बहुत कठोरता से कर वसूल किया जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हो गये। सुल्तान ने बड़ी कठोरता से विद्रोह दबाये और बरनी के षड्यों में, षहजारों व्यक्ति मारे गये और जब उन्होंने बचने का प्रयत्न किया तब सुल्तान ने विभिन्न स्थानों पर आक्रमण किये तथा जंगली जानवरों की भांति उन्हें अपना शिकार बनाया। गार्डनर ब्राउन बरनी के इस कथन से सहमत नहीं है। उसके अनुसार नागरिकों के कष्ट का कारण कर नहीं, बल्कि वर्षा की कमी से उत्पन्न अकाल था। डॉ. मेहदी हुसैन ने एक नवीन विचार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सुल्तान की सेना से निकाले गये सैनिकों ने कृषि करना प्रारंभ कर दिया था और जब कर बढ़ाया गया तो उन्होंने कर देने के स्थान पर कृषि करना बन्द कर दिया तथा लगान अधिकारियों को मार डाला। इस कारण सुल्तान ने विद्रोह को कठोरतापूर्वक दबाया। कारण कुछ भी रहा हो, परन्तु यह स्पष्ट है कि करों में वृद्धि की गयी थी। अकाल की स्थिति में कठोरता से लगान वसूल किया जाना विद्रोह का प्रमुख कारण था और सुल्तान ने विद्रोह को अत्यधिक कठोरता से दबाया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, प्लाद में सुल्तान ने किसानों को बीज, बैल आदि दिये तथा सिंचाई के लिए कुएं और नहरे खुरवाई परन्तु उनसे कोई लाभ नहीं

हुआ, क्योंकि ये सहायता कार्य देर से किये गये तथा इस सहायता का प्रयोग किसानों ने क्षुधा – पूर्ति के लिए किया। इस नीति से उसके साम्राज्य की आय में तो वृद्धि हुई नहीं, अपितु वह अपनी प्रजा में अत्यधिक बदनाम हो गया।

कृषि विभाग का निर्माण

मुहम्मद बिन तुगलक ने सरकारी देखरेख के अन्तर्गत और राज्या की ओर से सीधी आर्थिक सहायता देकर कृषि के योग्य भूमि का विस्तार करने की योजना बनाई। यह कृषि में उसका एक विलक्षण प्रयोग था। इस हेतु उसने प्दीवाने कोही (कृषि विभाग) नामक एक नया विभाग स्थापित किया। इस कार्य के लिए पहले 60 वर्ग मील भूमि का एक विषाल भू-क्षेत्र चुना गया और उसको उपजाऊ बनाकर उसमें विभिन्न फसलें बदल-बदल कर बोने का निष्पत्ति किया गया। कर्षण के लिए यह भूमि गरीब और उत्सुक लोगों को दी गयी। दो वर्षों में उन लोगों को राजकोश से सत्तर लाख टंके) के रूप में दिये गये। उनकी देखरेख के लिए सौ शिकदारों और एक हजार सवारों की नियुक्ति की गयी। इस योजना के लिए कंत का समय निर्धारित किया गया।

किन्तु सुल्तान का यह प्रयोग पूर्णतः असफल रहा। बरनी लिखता है, तीन वर्षों में कृषि के अन्तर्गत ऊपर वर्णित भूमि को सौवां भाग भी कृषि योग्य नहीं बनाया जा सका। इस प्रयोग की असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे— प्रथम, इस प्रयोग के लिए चुनी गयी भूमि उपजाऊ नहीं थी। दूसरा, तीन वर्ष का समय इस प्रयोग के लिए कम था। तीसरा, जो रुपया अग्रिम रूप से दिया गया था उसका कुछ

तो सरकारी अधिकारियों की बेईमानी के कारण और कुछ किसानों द्वारा इस रुपये को दूसरे कार्यों में खर्च कर देने के कारण सही उपयोग नहीं हो सका। सर्वोपरि, सुल्तान इस वर्षों

भारत का इतिहास

में पूरी तरह दिल्ली से बाहर रहा और वह इस योजना पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान नहीं दे सका।

राजधानी परिवर्तन (१३२६-२७ ई.)

सुल्तान मुहम्मद तुगलक की दूसरी बड़ी योजना दिल्ली ये राजधानी परिवर्तन की थी। जिसके कारण साम्राज्य की राजधानी तथा मुख्य व्यक्तियों को बहुत कष्ट पहुंचा। मुहम्मद तुगलक द्वारा—दिल्ली के स्थान पर देवगिरी को राजधानी बनाया जाने के विभिन्न कारण बताये गये हैं। बरनी के अनुसार साम्राज्य के केन्द्र में होने के कारण देवगिरि को राजधानी बनाया गया। इब्नबतूता ने इस मत को स्वीकार किया है। इसामी ने लिखा है कि वह दिल्ली के नागरिकों की शक्ति को तोड़ने के लिए उन्हें दक्षिण भारत ले जाना चाहता था। प्रो. हबीबुल्ला ने लिखा है कि वह दक्षिण भारत में मुस्लिम संस्कृति के विकास तथा दक्षिण की सम्पन्नता एवं शासन की सुविधा की दृष्टि से देवगिरी को राजधानी बनाना चाहता था। डॉ.

हुसैन और के. ए. निजामी के अनुसार तुगलक का लक्ष्य दो राजधानियाँ— दिल्ली और दौलताबाद बनाने का था परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस विचार से सहमत नहीं हैं। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार मंगोल आक्रमणों से सुरक्षा, दक्षिण भारत में दृढ़ व्यवस्था की आवश्यकता और दक्षिण भारत का संपन्न होना इस राजधानी परिवर्तन के कारण थे।

तत्कालीन इतिहासकारों के अनुसार दिल्ली की समस्त जनता को दौलताबाद जाने के आदेश दिये गये। और दिल्ली उजाड़ हो गयी। बरनी ने लिखा है कि सभी कुछ बर्बाद कर दिया गया। तबही इतनी भयानक थी कि शहर की इमारतों, उसके आसपास के क्षेत्रों में एक बिल्ली अथवा कुत्ता भी दिखायी नहीं देता था।¹ इसी प्रकार इब्नबतूता ने लिखा है कि सुल्तान के आदेश पर खोज करने पर उसके गुलामों को एक अंधा और एक लंगड़ा व्यक्ति प्राप्त हुआ। लंगड़े को मार दिया गया और अंधे को घसीटकर दौलताबाद ले जाया गया जहाँ उसकी एक टांग ही पहुंच सकी। उसने लिखा है, ८ रात्रि को सुल्तान ने अपने महल की छत पर चढ़कर दिल्ली को देखा और जब उसे एक भी रोशनी, धुआँ अथवा चिराग दिखायी नहीं दिया तब उसने कहा कि अब मेरा हृदय प्रसन्न है और मेरी आत्मा को शान्ति है।² इसी प्रकार इसामी ने लिख है कि मुहम्मद तुगलक ने शहर को जला देने और सभी जनता को उससे बाहर निकाल देने की आज्ञा दी।³ लेकिन आधुनिक इतिहासकार उपर्युक्त मतों से पूर्ण सहमत नहीं हैं। डॉ. मेहदी हुसैन का कहना है कि दिल्ली राजधानी न रही हो, ऐसा कभी नहीं हुआ और इस कारण वह न कभी आबादी रहित हुई न निर्जला।⁴ इसी प्रकार डॉ. के. एस. निजाममी का भी कहना है, समस्त जनता को जाने के आदेश नहीं दिये गये बल्कि केवल श्रेष्ठ, उलेमा और उच्च वर्ग के व्यक्तियों को ही दौलताबाद जाने के आदेश दिये थे।⁵ परन्तु डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव, डॉ. ईश्वरी प्रसाद अन्य अनेक इतिहासकारों का कहना है कि तत्कालीन इतिहासकारों ने इस बात को चाहे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर ही कहा हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि दिल्ली की जनता को दौलताबाद जाने के आदेश दिये गये थे।

मार्ग में सुल्तान ने जनता की सुविधा के लिए हर सम्भव कार्य किये। दिल्ली से दौलताबाद तक की 700 मील लम्बी सड़क पर छायादार वृक्ष लगाये गये, प्रत्येक दो मील के पश्चात् जनता के रुकने तथा खाने-पीने की व्यवस्था की गयी, सभी को यातायात सुलभ किया

गया, सभी को अपनी छोड़ी हुई सम्पत्ति का मुआवजा दिया गया तथा सभी के लिए दौलताबाद तक आने और रहने की मुफ्त व्यवस्था की गयी। परन्तु इन सभी सुविधाओं के होते हुए भी दिल्ली से दौलताबाद की 40 दिन की यात्रा दिल्ली के नागरिकों के लिए अत्यन्त कष्टदायक रही होगी, इसमें सन्देह के लिए स्थान नहीं है।

मुहम्मद तुगलक की यह योजना पूर्ण असफल रही। इसामी के अनुसार दिल्ली 14 वर्ष के पुनः पश्चात् पुनाए बसी परन्तु सम्भवतया 1335 ई. में ही सुल्तान ने व्यक्तियों को अपनी को अपनी इच्छानुसार दिल्ली वापस जाने की आज्ञा दे दी थी। इस योजना की असफलता के विभिन्न कारण थे। सुल्तान को केवल अपने दरबारियों को ही दौलताबाद ले जाना चाहिए था, न कि जनता को। साधारण नागरिक अपने घरों को छोड़कर अनजान और

दूरस्थ दौलताबाद जाने को तैयार न थे और नहीं उन्हें वहाँ ले जाने की आवश्यकता थी। सुल्तान का यह सोचना भी भूल थी कि दौलताबाद एक उपयुक्त राजधानी होगी। मंगोलों के आक्रमणों से सुरक्षा के लिए और उत्तर— भारत के पूर्ण संगठित राज्य की सुरक्षा तथा व्यवस्था के लिए दिल्ली ही अधिक उपयुक्त स्थान था। अव्यवस्थिति दक्षिण भारत की तुलना में संगठित उत्तर भारत दिल्ली सल्तनत के लिए अधिक महत्वपूर्ण था।

सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन (932ई—30 ई.)

इसी समय मुहम्मद तुगलक ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया, वह था सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन। उन दिनों दो प्रकार के सिक्के चलते थे, टंका एवं जीतल। टंका चांदी का सिक्का था जबकि जीतल तांबे का। मुहम्मद तुगलक ने चांदी के स्थान पर तांबे का टंका जारी किया। उसका मूल्य चांदी के टंके के बराबर माना और उसका प्रचलन चांदी के टंके की भांति सांकेतिक मुद्रा के रूप में किया। सुल्तान का सांकेतिक मुद्रा का यह प्रयोग एशिया में एकदम नया नहीं था। उसके पूर्व चीन में कुबलाई खॉ (1260—94 ई.) तथा ईरान में गैखातू खॉ द्वारा सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन किया जा चुका था। यद्यपि गैखातू खॉ का प्रयोग असफल रहा था किन्तु कुबलाई खॉ की कागंज की मुद्रा का प्रयोग पूर्णरूप से सफल रहा था।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

अब प्रश्न यह उठता है कि मुहम्मद बिन तुगलक ने सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन क्यों किया? बरनी लिखता है कि विदेशों पर विजय प्राप्त करने की सुल्तान की योजनाओं तथा उसकी असीमित उदारता और दानशीलता के कारण सारा खजाना खाली हो गया था। इसलिए उसको प्रतीक मुद्रा चलानी पड़ी। किन्तु बरनी का यह कथन केवल आंशिक रूप से ही सही है। यद्यपि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस प्रयोग का सम्बन्ध उसकी राजधानी परिवर्तन की योजना तथा प्रस्तावित खुरासान अभियान के फलस्वरूप राजकोश पर पड़े आर्थिक दबाव से था। किन्तु इस सबके बावजूद भी सुल्तान दिवालिया नहीं हुआ था क्योंकि हमें पता है कि जब उसका प्रयोग असफल हुआ तो उसने तत्काल जनता को प्रतीक सिक्कों के बदले सोने या चांदी के सिक्के दिये थे। सम्भवतः सुल्तान ने सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन जैसा कि कुछ आधुनिक इतिहासकार मानते हैं, चांदी की कमी के कारण किया था। नेल्सन राइट का मानना है कि इस समय भारत में ही नहीं बल्कि समस्त विश्व में चांदी की कमी हो गयी थी और इसलिए सिक्के ढालने के लिए पर्याप्त मात्रा में चांदी उपलब्ध नहीं हो पा रही थी। अतः सुल्तान को चांदी की जगह तांबे के टंके जारी करने पड़े।

भारत का इतिहास

सांकेतिक मुद्रा ठीक प्रकार से चलती रहे इसके लिए कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है प्रथम, जनता में उसके प्रति विश्वास पैदा किया जाए तथा द्वितीय सांकेतिक मुद्रा ऐसी पद्धति से बनायी जाए जिसका रहस्य केवल शासक हो जाता और सामान्य जाने उसकी नकल न कर सके। तृतीय, अगर कोई अनधिकृत व्यक्ति जाली सिक्के बनाता हुआ पकड़ा जाये तो उसे कठोर दण्ड दिया जाए। चौथा, राज्य जनता तथा व्यापारियों को यह आश्वासन दे कि मांगने पर सांकेतिक मुद्रा के बदले में चांदी के सिक्के दे दिये जायेंगे। ऐसा करने से लोगों का सांकेतिक मुद्रा में पूर्ण विश्वास हो जाता है। किन्तु दुर्भाग्यवश सुल्तान ने इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं की और इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ लोगों ने अपने घरों पर बड़ी मात्रा में जाली सिक्के ढालने शुरू कर दिये तथा जियाउद्दीन बरनी के अनुसार प्रत्येक हिन्दू का घर टकसाल बन गया। सम्भवतः मुसलमान भी इस लोभ से वंचित नहीं रहे होंगे। किन्तु बरनी, जो एक धर्मान्ध मुसलमान था, ने केवल हिन्दुओं पर ही दोष लगाया है। सरकार जाली सिक्कों के ढालने पर रोक लगाने में असफल रही। फलस्वरूप बड़ी मात्रा में जाली सिक्के बाजार में आ गये तथा असली सिक्के और जाली सिक्कों में भेद करना मुश्किल हो गया। बाजार से चांदी के सिक्के गायब हो गये। भू-राजस्व का भुगतान जाली सिक्कों में किया जाने लगा। विदेशी व्यापारियों ने भारत में अपना माल लाना बन्द कर दिया तथा आयात को भारी क्षति पहुंची।

इन सबका परिणाम यह हुआ कि लेन-देन तथा व्यापार में भारी गड़बड़ी पैदा हो गई। जब सुल्तान ने अनुभव किया कि उसकी सांकेतिक मुद्रा के कारण अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी है तो उसने उसे वापस ले लिया तथा आदेश जारी कर दिया कि लोग राजकोश से पीतल और तांबे के सिक्के के स्थान पर चाँदी के सिक्के ले जायें। यह सुल्तान की बहुत बड़ी उदारता थी। बरनी लिखता है, हजारों लोग बदलने के लिए तांबे के सिक्के ले आये और तुगलकाबाद में इन सिक्कों के पहाड़ों के समान ढेर लग गये। इस प्रकार मुहम्मद बिन तुगलक की यह योजना असफल हो गयी। इससे सरकार को भारी नुकसान उठाना पड़ा साथ ही सुल्तान की बदनामी भी हुई।

समीक्षा— इस प्रकार मुहम्मद तुगलक अपनी सभी योजनाओं में असफल रहा। यह कहा जा सकता है कि उसके सुधार समय से आगे थे। उसकी प्रजा और उसके अधिकारी उन योजनाओं को न समझ सके और न ही उन्होंने उसके साथ सहयोग किया। परन्तु उसकी योजनाओं की असफलता बहुत कुछ स्वयं उसके ही कारण थी। सुल्तान में कल्पना-बुद्धि तो थी परन्तु व्यावहारिकता की कमी थी। वह नवीन योजनाएं तो बना सकता था और वे सिद्धांत के आधार पर ठीक होती थीं परन्तु वह बहुत ही उग्र और धर्महीन था। तनिक सी असफलता उसे क्रुद्ध कर देती थी और पीछे सफलता न मिलने के कारण वह अपनी योजनाओं को त्याग देता था। उसे अपने नागरिकों और अधिकारियों की योग्यता एवं क्षमता से लाभ उठाना तथा उनका सहयोग प्राप्त करना नहीं आता था। उसमें एक व्यक्ति समूह का नेता होने के गुण का अभाव था। मुहम्मद तुगलक की असफलताओं के मुख्य कारण यही थे। अतएव स्वयं सुल्तान और उसके जिं की अभाव ही उसकी और उसकी योजनाओं की असफलता का कारण बनी।

चरित्र 34

खुरासान विजय

मुहम्मद बिन तुगलक भी अलाउद्दीन खिलजी की भांति भारत से बाहर के देशों को जीतने की अभिलाशा रखता था। समकालीन लेखक खुरासान शब्द का प्रयोग वृहद रूप से करते हैं। इन्तबतूता तो यहाँ तक लिखता है कि सारे विदेशी भारतवर्ष में खुरासानी कहलाते थे। इस कारण स्पष्ट रूप से यह कहना कठिन है कि क्या सुल्तान की खुरासान विजय योजना केवल खुरासान तक ही सीमित थी या इसका अर्थ मध्य एशिया के अन्य राज्य जीतना भी था। फरिष्ता ने संकेत किया है कि सुल्तान मुहम्मद के दरबार में बहुत बड़ी संख्या में अमीर ईराक तथा खुरासान से आये थे और ईरान और तूरान की विजय के लिये सुल्तान को उकसाया करते थे। समकालीन अमीर खुर्द कृत सूफी साहित्यिक ग्रंथ, स्यार उन आलिया (अमीर) में संकेत मिलते हैं कि मुहम्मद बिन तुगलक का विचार मंगोलों के विरुद्ध भी जिहाद करने का था और उसने सूफी संतों से इस कार्य में सहयोग मांगा था। सुल्तान मुहम्मद के तरमाषीरीन से प्रथम सम्पर्क के बाद वह षायद वहाँ की उथल-पुथल का लाभ उठाकर इस क्षेत्र को जीतने के लिये प्रभावित हुआ था।

बरनी के अनुसार सुल्तान ने तीन लाख सत्तर हजार की एक विषाल सेना खुरासान विजय के लिये भरती तथा एकत्रित करने में खर्च की। वेतन के अतिरिक्त काफी धन साज सामान था तथा युद्ध-सामग्री एकत्रित करने में खर्च किया गया। सुल्तान का विश्वास था कि खुरासान की विजय से जो धन प्राप्त होगा वह इस खर्च से कहीं अधिक होगा और इस प्रकार यह विजय योजना लाभप्रद होगी। देखने में सुल्तान की यह विजय योजना अनुचित नहीं दिखाई पड़ती लेकिन इसको व्यावहारिक रूप देना कई कारणों से कठिन था। मध्ययुग में इतनी बड़ी सेना को पहाड़ी तथा बर्फीले क्षेत्र से गुजरकर मध्य एशिया में पहुँचना बहुत कठिन था क्योंकि भारत के राजनीतिक केन्द्र दिल्ली से ये स्थान बहुत दूर पड़ते थे। मुगल काल में षाहजहाँ की मध्य एशिया नीति इसका प्रमाण है। उपरोक्त कठिनाइयों को यदि ध्यान में रखा जाय तो यह योजना सुल्तान की एक भ्रामक भूल ही कही जायगी। अभी योजना कार्यान्वित ही नहीं की गई कि मध्य एशिया की राजनीति ने पलटा खया। ईरान के षासक अबुतेयद तथा मिश्र के षासक अननासिर के सम्बन्ध सुधर गये तथा तरमाषीरी को राज्य त्यागना पड़ा। इस बदली हुई परिस्थिति में खुरासान की विजय योजना त्याग दी गई। बरनी ने सुल्तान की इस योजना को एक ऐसी भूल माना है जिससे राज्य की खराबी हुई तथा धन की बरबादी।

कराचल का विनाशकारी अभियान

•

हिमालय के हिन्दु राज्यों को कभी भी मुसलमान षासकों ने विजय नहीं किया था। ये पर्वतीय राज्य हिन्दुस्तान तथा चीन के मध्य था। इन षासकों ने हिमालय के पर्वतीय हिन्दू राज्यों में घुसपैठ की थी। मुहम्मद तुगलक ने इस कारण राज्य की उत्तरीसीमाओं को सुरक्षित करने के लिये इस पर्वतीय क्षेत्र में सैनिक कार्यवाही की। एक विषाल ऐसा (एक लाख) खुसरों मलिक के नेतृत्व में इस क्षेत्र में भेजी गई। सेना ने जिद्दा क्षेत्र जीत लिया। सुल्तान का हुक्म था कि जिद्दा से आगे प्रस्थान न किया जाय लेकिन खुसरों मलिक ने सुल्तान की आज्ञा के विपरीत आगे बढ़ना जारी रखा तथा तिब्बत की ओर अग्रसर हुआ। इस असावधानी के कारण सेना पर्वतीय क्षेत्र में फँस गई, वर्षा तथा मौसम की खराबी के कारण महामारी फैल गई। पहाड़ी लोगों ने भी बड़े-बड़े पत्थर दिल्ली की सेना पर लुढ़काना

भारत का इतिहास

शुरू कर दिया। आक्रमण पूर्णतया विफल हो गया। केवल कुछ ही सैनिक (बरनी के अनुसार दस और इब्नबतूता के अनुसार तीन) जीवित लौट सके। इस प्रकार खुरसरो मलिक की मूर्खता के कारण सुल्तान को भारी नुकसान हुआ लेकिन इसका एक अच्छा परिणाम यह निकला कि इस आक्रमण के बाद पहाड़ी राज्यों ने मुहम्मद बिन तुगलक को धन, देना स्वीकार कर लिया। नगर कोट की विजय इसी संदर्भ में की गई और कराचल पर चढ़ाई से उसका सम्बन्ध स्थापित होता है। चीन के शासक तोगन तैमूर ने बाद में (1314 ई.) एक राजदूत दिल्ली भेज कर कुछ बौद्ध मन्दिरों की मरम्मत की आज्ञा भी सुल्तान की इस क्षेत्र में शक्ति के कारण ही मांगी। सम्भवतः ये मन्दिर कराचल पर चढ़ाई के समय ध्वस्त हो गये थे।

उपरोक्त वर्णन के बावजूद कराचल पर आक्रमण को खुरासान विजय योजना से सम्बन्धित कर दिया गया। उसने लिखा था कि खुरासान जीतने के लिये सुल्तान ने यह आवश्यक समझा कि हिन्दुस्तान और चीन के बीच स्थिति पहाड़ी राज्यों के पहले जीता जाये क्योंकि वह इन्हें खुरासान योजना का अंग समझता था जो गलत है क्योंकि कराचल पहाड़ी क्षेत्र खुरासान की और प्रस्थान में बाधक नहीं थे। ये तो

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

कृकृ

चीन तथा तिब्बत की ओर पड़ते हैं। उत्तर कालीन लेखक फरिष्ता ने करनी की त्रुटि को दूर करते हुये कराचल आक्रमण को चीन पर आक्रमण का रूप देते हुये उसका एक हिस्सा बताया। लेकिन यह भी गलत है क्योंकि सुल्तान की चीन पर आक्रमण की कोई योजना नहीं थी आधुनिक विद्वान वूलजे हेग ने कराचल आक्रमण को नगर कोट की विजय से जोड़ दिया। ईश्वरी प्रसाद ने कराचल के आक्रमण को पर्वतीय राज्यों का आक्रमण माना है जहां चंद वंश के राजपूत राज्य करते थे। महदी हुसैन ने भी कराचल को कुमायूं क्षेत्र के हिन्दू राज्यों से जोड़ा है।

नगर कोट को विजय

कराचल पर चढ़ाई से पहले या बाद में मुहम्मद तुगलक ने नगर कोट पर आक्रमण किया। बद्रचाच के एक कसीदे के अनुसार नगरकोट की विजय 1337 में की गई थी। इस विजय का वर्णन बरनी की भूमिका के रूप में अफीफ ने अपनी तारीख-ए-फिरोजशाही में किया है। जिससे प्रकट होता है कि मुहम्मद बिन तुगलक ने नगर कोट जीतने के बाद उसे वहां के शासकों के हाथ में ही छोड़ दिया था तथा प्रसिद्ध ज्वालामुखी के मन्दिर को भी कोई नुकसान नहीं पहुंचाया।

मुहम्मद तुगलक की असफलताओं के कारण

मुहम्मद तुगलक के आदर्श बड़े ऊंचे थे, उसने राज-कार्य में बड़ी रुचि ली, नई-नई योजनायें भी बनाई, लेकिन दुर्भाग्यवश वह एक असफल सुल्तान रहा जिसकी मरत्यू पर को संतोश मिला और सम्भवतः प्रजा से सुल्तान की आत्मा को भी। मुहम्मद की विफलता के मूल प्रजा में मुख्यतः निम्नलिखित चारित्रिक प्रशासनिक, धार्मिक और राजनीतिक कारण निहित थे—

1. मुहम्मद तुगलक के चरित्र में विरोधी तत्वों का इतना विचित्र सम्मिश्रण था कि जनता उसे कभी नहीं समझ सकी। स्वयं उसकी भी यह गलती रही कि उसने प्रजा को अपने वास्तविक विचारों से परिचित कराने का प्रयत्न नहीं किया। उसके विलक्षण चरित्र ने एक ओर मुस्लिम और धार्मिक वर्ग को नाराज कर दिया तथा दूसरी ओर बहुसंख्यक गैर-मुस्लिम प्रजा भी उससे सन्तुष्ट नहीं रह सकी।

2. मुहम्मद तुगलक ने भी प्रशंसनीय योजनायें तो बनाई, वे किन्तु असफल सिद्ध हुईं। राजधानी परिवर्तन सांकेतिक मुद्रा का चलन, दोआब में कर वषट्ति आदि कार्यों की असफलता के कारण साम्राज्य को जन-धन की अपार क्षति हुई। लगभग प्रत्येक षाही कदम जनता के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ अतः लोग उसके विरोधी हो गए।

3. मुहम्मद तुगलक के स्वतंत्र उदार और सहिष्णुतापूर्ण विचार तत्कालीन युग

अनुरूप नहीं थे। वस्तुतः यह सुल्तान अपने समय से आगे था और अपने प्रगतिशील विचारों के कारण रूढ़ीवादी मुस्लिम जनता में अप्रिय हो गया। उलेमा वर्ग, जिसका मुस्लिम प्रजा पर बड़ा प्रभाव था, सुल्तान से असन्तुष्ट बना रहा।

4. सुल्तान ने अपनी दानशीलता, प्रीतिभेज-प्रियता और उपहार देने की आदत के कारण राजकोश को जबरदस्त आर्थिक हानि पहुंचाई। प्रजा की समर्प भी नहीं हो सकी, अतः साम्राज्य पतन और विघटन की ओर अग्रसर हो चला।

5. मुहम्मद तुगलक यद्यपि उदार और कोमल हृदय था, लेकिन क्रोध आने पर वह राक्षस जैसा व्यवहार करता था। अपने निर्दयतापूर्ण और अमानुषिक दण्डों के कारण उसने चारों ओर आतंक पैदा कर दिया। लोग उसे हत्यारा समझने लगे और स्थिति यह बन गई कि साधारण से अपराध पर भी लोगों को सनकी सुल्तान द्वारा प्राण दण्ड या कठोर दण्ड का भय सताने लगा और सुल्तान के सामने पेश होने के बजाय उन्होंने बगावत का झण्डा उठा लेने को उपयुक्त समझा। सुल्तान के विरुद्ध जो अनेक विद्रोह हुए उनमें कुछ तो केवल सुल्तान द्वारा दण्डित किये जाने के भय

से हुए।

6. प्रजा में सुल्तान की मौलिक और उपयोगी सुधार योजनाओं को समझने की क्षमता नहीं थी।

परिणाम यह हुआ कि सुल्तान और प्रजा के बीच पारस्परिक विश्वास की भावना पैदा नहीं हो सकी। सुल्तान को प्रजा का सहयोग नहीं मिला और उसकी प्रत्येक योजना असफल हुई।

7. मुहम्मद तुगलक को वैसे योग्य और विश्वसनीय सलाहकार तथा सेनापति नहीं मिल सके जैसे अलाउद्दीन खिलजी को उपलब्ध थे। उसका कोई हितैषी मित्र नहीं था जो उसे ठीक तरह से उसकी योजनाओं के दोष बताता जिस तरह अलाउलमुल्क अलाउद्दीन को बताया करता था। 8. प्रतिकूल परिस्थितियों ने भी सुल्तान की आशाओं और योजनाओं पर पानी परो दिया। प्राकृतिक प्रकोपों दुर्भिक्ष महामारी आदि ने प्रजा को अनेक कष्ट पहुंचाए और कई

भारत का इतिहास

सैनिक अभियानों को असफलता में परिणत कर दिया। इसमें साम्राज्य के कोश को भारी हानि पहुंची।

9. मुहम्मद तुगलक ने दक्षिण को नीति में विवेक का परिचय नहीं दिया। अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण पर हमला तो किया था लेकिन वहां सुदूर प्रदेशों को साम्राज्य में मिलाने की कोषिष नहीं की थी। मुहम्मद तुगलक ने दक्षिण को साम्राज्य का अंग बनाने की गलत नीति अपनाई जो असफल सिद्ध हुई।

10. मुहम्मद तुगलक का यह भी दुर्भाग्य था कि उसके विश्वसनीय सूबेदारों और पदाधिकारियों ने ही उसके विरुद्ध विद्रोह करके साम्राज्य की सैनिक शक्ति और स्थिरता को भारी हानि पहुंचाई। अवध का सूबेदार एन-उल-मुल्तानी सुल्तान का मित्र और चोटी का अनुभवी अमीर था पर उसने इस आदेश के पीछे सुल्तान की कोई बुरी मंशा नहीं थी। जिन विदेशी अमीरों पर सुल्तान ने भरोसा किया उसमें से अधिकांश ने सुल्तान के साथ धोखा किया।

11. सुल्तान की असफलताओं का एक बड़ा कारण यह भी रहा कि अपनी कठिनाइयों और सल्तनत के प्रति विद्रोहों आदि पर कभी शान्ति के साथ विचार विमर्श नहीं किया और कठिनाइयों का ठोस मूल्यांकन करके उनके निवारण के लिए कदम नहीं उठाया। इस प्रकार सुल्तान की नीतियों में स्थायित्व और मूल्यांकन की कमी रही। संक्षेप में इन्हीं सब कारणों से सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक एक असफल शासक सिद्ध हुआ।

मुहम्मद तुगलक का चरित्र एवं मूल्यांकन.

मुहम्मद तुगलक मध्य युग का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्राट था। उसने अपने दस साल के शासन में दिल्ली साम्राज्य को सुदूर दक्षिण तक फैलाया। परन्तु अपनी मृत्यु से पूर्व उसने सब कुछ खो दिया। उसकी विजयों का वास्तव में इतना महत्व नहीं है जितना कि उसके द्वारा किये गये विभिन्न प्रयोग का। मध्य में, क्योंकि सुल्तान विरोधी गुण और दोशों का मिश्रण था अतः मध्य और आधुनिक युग के इतिहासकारों ने उसके बारे में भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये हैं। बरनी के अनुसार सुल्तान एक अत्यन्त उच्च कोटि का विद्वान था। वह अरबी, फारसी गणित नक्षत्र विद्या भौतिक शास्त्र तर्क शास्त्र तथा दर्शन और हिकमत (चिकित्सा शास्त्र) में पारंगत था। वह एक अच्छा कवि था और उपमाओं और अलंकारों का प्रयोग बहुधा किया करता था। उसकी लेखनी बहुत सुन्दर थी और वह रचना तथा पैली का पूर्ण ज्ञाता था। वह एक अच्छा सेना नायक था और मंगोलों के विरुद्ध कई युद्धों में विजयी होकर प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। वह उदार हृदय था और विद्वानों को बहुत पुरस्कार देता था। वह शराब नहीं पीता था और इसके सेवन पर उसने अपनी प्रजा में प्रतिबन्ध लगा दिया था। वह स्वयं विलासी नहीं था और सैनिक शिविरों में यों को रखने की आज्ञा नहीं देता था परन्तु उसे गाने-बजाने और नाच देखने में हिचकिचाहट नहीं होती थी। सुल्तान एक न्याय प्रिय शासक भी था।

यद्यपि सुल्तान में बहुत से गुण थे परन्तु कई ऐसे अवगुण भी थे जिसके कारण उसे सारे जीवन परेशान रहना पड़ा। उसकी जनता दुखी हो गई और उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। सुल्तान मुहम्मद तुगलक के पास व्यावहारिक ज्ञान की कमी थी। वह दूरदर्शी और मानव प्रकृति का अच्छा ज्ञाता नहीं था। सुल्तान मुहम्मद तुगलक के विरुद्ध आरोप लगाया जाता है कि वह खून का प्यासा था और उसे खून बहाने में आनन्द प्राप्त होता था। लेकिन

बरनी का यह मानना है कि उसे खून बहाने का षौक तो नहीं था, परन्तु वह अपना तनिक भी विरोध सहन नहीं कर सकता और विरोधियों को पूर्णतया दबाने के लिए ऐसे कठोर दण्ड देता था जिससे दूसरे विद्रोही भी शिक्षा ग्रहण करें। वह अपनी प्रजा को पूर्ण स्वामिभक्त बनाना चाहता था परन्तु वह उसकी अपनी गलतियों के कारण स्वामिभक्त न बन सकी। यहां यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि सुल्तान छोटे-छोटे अपराधों के लिए बहुत कठोर दण्ड देता था जो कि न्यायोचित नहीं करे जा सकते। इस बात का वर्णन बरती और इब्नबतूता दोनों ने किया है। डा. आर. सी. मजूमदार

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

ने तो यहां तक लिखा है, सुल्तान मुहम्मद तुगलक को क्रूरता और सनक के आरोप से मुक्त नहीं किया जा सकता।

कुछ इतिहासकारों ने मुहम्मद तुगलक को पालग की संज्ञा से विभूषित किया है। एल्फिन्सटन पहला इतिहासकार था जिसने यह विश्वास प्रकट किया कि मुहम्मद तुगलक में कुछ पालगलपन का अंश विद्यमान था। बाद में यूरोपीय इतिहासकारों ने बहुत कुछ अपना समर्थन प्रदान किया है। लेकिन यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से देखें तो यहीं कहना उचित होगा कि मुहम्मद तुगलक पागल नहीं था। डा. ईश्वरी प्रसाद और गार्डनर ब्राउन ने सुल्तान को पालगल नहीं माना है, साथ तत्कालीन लेखक बरनी और इब्नबतूता ने भी सुल्तान पर यह आरोप नहीं लगाया है। हां, हम उसे एक असफल शासक मान सकते हैं जिसने अपनी नई-नई योजनाओं को लागू करने के षौक में साम्राज्य को जन-धन की अपार हानि पहुंचाई और इतिहासकारों को यह कहने का मौका दिया कि वह पागल था।

अन्त में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मुहम्मद तुगलक दूरदर्शी और मानव प्रकृति का अच्छा ज्ञाता नहीं था। उसे व्यावहारिक ज्ञान कम था और अपना तनिक भी विरोध सहन न करने के कारण आवश्यकता से अधिक सख्त सजायें देता था। वह अपनी प्रजा की भावनाओं की तनिक भी परवाह नहीं करता था, इसलिए उसकी प्रजा उसके विरुद्ध हो गई। सुल्तान अपने मन का सन्तुलन खो बैठा और क्रूरता पर उतर आया, इसलिए सारे साम्राज्य में विद्रोह की आग भड़क उठी। उसने अपनी बुराइयों के कारण अपनी मृत्यु से पूर्व अपने साम्राज्य को जड़ से हिला दिया। उसकी प्रत्येक योजना असफल रही क्योंकि, उसमें दूरदर्षिता और व्यावहारिक ज्ञान की सख्त कमी थी। वह अपने मंत्रियों से बहुत कम सलाह करता था, इसलिए उसे और उसकी प्रजा को बहुत दुःख सहन करने पड़े। दिल्ली साम्राज्य के पतन में उसकी काफी जिम्मेदारी थी और इससे उसे मुक्त नहीं किया जा सकता।

इकाई सारांश

सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक 1324 ई. में अपने पिता की मृत्यु के बाद सुल्तान बना था लेकिन विधिवत रूप से 1325 ई. में ही उसका राज्यारोहण हुआ। सुल्तान कुषाग्र बुद्धि आश्चर्य जनक स्मरण शक्ति एवं असीम ज्ञान-पिपासु था। वह कलाओं और ज्योतिष का महान ज्ञाता था। एक सच्चे मुस्लिम की भांति आचार व्यवहार करता था। स्वभाव से उदार एवं निष्पक्ष था लेकिन वह एक शासक की दृष्टि से नितांत असफल रहा। 26 वर्ष के दीर्घकालीन शासन में उसे कोई सफलता नहीं मिली थी। सिंहासनारोहण के समय जो कुछ मिला था उसका भी अधिकांश भाग वह खो चुका था। रही सही प्रतिष्ठा उसकी राजधानी,

भारत का इतिहास

दो आव में कर वर्षद्धि एवं कृशि विभाग की स्थापना सांकेतिक मुद्र की प्रचलन एवं खुरासान व कराचल के विजय अभियानों जैसी योजनाओं के कारण धूल में मिल गई। षासन को नये ढांचे में ढालना तथा राजस्व व्यवस्था व मुद्रा को वैज्ञानिक आधार पर खड़ा करना, ये उसकी योजनायें थी जो निश्फल सिद्ध हुई। इनके विरुद्ध भयंकर प्रतिक्रिया हुई और उसे जनता के आधार कोप का भाजन बनना पड़ा। वह न्यूनता का ऐसा पुजारी था कि वह व्यावहारिकता की उपेक्षा करके कार्यारम्भ कर देता था। उसे अपनी बुद्धिमत्ता का ऐसा दंभ था कि वह किसी निर्णय कर पहुंचते ही उसे तुरंत कार्यान्वित करने के लिए उतावला हो जाता था। और एक कार्य को लागू करके उसे पूर्ण तक पहुंचाये बगैर ही वह दूसरा कार्य शुरू कर देता था। परिणाम स्वरूप एक कार्य तो अपूर्ण रहता ही था दूसरा कार्य भी पूर्ण नहीं हो पाता था इसी कारण उसे बहुत क्षति उठानी पड़ी। परन्तु उसकी षासन संबंधी सभी योजनाएँ असफल रही हो ऐसी बात नहीं है। प्रारंभिक वर्षों में नई व्यवस्था सफल रही जिसे बन से स्वीकार किया है। केन्द्रीय षासन का उसने विस्तार किया वह हितकर ही था। अकाल पीड़ितों की सहायता, कशि विकास के प्रयत्न धर्म निरपेक्षता का बढ़ावा देना, दीन दुःखियों की सहायता करना किसी दषा में असफल या अहितकार सिद्ध नहीं किये जा सकते। सुल्तान की युद्ध नीति इतनी विषद, व्यापक एवं सुरुचिपूर्ण थी कि उसके आधार पर उसकी काफी प्रशंसा की गई है। अस्तु, यह प्रकट है कि सुल्तान का षासनकाल कई अर्थों में प्रशंसनीय एवं स्तुत्य है। लेकिन यह उसका दुर्भाग्य था कि इतिहासकारों ने उसकी असफलताओं का अतिरंजित वर्णन किया है जो भ्रामक है।

सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक की मष्यु (1351 ई.) के बाद दिल्ली की गद्दी पर बैठने वाला उसका चचेरा भाई फिरोज था, जिसका जन्म 1309 ई. में पंजाब में हुआ था। उसका पिता नासिरुद्दीन रजब था जिसका विवाह अवरोहर के हिन्दू सरदार रायमल की बेटी बीबी नाइला (षादी के बाद बीबी कद

बानों) से हुआ था। उसके पिता रजब की मष्यु के बाद गयासुद्दीन तुगलक एवं मुहम्मद तुगलक ने उसे संरक्षण दिया एवं उसने विभिन्न उच्च पदों को सुषोभित किया। सुल्तान मुहम्मद तुगलक की मष्यु के समय फिरोज थट्टा में मौजूद था।

मुहम्मद तुगलक की मरत्यु सिंध प्रान्त के थट्टा के पास सोंडा नामक स्थान पर हुई थी जहां पर सुल्तान विद्रोही तगी का पीछा करता हुआ पहुंचा था। अचानक मष्यु होने कारण षाही सेना अमीरों में घबराहट फैल गई क्योंकि वे लोग अनजान देश में बिना नेता नहीं रह सकते थे। जब सुल्तान की मष्यु का समाचार मंगोलों एवं विद्रोहियों ने सुना तो उन्होंने तुर्क सेना पर आक्रमण करके औरतों, बच्चों, घोड़ों और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को लूट लिया। थट्टा के विद्रोहियों ने भी अपनी गतिविधियां तेज कर दीं। ऐसे हालत में षाही काफिले ने अपना एक नेता चुनना उपयुक्त समझा। वहां पर मौजूद अमीरों, दरबारियों, खानों, षेखों उलेमाओं सभी ने एक स्वर से मलिक फिरोज को नेता

मलिक फिरोज को नेता चुनना चाहा लेकिन एक ऐसा दल भी था जो मुहम्मद तुगलक की बहिन खुदावन्द बेगम के बेटे दांवर मलिक को सुल्तान बनाना चाहता था। ऐसी अवस्था में अमीरों, षेखों एवं दरबारियों ने दृढ़ता से अल्पवयस्क के बजाय किसी प्रौढ़ व्यक्ति को अपना

सुल्तान बनाने का संकल्प किया। लेकिन फिरोज सुल्तान बनने को तैयार नहीं था, क्योंकि वह एकान्त—प्रिय एवं धार्मिक प्रवृत्ति का था। उस पर अमीरों व दरबारियों ने कहा कि यदि तुम इस वक्त सुल्तान नहीं बनते हो तो मंगोल एवं विद्रोही इस बात को सुनेंगे और हममें से एक भी यहां से बचकर नहीं जा पायेगा। ऐसी विशम परिस्थिति में मलिक फिरोज ने सुल्तान बनना स्वीकार कर लिया। मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के तीन दिन बाद 23 मार्च 1351 ई. फिरोज दिल्ली सल्तनत की गद्दी पर आसीन हुआ।

राज्यारोहण के बाद फिरोज ने दिल्ली की तरफ प्रस्थान किया। रास्ते में उसे ख्वाजा जहां का एक दूत मिला जो एक पत्र लेकर आया था जिसमें लिखा था कि सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु के बाद ख्वाजा जहां ने उसके पुत्र को सुल्तान बना दिया है और इस संदर्भ में आपसे वांछनीय सहयोग की अपेक्षा की जाती है। इस खत से फिरोज एक नई उलझन में पड़ गया। किन्तु अमीरों की सलाह के बाद सुल्तान फिरोज तुगलक के पुत्र के अधिकार को अस्वीकृत कर दिया और दिल्ली की ओर बढ़ता रहा। ख्वाजा जहां ने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया और अपने कार्य के लिये क्षमा मांगी। इस तरह दिल्ली में भी फिरोज को सुल्तान स्वीकार कर लिया गया।

फिरोजतुगलक की समस्याएँ एवं सुधार (गृह नीति)

फिरोज के राज्याभिषेक के समय तुगलक राज्य विघटन तथा दुर्बलता के गर्त में गिर चुका था। जिस समय मुहम्मद बिन तुगलक सिंहासन पर बैठा उस समय उड़ीसा, आसाम, नेपाल, कश्मीर तथा राजस्थान के कुछ भागों को छोड़कर समस्त भारतवर्ष तुगलक साम्राज्य का अंग था। किन्तु मुहम्मद बिन तुगलक के निधन तथा फिरोज के सिंहासन पर बैठते समय विषाल राज्य सिकुड़ कर काफी छोटा हो गया था। विद्रोहों तथा उनकी सफलता के कारण सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के अंतिम काल में दक्षिण स्वतंत्र हो गया था व बहमनी तथा विजय नगर राज्यों की स्थापना हो चुकी थी, पूर्व में बंगाल पूर्णतया स्वतंत्र हो गया था व बंगाल के स्वतंत्र सुल्तान बिहार पर अधिकार जमाने की चेष्टा करते रहते थे। पश्चिम में सिंध सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु तथा फिरोज के शासक बनते समय विद्रोहियों के अधिकार में आ गया था। इन स्वतंत्र राज्यों के अतिरिक्त जो भाग अभी दिल्ली सल्तनत के अंग थे उनमें विद्रोह तथा कोलाहल मचा हुआ था। स्थानीय सरदारों जगह-जगह पर सरकार से सम्बन्ध विच्छेद कर लिये थे तथा कर इत्यादि देना बन्द कर दिया था। कांगड़ा, अवध, गोरखपुर तथा तिरहुत के हिन्दू सामन्तों ने कर देना बन्द कर दिया था, गुजरात तथा पंजाब पर सिंध के सफल विद्रोही मंगोलों को आक्रमण करने के लिये, उकसा रहे थे। इस राजनीतिक विघटन के अतिरिक्त आर्थिक परिस्थिति भी बहुत षोचनीय थी। मुहम्मद के युग में जो नयी-नयी योजनाएँ लागू की गई थी उनकी असफलता ने राज्य की आर्थिक स्थिति को खोखला कर दिया था। उसकी मृत्यु के बाद वजीर अहमद अययाज ने भी काफी धन अपना पक्ष मजबूत करने में लगा दिया था। राजनीतिक आर्थिक जटिलताओं के बीच समस्या राज्य में फिर से शांति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने की थी। प्रजा में चारों ओर निराशा विद्रोह तथा असंतोश व्याप्त था। फिरोज की नीतियों तथा कार्यों का उचित मूल्यांकन इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए।

भारत का

इतिहास (1200 से 1739 तक)

भारत का इतिहास

शान्ति व्यवस्था की स्थापना—

दिल्ली पहुंच कर सुल्तान फिरोज ने राज्य के प्रत्येक वर्ग को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया। उसने सामन्तों उत्तमाओं तथा अधिकारियों को इनाम, जागीर तथा सम्मान प्रदान किये। पिछले शासन काल में दण्डित अपराधियों को रिहा कर दिया गया। याहतायें देने की प्रथा का अन्त किया गया तथा मुहम्मद के द्वारा जिन लोगों को अत्यधिक सजायें दी गई थी। उनको या उनके वंश जो को विशेष धन देकर संतुष्ट ही नहीं किया गया, बल्कि उनसे मृतक सुल्तान की आत्मा की शान्ति के लिए क्षमा पत्र लिखा कर सुल्तान की कब्र पर रखवा दिये गये। मुहम्मद बिन तुगलक के समय में लगभग दो करोड़ रुपये उधार के रूप में किसानों में सहायता के लिये बांट दिये गये थे और काफी धन वजीर अहम्मद अययाज ने भी लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए बांटा था। समस्त धन प्राप्त करने वालों के नामराज्य के कागजों में दर्ज थे लेकिन फिरोज ने दया की नीति अपनाकर इस समस्त धन को माफ कर दिया तथा वह कागजात जिसमें यह दर्ज था दरबार में खुले रूप से जलवा दिये। इस प्रकार शासन का आरम्भ क्षमा व उदारता के साथ किया गया।

शासन का पुनर्गठन करने के लिये फिरोज ने योग्य किंवा मुल्क मकबूल को प्रधानमंत्री नियुक्त किया। शासन सुधार तथा पुर्नगठन में सुल्तान ने विषुद्ध इस्लामी विचारधारा का सिद्धांत, तथा परिपाटी जो भारतीय परंपराओं व मूल्यों से सर्वथा विपरीत थे। अपनाने की घोषणा की। शरियत को शासन का आधार बनाकर अधिकाधिक गैर इस्लामी प्रजा को त्याग कर इस्लामी नियमों के आधार पर शासन शुरू किया गया। स्वाभाविक था कि उलमा, सूफी संतों तथा कट्टर सन्नी वर्ग का फिरोज को विश्वास प्राप्त था। उसने इस्लामी राज्य व्यवस्था अपना कर मुसलमानों की भौतिक तथा नैतिक उन्नति के लिये अधिकाधिक प्रयत्न किये और अलाउद्दीन खिलजी के समय से जो शासन प्रथायें प्रचलित हुई थीं उनका अन्त करके प्रतिक्रियावादी तथा संकण विचारों पर आधारित इस्लामी नीतियां अपनाई। फिरोज के शासन की यह विशेषता थी कि उलमा, सैनिक सामन्त तथा साधारण मुस्लिम प्रजा सब ही संतुष्ट थे। धार्मिक क्षेत्र तथा नीति निर्धारण में फिरोज ने उलमा द्वारा बताये हुये मार्ग को ग्रहण किया। शासन संचालन में उसे सामन्तों को अधिकाधिक सत्ता प्रदान की तथा साधारण मुस्लिम प्रजा के सुध सुविधा तथा सहायता के लिये अनेक जनहित कार्य किये। परिणामस्वरूप फिरोज की राज्य व्यवस्था तथा शासन इस्लामी जनहित राज्य (पेसंउपबमसतिमैजंजम) बन गया।

राजस्व — सुधार

फिरोज ने सबसे पहले आर्थिक क्षेत्र में कार्य किया। मुहम्मद बिन तुगलक के काल में अत्यधिक करों तथा अकालों के कारण राज्य तथा प्रजा की आर्थिक दशा बहुत षोचनीय थी। शरियत का पालन करते हुये फिरोज ने केवल इस्लामी करों को लागू करने का निष्पत्ति किया और अन्य समस्त गैर इस्लामी करों को समाप्त कर दिया। समकालीन लेखकों ने तथा सुल्तान फिरोज ने स्वयं भी अपनी फतूहात—ए—फिरोजशाही में 26 गैर इस्लामी करों को समाप्त करने का वर्णन किया है तथा इसकी सूची भी दी है। यह समस्त गैर इस्लामी कर अबवाव कहे गये हैं। तथा अधिकांश चुंगी, चारागाह या मकान के कर के रूप वसूल किये जाते थे। गैर इस्लामी करों की समाप्ति के बाद फिरोज ने केवल इस्लाम द्वारा मान्य द्वारा तान्य खराज, खम्स, जकात तथा जजिया करों को ही वसूल किया। कर व्यवस्था को ठीक

करने तथा राज्य की आमदनी का फिर से निश्चित करने के लिये ख्वाजा हिसामुद्दीन जुनैद को नियुक्त किया गया। इस अधिकारी ने सारे राज्यों का भ्रमण किया तथा व्यक्तिगत निरीक्षण के पश्चात् जिसमें 6 वर्ष लगे, समस्त लगान (खराज) खालसा भूमि पर 6 करोड़ 65 लाख निश्चय किया जिसमें फिरोज के शासन के सम्पूर्ण 37 वर्ष के काल में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि फिरोज ने भूमि की नाप तथा उपज को भूमिकर का आधार नहीं माना बल्कि अनुमान तथा स्थानीय जानकारी और पुराने अनुभव पर ही लगान हमेशा के लिये निश्चित कर दिया। मूलतः फिरोज की लगान निर्धारित करने की पद्धति दोषपूर्ण थी लेकिन इसका विशेष लाभ यह हुआ कि हमेशा के लिए स्थायी रूप से भूमिकर निश्चित होने से किसानों को काफी राहत मिली। किसानों पर आर्थिक भार को कम करने के अतिरिक्त फिरोज ने सूबेदारों, अधिकारियों तथा गांव के मुखिया खुत तथा मुकद्दमों से वार्षिक भेंट देने वाले रकम किसानों से ही एकत्रित किया करते थे। खराज भूमिकर के अतिरिक्त फिरोज ने खम्स— युद्ध में प्राप्त लूट का धन भी इस्लामी सिद्धान्तों पर आधारित किया। इस्लामी कर पद्धति के अनुसार लूट का

1/5 भाग राज्य को तथा 4/5 भाग सैनिकों को देने की व्यवस्था थी लेकिन अलाउद्दीन खिलजी ने इस अनुपात का उलट दिया था और वह सैनिकों को 1/5 भाग सैनिकों में 4/5 भाग बांटने की व्यवस्था की। जकात केवल मुसलमानों से ही 21 प्रतिशत उनकी आमदनी की 2.05रु वसूल की जाने लगी और इस कर से जो आय होती थी उसको इस्लाम धर्म तथा दान के लिए खर्च किया जाने लगा जो इस कर का वास्तविक उद्देश्य था। जिजिया गैर मुसलमानों से 40, 20, 10 की दर से क्रमशः मालदार, मध्य वर्ग तथा गरीब लोगों से वसूल किया गया। इस कर की वसूली में फिरोज ने काफी कठोरता दिखलायी तथा ब्राह्मणों को भी इस कर से मुक्त नहीं किया गया जैसा कि पहले सुल्तानों ने कर रखा था।

उपर्युक्त चार करों के अतिरिक्त बाद में फिरोज ने सिचाई कर भी वसूल करना शुरू किया क्योंकि खेती की उन्नति के लिये उसने जो नहरे खुदवाई थीं उनके किसानों को काफी लाभ हुआ था। सुल्तान ने उलमा की स्वीकृति से उन किसानों पर जो सरकारी नहरों से पानी सिचाई के लिए प्राप्त करते थे उपज का 1/10 भाग लेना निश्चय किया। उपर्युक्त करों के अतिरिक्त कोई अन्य वसूली या अधिकर वसूली करने को निषेध किया गया और राजस्व विभाग के अधिकारियों को इस आज्ञा के उल्लंघन करने पर दण्ड दिया जाने लगा। कर वसूल करने वाले राजस्व विभाग के अधिकारियों को समुचित वेतन, जागीर तथा भत्तों के रूप में दिया गया, ताकि वे किसानों का शोषण न करें।

नहरें

2

कर व्यवस्था सुधार के अतिरिक्त फिरोज ने खेती की उन्नति के लिये नहरें भी खुदवाईं। यह फिरोज के शासन की एक विशेषता कही जाती है क्योंकि पहले किसी सुल्तान ने इस क्षेत्र में की कार्य नहीं किया था। पांच प्रसिद्ध नहरों का वर्णन समकालीन इतिहासकारों ने किया है। पहली सतलज नदी से निकल कर झज्जर रोहतक तक ले जाई गई दूसरी पहाड़ियों से हांसी तथा हिसार तक लाई गई, तीसरी घग्घर नदी से सिरसा तक ले जाई गई, चौथी जमुना से फिरोजाबाद दिल्ली तक ले जाई गई। पांचवी मरकंडा नदी से निकल कर

भारत का इतिहास

सरस्वती नदी में मिलाई गई जिससे सरहिन्द सुन्नाम तथा मंसूरपुर में पानी पहुंच सका। आधुनिक युग में इंजीनियरों ने फिरोज की ही नहरों का विस्तार करके पंजाब की प्रसिद्ध नहरें विकसित की हैं।

बाग

नहरों के अतिरिक्त फिरोज ने लगभग 1200 बाग भी दिल्ली के आसपास लगवाये जिनमें फल तथा मेवों की अत्यधिक उपज हुई। इन बागी से भी राज्य आमदनी में 80 हजार प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई तथा फल भी सस्ते उपलब्ध हो सके। एक समकालीन लेखक अफीफ ने तो यहां तक लिखा है कि इन बागों के कारण अंगूर एक जीतल प्रति सेर बिकने लगा।

परिणाम

यद्यपि फिरोज की राजस्व नीति में कई दोष थे जैसे जजिया का विस्तृत किया जाना, जागीर प्रथा का फिर से चलाया जाना उसने पिछले 70 वर्षों की जागीरें फिर बहाल कर दी थीं जो बलबन तथा अलाउद्दीन के काल में छीन ली गई थी लेकिन फिर भी उसकी नीति को तत्काल सफलता मिली। खेती का विस्तार तथा उपज में वृद्धि हुई अधिक अच्छी प्रकार की फसले बोई जाने लगी तथा अधिक उपज के फलस्वरूप भाव सस्ते हो गये व कपड़ा तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुएं जैसे फल इत्यादि काफी सस्ते उपलब्ध होने लगे। पहले अलाउद्दीन खिलजी का शासनकाल सस्ते भावों के कारण प्रसिद्ध था लेकिन फिरोज का शासन काल सस्ते भावों की दृष्टि से अलाउद्दीन से अधिक सफल सिद्ध हुआ। अलाउद्दीन के समय में सस्ते भाव तो जोर जबरदस्ती तथा बाजार पर नियन्त्रण के परिणाम थे लेकिन फिरोज के समय भाव में सस्तापन बिना कड़े उपायों से आर्थिक परिस्थितियों में सुधार के कारण था। अनाज इतना सस्ता था कि गेहूं 8 जीतल प्रति मन, चला 4 जीतल प्रति मन और जनवरों के उपयोग में आने वाला अनाज 1 जीतल 10 सेर तक मिल जाता था। मूंग तथा दालें चार टंका प्रति मन थीं। फलों में अंगूर 1 जीतल प्रति सेर तथा वस्त्र भी काफी सस्ते मिल जाते थे। खुषहाली तथा आर्थिक समृद्धि के कारण किसानों के घरों में सोना, चांदी फर्नीचर, घोड़े तथा अन्य जानवर दिखाई देने लगे। स्त्रियों में जेवर का प्रचलन बढ़ गया और सभी सुख से रहने लगे। खेती की सुविधाओं के कारण केवल दोआब में ही 52 नई बस्तियां बस गईं।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक) 42

सैनिक व्यवस्था

सैनिक प्रबन्ध की जिम्मेदारी फिरोज ने अपने विश्वास पात्र मलिक इमादुल्मुल्क को सौंपी। शासन के प्रारम्भ में सुल्तान ने वंशगत नियुक्तियों की प्रथा अपना ली। यदि अधिकारी की मृत्यु हो जाती थी तो उसका पद उसके पुत्र, पुत्र न हो तो दामाद, दामाद न हो तो उसके दास दास, न हो तो निकट सम्बन्धी को दिया जाने लगा ! वेतन नगद देने की प्रथा, जो अलाउद्दीन ने चलाई थी त्याग दी गई। सैनिक सेवा वंशगत कर दी गई मृत्यु के पश्चात् पुत्र दामाद या निकट सम्बन्धी तथा कोई न होने पर अन्त में विधवा स्त्री को सौंपने की व्यवस्था की गई। सैनिक सेवा वंशगत हो जाने से योग्यता एवं कुशलता का आधार लुप्त होने लगा।

फिरोज की सेना में लगभग 80 या 90 हजार स्थाई (वरही) सैनिक थे जिनकी भर्ती, वेतन, नियन्त्रण तथा अनुषासन आरिजे ममालिक (सेना मंत्री) की जिम्मेदारी थी। सैनिक तथा सैनिक अधिकारियों को बहुत सुविधा तथा आराम दिया। प्रत्येक दृष्टि से उसका जीवन सुखी हो गया। हर एक के पास व्यक्तिगत नौकर, धन तथा सामान पाया जाने लगा। हुलिया लिखवाने की प्रथा, जो अलाउद्दीन के शासन में प्रचलित की गई थी, त्याग दी गई। वार्षिक निरीक्षण के समय बहुत से अधिकारी अपने दास तथा सेवक, सैनिक के रूप में पेश करके उनके नाम पर वेतन लेने लगे। घटिया किस्म के घोड़े भी सेवा योग्य बताकर प्रस्तुत किये जाने लगे। सुल्तान ने स्वयं ही एक सैनिक को जिसका घटिया घोड़ा राजकीय अधिकारी स्वीकार नहीं कर रहे थे, अधिकारियों को रिश्वत देने के लिए एक सोने का टंका दिया था। उस उदाहरण से रिश्वत के बोलबाले का अनुमान लगाया जा सकता है। सेना के वार्षिक निरीक्षण से बचने तथा अवहेलना करने की शिकायत दीवाने आरिज ने सेना विभाग के अधिकारियों के सम्मुख प्रस्तुत की लेकिन सुल्तान ने को निरीक्षण में समय की छूट दी और कभी-कभी तो सैनिकों तथा अधिकारियों को निरीक्षण से पूर्ण छूट मिल गई।

स्थायी वजही सेना के अतिरिक्त आक्रमण के समय बहुत से अस्थायी गैर वजही सैनिक भी भरती किए जाते थे। ऐसे सैनिकों को जागीरें नहीं दी जाती थीं बल्कि नकद वेतन सेवा के समय दिया जाता था तथा लूट में भी उनका हिस्सा होता था। आक्रमण समाप्त होने के बाद उनकी छुट्टी कर दी जाती थी।

समकालीन लेखक बरनी तथा अफीफ ने फिरोज की दया तथा सैनिकों को सुविधायें प्रदान करने की आलोचना की है। इससे व्यवस्था इतनी भ्रष्ट तथा दोषपूर्ण हो गई थी कि फिरोज को किसी भी आक्रमण में कोई सफलता नहीं मिली।

दास व्यवस्था

दास प्रथा अरबों के समय से ही मुस्लिम शासन पद्धति का अंग बन गई थी। दिल्ली के सुल्तानों ने भी इस प्रथा को प्रचलित रख लेकिन फिरोज ने इसमें सबसे अधिक रुचि दिखाई। उसके शासनकाल में राजकीय दासों की संख्या बढ़कर 1 लाख 80 हजार हो गई थी जबकि उससे पहले सबसे अधिक दास अलाउद्दीन खिलजी के युग में माने जाते थे और उनकी संख्या 50 हजार से अधिक नहीं थी। फिरोज ने दास व्यवस्था का प्रबन्ध करने के लिए पृथक विभाग की स्थापना की तथा दासों को उनकी योग्यता, रुचि के अनुसार शिक्षा तथा कार्य की व्यवस्था की गई, कुछ को सेना में भर्ती कर लिया गया तथा कुछ को अंगरक्षक दल में भर्ती कर दिया गया व बहुत से दासों को भिन्न-भिन्न विभागों में सेवा के लिये नियुक्त किया गया। पायद ही ऐसा कोई विभाग था जिसमें दास अपने-अपने इत्ताओं या क्षेत्रों के दास एकत्र करके सुल्तान को भेज दिया करते थे। सुल्तान की इस रुचि के कारण दासों में संख्या में न केवल के वृद्धि ही हुई बल्कि दासों ने धन एकत्रित करना, शासन में प्रभुत्व बढ़ाना भी शुरु कर दिया। सुल्तान अन्तिम दिनों में इन्हीं दासों ने राज्य उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी हस्तक्षेप किया तथा राजकुमार मुहम्मद का पतन तथा सत्ता के लिए संघर्ष इन्हीं के कारण हुआ जिसका अन्तिम परिणाम तुगलक वंश के पतन के रूप में निकला।

षाही कारखाने

भारत का इतिहास

मध्य युग के इस्लामी शासकों की एक विशेष व्यवस्था शाही आवश्यकता की वस्तुओं की उपलब्धि के लिये शाही कारखाने स्थापित करना था। उस युग के लेखक कारखाने शब्द का प्रयोग वृहद् रूप से करते हैं और उनमें शाही आवश्यकता की वस्तुओं की उत्पत्ति के अतिरिक्त उनको जमा रखने

के लिये गोदाम अथवा भण्डार को भी सम्मिलित करते थे। सभी दिल्ली के सुल्तानों में एक प्रथा प्रचलित थी। लेकिन फिरोज के युग में दास प्रथा के समान इस प्रथा का अत्यधिक विकास तथा विस्तार हुआ। समकालीन लेखक अफीफ ने फिरोज के युग में 36 कारखानों की सूची दी है जिनपर काफी धन खर्च किया जाता था। सारे कारखानों का प्रबन्ध ख्वाजा अब्दुल हसन को सौंपा गया था। प्रत्येक कारखाने में अलग-अलग अधिकारी होते थे और सुल्तान की आवश्यकता तथा आदेश के अनुसार वस्तुयें उपलब्ध की जाती थी। धन के फिजूल खर्ची की दृष्टि से इन कारखानों की आलोचना की जा सकती है लेकिन शाही ठाट बाट के लिए इनका संगठन तथा विकास आवश्यक था।

सुल्तान ने इन कारखानों को इत्ता के बराबर महत्व दिया था। वह कहा करता था कि एक कारखाने के मालिक का महत्व मुल्तान के गवर्नर से कम नहीं है।

मुद्रा व्यवस्था

समकालीन लेखक अफीफ ने फिरोज की मुद्रा व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उसने कई प्रकार के सोने तथा चांदी के सिक्के चलाये लेकिन जैसे सिक्के फिरोज ने चलाये थे वे नये नहीं थे बल्कि उस प्रकार के सिक्के पहले से ही प्रचलित थे। अफीफ के कथन का अर्थ केवल यही प्रतीत होता है कि सिक्कों की संख्या में वृद्धि हो गई ताकि उनकी कमी दैनिक आदान-प्रदान तथा खरीद फरोक्त में न हो। दो नये सिक्के फिरोज के काल में अवश्य प्रचलित किये गये और इनको आधा भाग तथा बीगाहद्धोडीवाल के अनुसार पायका एडवर्ड टॉमस के अनुसार भी कहा जाता था आधा जीतल का आधा भाग तथा बिगाह जीतल का चौथाई भाग था। इतनी कम कीमत के सिक्के गरीब प्रजा की सुविधा के प्रचलित किए गए ताकि उनको एक जीतल से कम कीमत की वस्तुयें खरीदने में सुविधा हो ।

फिरोज को मुद्रा व्यवस्था में प्रचलित भ्रष्टाचार का एक रोचक उदाहरण भी मिलता है। एक साल के अधिकारी कजर शाह के विरुद्ध शिकायत प्राप्त हुई थी कि वह सिक्कों में चांदी की मात्रा छ ग्रैन कम मिलाकर सरकारी चांदी हड़प लेता है। सुल्तान ने शिकायत की खुली जांच का विचार प्रकट किया लेकिन वजीर मकबूल ने गुप्त जांच का सुझाव देकर सुल्तान को गुप्त जांच के लिए राजी कर लिया और जांच के समय सुनारों द्वारा सिक्के पिघलाते समय कोयले में एक ग्राम चांदी रखकर कमी को पूरा दिखाया गया। इस प्रकार आरोप सही होते हुए भी झूठ सिद्ध किया गया। वह फिरोज के समय प्रचलित भ्रष्टाचार की एक और मिसाल है।

परोपकारी कार्य, रोजगार दफ्तर, अस्पताल तथा दान विभाग

बाद

मुस्लिम प्रजा के लिये फिरोज ने कई महत्वपूर्ण तथा नये कार्य किये। इस क्षेत्र में उसका योगदान पूर्ववर्ती सभी सुल्तानों से अधिक तथा प्रशंसनीय था। बेरोजगारी दूर करने के लिये

सुल्तान ने दिल्ली के कोतवाल को आदेश दिया कि राजधानी में बेकारों की सूची प्रत्येक मुहल्ले में जा जाकर निरीक्षण के तैयार की जाये। कोतवाल ने समस्त बेकार मुसलमानों की सूची तैयार की तथा एक रजिस्टर तैयार करके, जिसमें बेकारों के बारे में पूरी जानकारी थी, सुल्तान के सम्मुख पेश किया। सुल्तान ने प्रत्येक बेकार मुसलमान को उसकी योग्यता, रुचि तथा क्षमता के आधार पर उचित नौकरी राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों में दी।

गरीब मुसलमानों की सेहत तथा उनको बीमारियों से मुक्त कराने के लिये सुल्तान ने राजधानी में एक दारुलशफा अस्पताल स्थापित किया जहाँ यूनानी पद्धति से इलाज की व्यवस्था की गई। गरीब मुसलमानों की मुफ्त चिकित्सा तथा भोजन की सुविधा इस दारुलशफा में की गई।

गरीब मुसलमानों की लड़कियों के विवाह में आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए सुल्तान ने राजधानी में एक दीवाने खैरात खोला। ईमानदार अधिकारी सैयद अमीर मीरान इसका अध्यक्ष नियुक्त से किया गया तथा समस्त मुसलमान प्रजा गरीबी से आधार पर सहायता के लिये प्रार्थना पत्र आमन्त्रित किये गये और प्रत्येक प्रार्थी को आवश्यकतानुसार कुछ न कुछ दान दिया गया। हजारों गरीब मुसलमान लड़कियों के विवाह दान विभाग की सहायता से सम्पन्न हो सके।

इस्लामी शिक्षा व साहित्य का संरक्षण

परोपकारी कार्यों में ही नहीं, फिरोज ने शिक्षा का प्रचार में भी योगदान दिया। जकात से प्राप्त अधिकांश धन सुल्तान, मौलवियों, शिक्षकों तथा मदरसों की देखभाल तथा सहायता में खर्च करता था।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

कई हजार गरीब शिक्षकों को, जो मस्जिदों के मकतबों में अध्यापन करते थे सुल्तान ने वजीफे तथा भत्ते दिये। उसके युग में सबसे प्रसिद्ध तथा बड़ा दिल्ली का मदरसा बनवाया गया जिसको उसी के नाम से मदरसा ए फरोजशाही कहा गया। इस मदरसे में बड़े-बड़े विद्वान मौलाना अलाउद्दीन रुमी की अध्यक्षता में कार्य करते थे तथा उच्चकोटि की शिक्षा प्रदान करते थे। सुल्तान की रुचि तथा संरक्षण के कारण उसके युग में कई महत्वपूर्ण ग्रंथ जैसे बरनी की तारीख ए फिरोजशाही जहांगीर सनाथ मुहम्मदी अफीफ की तारीखे ए फिरोजशाही खालिद खानी की इलाइल फिरोजशाही अब्दुल अमीद की दस्तूर अल

भारत का इतिहास

अलबाव, इल्माउल हिसाब सद्रउद्दीन किरमानी की फिकल फिरोजषाही, हमीद कलन्दर की खैरुल मजलिस तथा सुल्तान की फतूहाते फिरोजषाही लिखे गये। इन विद्वानों के अतिरिक्त कुछ ग्रंथ बेनाम विद्वानों द्वारा भी रचे गये जैसे सोरते फिरोजषाही तिवे फिरोजषाही इत्यादि।

सार्वजनिक निर्माण कार्य

सुल्तान

को भवन निर्माण तथा सार्वजनिक उपयोगिता के लिये निर्माण कार्य में भी बहुत रुचि थी। अंग्रेज विद्वानों परसी ब्राउन, जॉन मार्शल तथा एडवर्ड टामस ने फिरोज की बड़ी प्रशंसा इस क्षेत्र के कार्यों के कारण की है। मलिक गाजीसेना को सुल्तान से मीरे इमारत नियुक्त किया था। तथा नगरों, किलों तथा राजमहलों, मस्जिदों, मदरसों मकबरों बांध, हौज तथा खनकाहों के निर्माण तथा मरम्मत का कार्य इस विभाग को सौंपा गया। साथ ही अषोक के समय की दो लाट भी इस विभाग द्वारा दिल्ली लाकर स्थापित की गयी थी। कहा जाता है कि उसने 300 नगरों की स्थापना की किन्तु इस संख्या को हम नहीं मान सकते, यदि इसमें हम उन गांव को भी सम्मिलित कर लें जो पहले पुनः बसे गये थे तो उचित होगा उसने फिरोजाबाद दिल्ली में काटला फिरोजषाह फतेहाबाद, हिसार, दीनपुर और फिरोजपुर बदायूँ के निकट कई महत्वपूर्ण नगरों की स्थापना की। उसने चार मस्जिद, तीस महलों दौसौ काफिला सरायों, पांच जलाषयों, पांच अस्पतालों, सौ कब्रों दस स्नानागारों दस समाधियों और सौ पुलों का निर्माण कराया।

धार्मिक नीति

धार्मिक क्षेत्र में फिरोज का शासनकाल प्रतिक्रिया कट्टरपन तथा धमान्यता का युग था। अलाउद्दीन तथा मुहम्मद बिन तुगलक के समय धर्म और राजनीति को पृथक रखने का जो प्रयास हुआ था उसके ठीक विपरीत फिरोज के शासनकाल में हुआ। फिरोज बहुत कट्टर तथा संकीर्ण सिद्ध हुआ। उसका शासनकाल साम्प्रदायिक राज्य की चरम सीमा था। सारे शासनकाल में सुल्तान ने इस्लाम की प्रतिष्ठा बढ़ाने तथा उसका राज्य को धर्म हैसियत से प्रसारित करने का प्रयत्न किया। सुन्नी इस्लाम की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए उसने सिया मुसलमानों के मुमाग्गी मत जैसे मुजाहिदों तथा इब्राहिमियों का निर्दयता के साथ दमन किया, उनके ग्रंथ नष्ट किये गये तथा उनको कड़ी सजायें दी गईं। कई मुसलमान नेताओं को जो सुन्नी मार्ग से विचलित प्रतीत होते थे जैसे अहमद बिलारी महदी मौलाना मौलाजागान अहिन ए महक को भी दण्डित किया गया। हिन्दुओं के प्रति सुल्तान ने बड़ी कट्टरता का परिचय दिया। ब्राह्मणों पर जजिया थोपा गया क्योंकि सुल्तान के अनुसार वे फूफ को कुज्जी थे। नगरकोट तथा उड़ीसा में हिन्दुओं के मन्दिरों को ध्वस्त किया गया। हिन्दुओं के मेलों पर प्रतिबन्ध लगाया गया खुले रूप से मूर्तिपूजा का भी निषेध किया गया। एक ब्राह्मण को खुले रूप से मूर्तिपूजा करने के अपराध में जीवित जलाने के आदेश का उल्लेख भी आता है।

खलीफा से संबंध

खलीफा से मान्यता पत्र प्राप्त करने का प्रचलन था इल्तुतमिश के समय से भारत के सुल्तानों में प्रचलित हुआ। इसका वास्तविक महत्व केवल मुसलमानों की दृष्टि से सुल्तान की धार्मिक प्रतिष्ठा में वृद्धि करना और अनियमित राज्यारोहण के आक्षेप की समाप्ति करना था क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि खलीफा द्वारा मान्यता मिल जाने के बाद सुल्तान के पद शक्ति

तथा अधिकार मुस्लिम जगत में नियमित तथा मान्य हो जाते थे। सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने अंतिम दिनों में अपनी शक्ति को अवनति से रोकने के लिए खलीफा से मान्यता पत्र प्राप्त किया था। फिरोज में खलीफाओं से दिया। परन्तु जफरखां को दिल्ली में जो सुख मिला उतना पूर्वी बंगाल में मिलना सम्भव नहीं था। इस कारण उसने वहां जाने में अनिच्छा प्रकट की। इस प्रकार वह आक्रमण भी निष्फल सिद्ध हुआ। बंगाल के शासक सिकन्दर ने सुल्तान को कुछ भेंट अवश्य भेजी।

जाजनगर और भूमि आक्रमण १३६०—

बंगाल के आक्रमण के बाद सुल्तान ने अपनी सेना का उपयोग दो हिन्दू राज्यों के विरुद्ध किया और उसे कुछ सफलता भी मिली। ये दोनों ही आक्रमण सन् 1360 ई. में हुये। पहले उसने जौनपुर वापस आने पर उड़ीसा के राजा पर आक्रमण किया। मुसलमान इतिहासकार उसे जाजनगर कहते थे। शम्स ए सिराज अफीफ लिखता है कि उस समय जाजनगर की आर्थिक दशा बहुत अच्छा थी। वहां इतनी मंदी थी कि दो जीतल में एक घोड़ा खरीदा जा सकता था, और वहां प्रायः सभी लोग बड़े-बड़े मकानों में रहते थे। प्रत्येक के अपने निजी फल-फूल के उद्यान थे। जब स्थानीय राजा ने सुल्तान के आने का समाचार सुना तो वह भाग कर एक टापू में छिप गया। सुल्तान की सेना ने नगर को लूटा और उसने जगन्नाथ की मूर्ति को समुद्र में फिकवा दिया। राजा ने सुल्तान के पास दूत भेजकर वादा किया कि वह उसकी आधीनता मानने तथा वार्षिक कर भेजने को प्रस्तुत है। सुल्तान ने उसके बदले हाथी भेजने का आदेश दिया और इसके बाद वह वापस लौट पड़ा।

नगरकोट

इसके बाद सुल्तान राजधानी वापस आया। उसने सुना कि नगरकोट के राजा ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी है। इसीलिए फिरोज ने अपनी सेना के साथ नगरकोट पर धावा बोला। राजा ने वीरता के साथ सुल्तान का सामना किया लेकिन उसकी पराजय हो गई। अब उसने दुर्ग के अन्दर से रक्षात्मक युद्ध आरम्भ किया। सुल्तान ने नगर में प्रवेश किया और उसने ज्वालामुखी के मन्दिर को भ्रष्ट किया तथा देवी प्रतिमा को तोड़ दिया। उसने वहां की जनता को एकत्रित करके मूर्तिपूजा के विरुद्ध एक भाषण दिया और उनको समझाने की चेष्टा की कि वे इस पाप से मुक्ति पा सकें और समझ सकें कि मूर्तिपूजा कितना बड़ा पाप है। इसी के साथ-साथ युद्ध भी चलता रहा। छः महिने के घेरे के बाद राजा ने सुल्तान की अधीनता स्वीकार करने का वचन दिया। सुल्तान ने उसे क्षमा कर दिया और वह दिल्ली लौट आया।

सिंध पर आक्रमण १३६२-६३

सुल्तान का अन्तिम आक्रमण सिंध पर हुआ। फिरोज ने यह आक्रमण मुहम्मद तुगलक के प्रति किये गये। दुर्व्यवहार का बदला लेने के लिए किया उस समय इस क्षेत्र का शासक जाम बबिनिया था। उसकी सैनिक शक्ति प्रबल थी और उसकी सेना में 20,000 घुड़सवार तथा 40,000 पैदल थे इसलिये फिरोज ने 90,000 घुड़सवार 480 हाथी तथा बहुसंख्यक पैदल सेना के साथ आक्रमण किया। फिरोज शांति के आधार पर युद्ध करना चाहता था और जहां तक सम्भव हो रक्तपात से बचना चाहता था। इसलिये जब के भीतर बन्द हो जाता था तब वह किले पर आक्रमण करने अथवा दीवारें तोड़ने या शत्रु हार कर दुर्ग के भीतर बन्द दीवारों

भारत का इतिहास

पर चढ़ कर किले में घुसने की आज्ञा नहीं देता था। वह चाहता था कि षत्रु का बाहर से सम्पर्क बिल्कुल काट दिया जाये और भूखों मारकर घुटने टेकने पर बाध्य किया जाय। इस नीति के कारण घेरों में बहुत समय लगता था। सुल्तान ने थढ़ा में भी इस नीति का अनुसरण किया। उसी समय वहां अकाल

जिसमें सुल्तान के

एक चौथाई सैनिक मर गये। घबडाकर सुल्तान वहां से और महामारी का प्रकोप हुआ, भागा। उसने सोचा गुजरात में थोड़ा विश्राम कर फिर आक्रमण करना ठीक होगा। इसलिए वह गुजरात की ओर चल दिया। पथ प्रदर्शकों ने उसे भटका दिया जिसके कारण अन्न जल का कष्ट और अधिक बढ़ गया तथा अनेक सैनिकों की जानें गई। कुछ दिन तक सुल्तान का पता ही नहीं रहा। परन्तु उसके मंत्री खानेजहां मकबूल ने बड़ी मुस्तैदी से काम लिया। वह शासन का कार्य ठीक से चलाता रहा। कुषल गुप्तचरों को भेजकर उसने सुल्तान का पता लगवाया और षीघ्र ही उसके पास कुमुक भेजी। गुजरात के हाकिम ने भी समुचित सहायता की। अस्तु, सेना का पुनर्गठन सम्भव हो सका और सुल्तान ने फिर सिन्ध की ओर प्रस्थान किया। जाम बबिनिया ने कुछ दिनों और युद्ध चलाने के बाद आत्मसमर्पण कर दिया। सुल्तान ने उसके एक सम्बन्धी को वहां का शासक नियुक्त किया और बबिनिया को अपने साथ दिल्ली ले गया। थड़े समय के बाद उसने उसे क्षमा कर दिया और धढ़ा वापस जाने की अनुमति दे दी। इस भाँति इस युद्ध से भी सल्तनत को कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ। जिसके उपासक ने कुछ समय के लिए से 1364 में मान्यता पत्र प्राप्त किये जिनके द्वारा सुल्तान को नियमित सुल्तान घोषित किया गया।

विदेश नीति

उसने कई युद्ध किये और अपने निर्वाचन का औचित्य सिद्ध किया। उसमें विजय की वैसी तीव्र उत्कण्ठा नहीं थी जैसी अलाउद्दीन खिलजी या मुहम्मद तुगलक में पाई जाती है। उसने उस बुद्धिमत्तापूर्ण नीति से कार्य किया। जिसे युद्धप्रिय बलबन ने भी परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए लाभदायक समझा था। उसका यह विचार उचित ही था कि विस्तृत लेकिन अनियमित विस्तार के लिये मुंह फैलाने से तो. यह अच्छा है कि सीमित राज्य पर भली प्रकार शासन किया जाये। वह अपने पड़ोसी राज्यों से शान्तिमय संबंध रखना और देश की जनता को व्यर्थ के रक्तपात से बचाना चाहता था। यद्यपि फिरोज तुर्क पिता तथा राजपूत माता का पुत्र था लेकिन उसमें न तो तुर्कों जैसा सैनिक बाद था और न ही राजपूतों जैसी बहादुरी थी वह न अच्छा सैनिक था न ही उत्तम सेनानायक। उसमें न तो साम्राज्यवादी भावना थी और नही क्षमता। उसकी राजनीति शिथिल एवं धर्ममिरु थी। विदेश नीति के क्षेत्र में फिरोज निम्नांकित कार्य किये।

मंगोल आक्रमण को विफल बनाना—फरंगाना के अमीर करगन ने कुछ मंगोल सैनिक उल्लूम बहादुर के नेतृत्व में मुहम्मद बिन तुगलक की सहायता के लिए भेजे थे तथा मंगोल तरमशीरीन के दामाद नौराज करगन ने थढ़ा में मुहम्मद बिन तुगलक की मरतु के बाद विद्रोहियों से मिलकर लूट—पाट शुरू कर दी थी। फिरोज ने राज्यारोहण के बाद मंगोलों को वापिस जाने का आदेश दिया था। फिरोज के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में दो बार मंगोलों के आक्रमण हुये। दोनों बार मंगोलों ने सिन्ध के शासकों से सांठ—गांठ की। पहले आक्रमण में मंगोल चिनाब नदी पार कर मुल्तान तथा पंजाब के सीमान्त प्रदेश में घुस आये लेकिन

मुल्तान में षाही सेना ने इसको मार भगाया। दूसरा आक्रमण सिन्ध के जाम के नियन्त्रण पर गुजरात की ओर हुआ। इस बार भी गुजरात की षाही सेनाओं ने उनको पछाड़ दिया। छुटपुट आक्रमणों के अतिरिक्त कोई मंगोल आक्रमण सम्भव नहीं था क्योंकि बाद में मध्य एशिया में तैमूर का उत्थान होने के कारण मंगोलों की शक्ति का ह्रास हो गया था।

बंगाल

उसके समय में केवल 6 स्थानों में युद्ध हुआ। सबसे पहले सन् 1353-1354 ई. में बंगाल पर आक्रमण किया गया। पश्चिम बंगाल के शासक हाजी इलयास ने षम्सुद्दीन का विरुद्ध धारण कर लिया था और स्वेच्छाचारी शासन कर रहा था। इसलिए उसने सन् 1353 ई. में बंगाल पर चढ़ाई कर दी और एक घोशणा प्रकाशित की जिसमें इसमें इलयास के अत्याचारों का विषुद्ध भाव से उल्लेख करके बंगाल की जनता को उसके विरुद्ध भड़काना चाहा।

उसने इकदला दुर्ग पर आक्रमण किया और उस पर कड़ाई के साथ घेरा डाला। जब उसने इसमें सफलता न पाई तब उसने वापिस लौटने का बहाना किया परन्तु ज्योंही बंगाल की संना ने उसका पीछा किया, उसने लौटकर धावा बोल दिया और भागी हुई सेना ने इकदला में शरण ली। सुल्तान ने फिर उसका घेरा डाला। जब इलयास के लिये और युद्ध चला सकना असम्भव हो गया तब एक दिन प्रातरुकाल दुर्ग की ओर से चीत्कार करके रोने विलपने का शब्द सुनाई पड़ा। सुल्तान ने जब इसका कारण पूछा तो बताया गया कि दुर्ग की जनता सोचती है कि जब सुल्तान की सेना दुर्ग में प्रवेश करेगी तब उसके है केवल मार काट लूटमार से ही संतुष्ट न होंगे वरन् वे महिलाओं पर अत्याचार भी करेंगे। उसी की आशंका से वे विलाप कर रही थी। सुल्तान ने सोचा कि ऐसा हुआ तो इसका दायित्व उसे और वही इस पाप का भागी होगा। इसलिए उसने सेना को दिल्ली लौटाने का आदेश दे युद्ध में व्यय हुआ श्रम तथा धन बिलकुल व्यर्थ हो गया सुल्तान की धर्म भीरु रणनीति उदाहरण है।

बंगाल पर दूसरी आक्रमण १३५६-६०

इसके कुछ वर्ष बाद फखरुद्दीन के जमाता जफरखां ने पूर्वी बंगाल पर सुल्तान से सहायता मांगी। सुल्तान उसे लेकर सन् 1359 ई. में एक बार फिर उस समय वहां का शासक सिकन्दर था। उसने पहले सुल्तान का विरोध बंगाल छोड़ने के लिये तैयार हो गया। सुल्तान ने अब जफरखां को वह

सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली। परन्तु उसने समय पाते ही फिर स्वतंत्र शासक की भांति शासन करना आरम्भ कर दिया।

बहमनी राज्य एवं फिरोज तुगलक

सन् 1365-66 ई. में उसे साम्राज्य विस्तार का अवसर मिला परन्तु उसने उसका उपयोग नहीं किया। उस समय बहमनी राज्य में आतंकित कलह सूची हुई थी। एक दल का नेता बहराम खां था। उसने सुल्तान के पास सम्बाद भेज कर वचन दिया कि सुल्तान उसे वहाँ का शासनाधिकार दिला दे तो वह फिर से दिल्ली की अधीनता स्वीकार कर लेगा। उसकी दया को प्रोत्साहित करने के लिए उसने तत्कालीन शासक मुहम्मद शाह बहमरी के अत्याचारों की अतिरंजित वर्णन भी लिख भेजा। परन्तु फिरोज ने यह संकट मोल लेना ठीक नहीं समझा। उसने बहरामखां के प्रतिनिधियों को यह कहकर भगा दिया कि उन्होंने सुल्तान

भारत का इतिहास

मुहम्मद के साथ दुर्व्यवहार किया था उसी का भगवान उन्हें दण्ड दे रहा है। उसे उन्हें भोगना चाहिए तथा वह उनकी रक्षा के लिये प्रस्तुत नहीं है। उसने अपने अमीरों से कहा कि खलीफा ने बहमनी को मान्यता दे दी है। ऐसी दशा में उस पर आक्रमण करना खलीफा का अपमान करना है।

शङ्खेत्रों तथा विद्रोह का दमन

षासन के आरम्भिक वर्षों हेग के अनुसार 1558 तथा डा. जौहरी के अनुसार 1353) से फिरोज का वध करने का शङ्खेत्र खुदाबनदजहां बेगम द्वारा रचा गया। उसका पति खुसरों मलिक भी इस शङ्खेत्र में सम्मिलित था। लेकिन बेगम के पुत्र दाबर मलिक ने संकेतों द्वारा सुल्तान को इस शङ्खेत्र की सूचना देकर उसकी जान बचाई। शङ्खेत्र विफल हो गया तथा बेगम की सम्पत्ति जप्त कर ली गई और उसके पति खुसरों मलिक को देश से निर्वासित कर दिया गया।

गुजरात में विद्रोह १३७५-१३८१-

षमसुद्दीन दमगानी ने गुजरात की सूबेदारी प्राप्त करने के लिए गुजराज की आमदनी में 40 लाख टंका, 200 घोड़े, 100 हाथी 400 दास बढ़ाकर सुल्तान को वार्षिक कर के रूप में देने का वचन दिया। जफरखां के स्थान पर उसको गुजरात का गवर्नर नियुक्त किया गया। गुजरात पहुंच कर दमगानी को ज्ञात हुआ कि वायदे के अनुसार बढ़ाकर अदायगी होना सम्भव नहीं है क्योंकि गुजराज में इतनी आमदनी नहीं हो सकती। इसलिए अपनी असफलता छिपाने के लिये उसने विद्रोह कर दिया। गुजरात के अमीर सादार के नेता फखरुद्दीन ने उसका वध कर दिया। दमगानी के वध के पश्चात् मलिक मुफराह गुजरात का गवर्नर नियुक्त हुआ।

इटावा विद्रोह-

1377 में इटावा के राय तथा मुकद्दम सर्वधरण तथा वीरभान ने विद्रोह किया। विद्रोह गिरफ्तार करके दिल्ली लाये गये। इटावा में नये किलों का निर्माण करके कई अफगान अमीर मलिक चली तथा मलिक ज्यादा फिरोज नियुक्त किये गए ताकि इटावा के हिन्दू दवाये जा सक

कटेहर में विद्रोह १३८०-

सबसे भयंकर विद्रोह कटेहर रोहेल खण्ड में हुआ। कटेहर को राजा खड़कसिंह खरकू ने बदायूं के दो सैयदों, एवं सैयद अलाउद्दीन का वध कर दिया। इस घटना से रुश्ट होकर फिरोज ने कटेहर पर आक्रमण कर दिया तथा निर्ममता के साथ कटेहर के हिन्दुओं का दमन किया गया। हजारों हिन्दुओं का वध किया गया तथा लगभग 23 हजार को जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया गया। इस दमन के पश्चात् मलिक खिताब कटेहर का गवर्नर नियुक्त किया गया और उसको आदेश दिया गया कि प्रतिवर्ष वह हिन्दुओं पर एक आक्रमण करें। पांच वर्षों में कटेहर का सर्वनाश हो गया।

अन्तिम दिन तथा मध्य

सुल्तान के अन्तिम दिन दुःख में बोलें। एक और तो सुल्तान बूढ़ा होता जा रहा था तथा दूसरी और उसके योग्य अधिकारियों की मृत्यु होनी शुरू हो गई। दुःखों का आरम्भ 1371 में वजीर मकबूल की की मृत्यु से हुआ। वजीर के बाद योग्य अधिकारी जफर खां की मृत्यु हुई। 1374 में सुल्तान के सबसे योग्य तथा वरिष्ठ पुत्र फतह खां की मृत्यु हो गई जिसने सुल्तान की कमर ही तोड़ दी। मकबूल के पुत्र खान

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

जहां द्वितीय, जो अपने पिता की मृत्यु के बाद वजीर बना था, ने सत्ता के लिये शङ्खचक्र करना शुरू कर दिया और सुल्तान को बहकाया कि राजकुमार मुहम्मद राज्य हथियाने का प्रयत्न कर रहा है। सुल्तान ने राजकुमार मुहम्मद तथा उसके साथियों की गिरफ्तारी का आदेश दिया लेकिन राजकुमार स्त्री का वेश धारण कर सुल्तान के कक्ष में घुस गया। उसने सुल्तान के पैरों पर गिरकर प्रधानमंत्री के शङ्खचक्र का भांडा फोड़ दिया। सुल्तान राजकुमार से प्रसन्न हो गया तथा उसको अधिकार दिया कि वह प्रधानमंत्री को दण्ड दे। प्रधानमंत्री खान जहां द्वितीय ने भाग कर मेवात में शरण ली लेकिन मेवात के सामंत गोगा चौहान ने खान जहां को मुहम्मद द्वारा भेजे गए अधिकारियों को सौंप दिया और उसका वध कर दिया गया। खान जहां द्वितीय के अन्त के बाद राजकुमार मुहम्मद वास्तविक शासक बन गया तथा सुल्तान के साथसाथ खुतबा व सिक्कों में उसका नाम सम्मिलित कर लिया गया लेकिन राजकुमार मुहम्मद सुल्तान के दासों में प्रिय न हो सका। उन्होंने उसके विरुद्ध शङ्खचक्र रचे। दो दिन तक भयंकर युद्ध फिरोज के दासों तथा राजकुमार में हुआ। तीसरे दिन दासों ने बूढ़े सुल्तान को पालकी में बिठाकर युद्ध स्थल पर प्रकट किया जिससे राजकुमार मुहम्मद तथा उसके समर्थक निराश होकर भाग गये। राजकुमार मुहम्मद के पलायन के बाद दासों ने सुल्तान के पौत्र तुगलक शाह द्वितीय (फतह खां का पुत्र) को उत्तराधिकारी नियुक्त किया तथा सुल्तान की स्वीकृति प्राप्त कर ली। इन दुखद परिस्थितियों में 20 सितम्बर, 1388 में सुल्तान की मृत्यु हो गई।

प्रसिद्ध इतिहासकार आर. पी. त्रिपाठी ने मत व्यक्त किया है कि इतिहास की विचित्र विडम्बना थी कि जिन कारणों से फिरोज लोकप्रिय तथा सफल शासक हुआ उन्हीं कारणों से ही दिल्ली सल्तनत का पतन हो गया। फिरोज के विरुद्ध दिल्ली सल्तनत के पतन का आरोप लगाया जाता है। निःसन्देह फिरोज की नीति के ऐसे पक्ष जो सल्तनत के विघटन तथा अन्त में सहायक हुये, जैसे उलमा तथा सामन्तों के –प्रभाव को बढ़ने देना, जागीरदारी प्रथा को पुनर्जीवित करना, सैनिक प्रथा में हुलिया तथा वार्षिक निरीक्षण की अवेहलना, रिश्वत तथा भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देना, दासों में अत्यधिक रूचि रखना, सैनिक कार्यवाही में झिझकना तथा कोई नया प्रदेश जीतने का प्रयास न करना संकीर्ण धार्मिक कट्टरता तथा धर्मान्धता को बढ़ावा देना। इन कारणों के बावजूद यही क्या कम है कि फिरोज ने समस्त दिल्ली के सुल्तानों में सबसे अधिक 37 वर्ष राज्य किया और अधिकांश समय उसके राज्य में शान्ति एवम् समृद्धि रही। विघटन के गर्त में गिरे तुगलक साम्राज्य को अन्त से बचाने का नई जान डालना, जिसके कारण वह 60 वर्ष और कायम रह सका, एक सराहनीय कार्य था। पतन का श्री गणेश तो मुहम्मद बिन तुगलक के शासन में ही हो गया था। यदि उत्तरदायित्व ही निर्धारित किया जाये तो तुगलक वंश के पतन में फिरोज से पहले मुहम्मद बिन तुगलक का नाम आयेगा। फिरोज के परोपकारिक कार्यों ने सर्कीर्णता के बावजूद सल्तन के राजस्व को नया मोड़ दिया तथा उसने शेरशाह का इस क्षेत्र में थोड़ा सा पथ

भारत का इतिहास

प्रदर्शन किया। नहरों, पुलों, बांधों, अस्पतालों का निर्माण बेरोजगारी के अन्त के प्रयत्न दान द्वारा गरीब मुसलमानों की सहायता इत्यादि ऐसे कार्य थे जिनकी समकालीन लेखकों ने बहुत प्रशंसा की है। बरनी लो फिरोज को सबसे अधिक न्याय प्रिय और दयालू शासक मानता था और अफीफ ने उसको खत्म ताज दारान जिसके बाद बादशाही का ही अन्त संसार से हो जाये की संज्ञा दी है और उसको सन्त बादशाह तक कहा है। अधिकांश इतिहासकारों ने उसके शासन काल को अकबर से पहले मुस्लिम युग का सर्वश्रेष्ठ काल माना है। होग, मिसेज बेवरिज ने फिरोज को सर्वश्रेष्ठ सुल्तान मानते हुये लिखा है कि वह अकबर से अधिक उदार तथा कम क्रान्तिकारी तथा औरंगजेब से कम बहमी था। फिरोज के पक्ष में ऐसी तमाम अतिशयोक्ति है— इसी कारण कुछ आधुनिक विद्वानों ने फिरोज की अकबर से तुलना को मूर्खतापूर्ण बताया है। ईश्वरी प्रसाद के अनुसार वास्तव में दोनों ही मत भ्रामक है।

यद्यपि उसकी सम्पूर्ण सफलतायें तथा असफलतायें उसको मध्ययुग के महान शासकों अलाउद्दीन खेरशाह तथा अकबर के निकट पहुंचाती है फिर जिन परिस्थितियों में वह शासक बना था उसके आधार पर हम फिरोज को एक सफल शासक मानते हैं जिसके युग में शान्ति समृद्धि कृषि का विकास शिक्षा, कला साहित्य की उन्नति हुई तथा प्रजा का जीवन सुखी हो सका।

इकाई सारांश

सुल्तान फिरोज तुगलक दिल्ली की गद्दी पर 1351 ई. में मुहम्मद तुगलक के बाद बैठा था जो कि प्रशंसा एवं निंदा दोनों का विषेश पात्र रहा। फिरोज की रुचि यद्यपि सुल्तान बनने में नहीं थी लेकिन

उलेमाओं। अमीरों एवं सन्तों के दबाव के कारण उसे सुल्तान बनना पड़ा था। दिल्ली सल्तनत की अवस्था भी पतनशील थी और वह विभाजन की ओर अग्रसर थी। फिरोज ने राज्यारोहण के बाद राज्य में शान्ति व्यवस्था स्थापित करके महान कार्य किया इसके अलावा फिरोज ने प्रशासन के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण सुधार किये जिससे जनता को लाभ मिला और राज्य की षोचनीय आर्थिक व्यवस्था में भी सुधार आया। फिरोज ने 26 गैर इस्लामी करों को समाप्त करके जनता को राजत दिलाई। उसने निर्धनों एवं बेकारों की सहायता के लिए उद्योग, कृषि में सुधार, जनहितकारी कार्य आदि ऐसे कार्य करवाये जिनके लिए सदैव उनकी प्रशंसा की जायेगी लेकिन कोई भी इतिहासकार उसकी उत्पीड़न धर्मांधता, अपराधों की अवहेलना, शासन नीति के प्रति उपेक्षा भाव, विचार हीन दयालुता का समर्थन नहीं कर सकता।

फिरोज तुगलक ने प्रशासनिक क्षेत्र में जो काम किये उनके आधार पर हम उसे योग्य शासक कह सकते हैं लेकिन विदेश नीति के क्षेत्र में वह पूर्णतः असफल रहा क्योंकि उसमें सैनिक गुणों का सर्वथा अभाव था और वह किसी भी प्रान्त को अपने अधिकार में लेने के लिए कटिबद्ध भी नहीं था। विदेश नीति के क्षेत्र में भी हम उसकी धर्मभोरुता का उदाहरण देख सकते हैं। सुल्तान ने अपनी सेना का संतोश आधार पर संगठन किया जिससे उसका अनुशासन एवं सुदृढता नष्ट हो गई। सारांश में हम डा. त्रिपाठी के षब्दों में विधाता की कुटिल गति इतिहास के उस दुर्भाग्यपूर्ण लक्ष्य में प्रकट हुई थी कि जिन गुणों ने फिरोज को लोकप्रिय बनाया वही दिल्ली सल्तनत की दुर्बलता के लिए जिम्मेदार सिद्ध हुए।

अभ्यास—प्रश्न

1. मुहम्मद तुगलक की योजनाओं का वर्णन कीजिये और उनके असफल होने के कारण का भी

उल्लेख कीजिये ।

2. मुहम्मद तुगलक को ष्विरोधी तत्वों का सम्मिश्रण क्यों कहा जाता है

3. मुहम्मद तुगलक को दक्षिण नीति की विवेचना कीजिये और अलाउद्दीन खिलजी की दक्षिण

नीति से उसकी तुलना कीजिये

4. फिरोज तुगलक का शासक के रूप में मूल्यांकन कीजिये और उसे आदर्श शासक कहना कहाँ

तक उचित है । ?

5. फिरोज तुगलक की धार्मिक नीति की समीक्षा कीजिये ?

6. तुगलक राजवंश के पतन के कारणों का उल्लेख कीजिये । फिरोज तुगलक को इसके लिए कहा

तक उत्तरदायी माना जा सकता

प्रान्तीय राज्यों का उदय

बहमनी तथा विजयनगर राज्य

कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा भारत में जिस स्वतंत्र तुर्की राज्य (दिल्ली सल्तन) की स्थापना की गयी वह तुगलक सुल्तानों (मुहम्मद बिन तुगलक तक) के समय तक विस्तार की चरम सीमा पर पहुँच गया था। उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में माबर तक और पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक का समस्त भूभाग दिल्ली सुल्तानों द्वारा जीतकर दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित कर लिया गया था। किन्तु मुहम्मद बिन तुगलक के समय में ही दिल्ली सल्तनत का विघटन भी प्रारम्भ हो गया। उसकी कुछ गलत नीतियों के कारण उसके विरुद्ध उत्तरी भारत एवं दक्षिण भारत में भयंकर विद्रोह प्रारम्भ हो गये। यद्यपि उत्तरी भारत में तो अधिकांश विद्रोहों का उसने दमन कर दिया किन्तु दक्षिण भारत के विद्रोहों का वह दमन नहीं कर सका और दक्षिण भारत में विजय नगर एवं बहमनी राज्यों के नाम से दो स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये। इसी प्रकार उसी के समय में बंगाल भी दिल्ली सल्तनत के आधिपत्य से मुक्त होकर एक स्वतंत्र राज्य बन गया। मुहम्मद बिन तुगलक की मृत्यु के बाद जब फीरोज तुगलक गद्दी पर बैठा तो यद्यपि वह उपर्युक्त प्रदेशों पर पुनः दिल्ली सल्तनत का आधिपत्य तो स्थापित नहीं कर सकता किन्तु उसके अपने समय में सल्तनत के विघटन की प्रक्रिया पुनः आरम्भ हो गयी। दुर्भाग्यवश फीरोज की मृत्यु के बाद जो भी

भारत का इतिहास

तुगलक सुल्तान हुए वे अत्यन्त निर्बल और अयोग्य थे। उनकी निर्बलता और अयोग्यता का लाभ उठाकर अनेक प्रान्तों, जैसे— जौनपुर, मालवा, गुजरात आदि के राज्यपालों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिये।

बहमनी राज्य

मुहम्मद बिन तुगलक के शासन के अन्तिम वर्षों में दक्षिण भारत में दौलताबाद में नियुक्त सादा अमीरों (विदेशी अमीरों) ने सुल्तान की अत्याचार पूर्ण नीति के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और वहाँ के

राज्यपाल अलीमुल्क को पराजित करके दौलताबाद पर अधिकार कर लिया। इन अमीरों ने हसन कांगू नामक सरदार को अपना सुल्तान चुना। हसन कांगू 3 अगस्त 1347 ई. को अबुल मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसकी बहमनशाह की उपाधि के कारण ही उसके द्वारा स्थापित राज्य बहमनी राज्य कहलाया। बहमनी राज्य 1527 ई. तक रहा और इस काल में इसमें चौदह शासक हुए। इस शासकों में अलाउद्दीन हसन बहमनशाह (1347—1358 ई.) मुहम्मदशाह प्रथम (1358—1377 ई.) मुजाहिद द्वितीय (1378—1397 ई.) ताजुद्दीन फीरोजशाह (1397—1422 ई.) अहमदशाह (1422—1435 ई.) और अलाउद्दीन द्वितीय अधिक प्रसिद्ध है।

अलाउद्दीन हसन बहमनशाह (१३४७— १३५८ ई.)

बहमनशाह के प्रारम्भिक जीवन के बारे में हमें अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। तारीखें फरिश्ता के लेखक फरिश्ता ने उसके प्रारम्भिक जीवन के बारे में एक कहानी लिखी है जिसके अनुसार अपने आरम्भिक दिने में हसन कांगू गंग नामक एक ब्राह्मण के यहाँ नौकर था। उस ब्राह्मण ने हसन के साथ बड़ी उदारता का व्यवहार किया था और यह भविष्यवाणी की थी कि आगे जाकर वह सुल्तान बनेगा। अपने इसी करपालु मालिक के प्रति करतज्ञता प्रदर्शित करने हेतु ही हसन ने बहमनशाह की उपाधि धारण की। . किन्तु आधुनिक अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो गया है कि यह केवल एक मनगढ़त कहानी है। वास्तव में हसन अपने आपको प्रसिद्ध ईरानी वीर बहमन का वंशज मानता था और इसीलिए उसने बहमनशाह की उपाधि धारण की न कि अपने तथाकथिक उपकारी ब्राह्मण मालिक के नाम पर।

बहमनशाह एक शक्तिशाली तथा योग्य शासक था। उसने निरन्तर युद्धों के द्वारा एक विषाल भूभाग को जीतकर अपने छोटे-से-राज्य की सीमाओं का विस्तार किया जो उत्तर में बानगंगा से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक और पश्चिम में दौलताबाद से पूरब में मोंगिरी तक फैला हुआ था। उसने गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनाया और केन्द्र और प्रान्त दोनों में एक सुयोग्य शासन व्यवस्था की स्थापना की। प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से उसने अपने राज्य को चार प्रान्तों, जिन्हें तरफ कहा जाता था, में विभाजित किया। ये चार प्रांत (तरफ) थे— गुलबर्गा दौलताबाद, बरार और बीदर। प्रत्येक प्रान्त में एक सूबेदार की

नियुक्ति की गयी जिसके पास एक शक्तिशाली सेना होती थी। सूबेदार ही अपने प्रान्त में सभी सैनिक और असैनिक पदों पर नियुक्तियाँ करता था। उसकी मुख्य जिम्मेदारी अपने प्रांत में शांति और व्यवस्था बनाये रखना तथा राज्य कर की वसूली करना था। बहमनशाह की मृत्यु

1358 ई. में हुई। मुसलमानों के प्रति यद्यपि उसका व्यवहार उदार एवं न्यायपूर्ण रहा किन्तु वह एक धर्मान्ध मुसलमान था और हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार असहिष्णुतापूर्ण रहा।

मुहम्मदशाह प्रथम (१३५८-१३७३ ई.)

बहमनशाह की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मदशाह प्रथम उसका उत्तराधिकारी बना। उसने बहमनी राज्य की शासन व्यवस्था को ठोस आधार पर संगठित किया। केन्द्रीय शासन को उसने आठ विभागों में विभक्त करके उनमें अलग-अलग मंत्री नियुक्त किये—

- (1) वकील-उस-सल्तनत – यह दिल्ली सल्तनत के मलिक नायब के समान होता था।
- (2) वजीर-ए-कुल- यह वकील को छोड़कर अन्य सभी मंत्रियों के कार्य का निरीक्षण करता
- (3) अमीर-ए-जुमला – यह वित्त विभाग का अध्यक्ष होता था।
- (4) वजीर- ए- अशरफ यह विदेश नीति तथा दरबार सम्बन्धी कार्यों को देखता था।
- (5) नाजिर – यह वित्त मंत्री के सहायक के रूप में कार्य करता था।
- (6) पेशवा- यह वकील का सहयोगी था।
- (7) कोतवाल- यह पुलिस का अध्यक्ष था और शांति की व्यवस्था रखता था।
- (8) सट्रेजहाँ- यह न्याय धर्म तथा दान विभाग का अध्यक्ष होता था।

उसने अपने पड़ोसी हिन्दू राज्यों-विजयनगर तथा वारंगल के विरुद्ध निरंतर युद्ध की नीति का अनुसरण किया और अनेकों बार वहाँ के शासकों को युद्ध में पराजित करके उसने उनसे भूमि तथा युद्ध का हर्जाना वसूल किया। एक युद्ध में उसने वारंगल के शासक को पराजित करके उससे गोलकुण्डा छीन लिया तथा 33 लाख रुपये युद्ध के हर्जाने के रूप में वसूल किये। उसकी 1373 ई. में मृत्यु हो गयी। मुहम्मद शाह प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र मुजाहिद सिंहासन पर बैठा। किन्तु मुजाहिद अधिक समय तक शासन नहीं कर सका। उसके द्वारा मध्य एशिया से आने वाले कुछ विदेशी अमीरों को उच्च पदों पर नियुक्त कर दिये जाने से स्थानीय अमीर उससे नाराज हो गये और उन्होंने एक शङ्खचक्र के द्वारा 1377 ई. में उसका वध कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने उसके चचेरे भाई दाउद को सिंहासन पर बैठा दिया। किन्तु सालभर बाद 1378 ई. में उसका भी वध कर दिया गया।

मुजाहिद द्वितीय (१३७८ – १३८७ ई.)

दाउद की हत्या के बाद अमीरों ने बहमनशाह के एक अन्य पौत्र मुहम्मदशाह द्वितीय को जिसे मुजाहिद द्वितीय भी कहा जाता है, सिंहासन पर बिठाया। बहमनी साम्राज्य में जितने भी सुल्तान हुए उन सब में वह सर्वाधिक शान्ति प्रिय और कला तथा साहित्य का पोषक था। उसने विद्वानों को जिस प्रकार, अपना उदार संरक्षण प्रदान किया उसके फलस्वरूप उसके दरबार में अनेकों विद्वानों को जिस प्रकार अपना उदार संरक्षण प्रदान किया उसके फलस्वरूप उसके दरबार में अनेकों विद्वान एकत्रित हो गये थे। उसने अनेक सुन्दर मस्जिदों

भारत का इतिहास

का भी निर्माण कराया था। अपने पूर्ववर्ती सुल्तानों के विपरीत उसने सदैव विजयनगर से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे। अप्रैल 1397 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

ताजुद्दीन फीरोजशाह (१३९७ – १४२२ ई.)

!

मुजाहिद द्वितीय के बाद गयासुद्दीन और फिर षम्सुद्दीन सुल्तान बने। किन्तु वे दानों ही अत्यन्त निर्बल और अयोग्य थे। अतः वह कुछ ही महीने शासन कर पाये। नवम्बर, 1397 ई. में षम्सुद्दीन को हटाकर बहमनशाह के एक और पुत्र ताजुद्दीन फीरोजशाह ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। वह एक वीर शासक था। किन्तु साथ ही साथ वह भोग-विलासी और धर्मान्ध भी था। अपने पूर्ववर्ती सुल्तानों की भाँति उसने भी विजय नगर साम्राज्य के विरुद्ध आक्रामक नीति का अनुसरण किया।

उसके तीन युद्ध हुए जिनमें दो में वह विजयी रहा किन्तु तीसरे और अन्तिम युद्ध में विजयनगर के शासक देवराय द्वितीय ने उसे बुरी तरह पराजित किया और बहमनी राज्य के बहुत बड़े भूभाग पर अपना अधिकार कर लिया। फीरोज ने इससे अपने इतना अधिक अपमानित महसूस किया कि उसने शासन कार्य तक में रुचि लेना बन्द कर दिया। ऐसी स्थिति में 1422 ई. में उसके भाई अहमदशाह ने उसे अपदस्थ करके स्वयं सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

अहमदशाह (१४२२ – १४३५ ई.)

अहमदशाह एक वीर शासक था। सिंहासन पर बैठने के बाद सर्वप्रथम उसने गुलबर्गा के स्थान पर बीदर को अपनी राजधानी बनाया। अपने पड़ोसी राज्यों के प्रति उसके सदैव शक्तिपूर्ण विदेश नीति का अनुसरण किया। अपने भाई की पराजय का बदला उसने सदैव शक्तिपूर्ण विदेश नीति का अनुसरण किया। अपने भाई की पराजय का बदला लेने के लिए उसने विजयनगर पर आक्रमण किया और उसे घेर लिया। किन्तु अंत में वहाँ के राजा के द्वारा भारी युद्ध का हर्जाना दिये जाने पर उसने घेरे को उठा लिया। 1424 ई. में उसने वारंगल को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। तत्पश्चात् उसने मालवा पर आक्रमण किया किन्तु उसमें वह असफल रहा। उसके समय में दरबार में दक्षिणी अमीरों एवं विदेशी अमीरों के दलों में पारम्परिक प्रतिद्वन्द्विता बहुत अधिक बढ़ गयी थी जिसके कारण शासन व्यवस्था में षिथिलता आ गयी थी। 1435 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

अलाउद्दीन द्वितीय (१४३५ – १४५७ ई.)

अहमदशाह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अलाउद्दीन द्वितीय उसका उत्तराधिकारी हुआ। अलाउद्दीन एक पराक्रमी शासक था। उसने कोंकण पर आक्रमण करके वहाँ के शासक को अपना प्रभुत्व स्वीकार करने पर विवश किया। अपने पूर्ववर्ती सुल्तानों की भाँति उसने भी विजयनगर के विरुद्ध आक्रामक नीति का अनुसरण किया। 1443 ई. में उसने भी विजयनगर पर आक्रमण किया और वहाँ के तत्कालीन शासक देवराय द्वितीय को पराजित करके उससे युद्ध के हर्जाने के रूप में बहुत बड़ी धनराशि वसूल की। उसने संगमेश्वर के हिन्दू राजा की पुत्री से बलपूर्वक विवाह कर लिया। उसने जनहित के लिए भी कार्य किया। बीदर में

उसने एक अस्पताल का निर्माण करवाया और उसके लिए बहुत बड़ी धनराशि दान में दी। उसकी 1457 ई. में मृत्यु हो गयी।

अलाउद्दीन द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र हुमायूँ सुल्तान बना। उसने 1457 ई. से 1461 ई. तक शासन किया। वह एक क्रूर और अत्याचारी शासक था। उसने जनता पर इतने अधिक अत्याचार किये कि लोग उसको प्जालिमर्ष के नाम से पुकारने लगे थे। उसकी मृत्यु 1461 ई. में हुई। हुमायूँ की मृत्यु के बाद उसका पुत्र निजामशाह जो अभी अल्पवयस्क ही था, सिंहासन पर बैठा किन्तु 1463 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

मुहम्मदशाह तृतीय (१४६२ – १४८३ ई.)

बालक सुल्तान निजामशाह की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई महमूद मुहम्मदशाह तृतीय के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसे मदिरा और व्यभिचार का अत्यधिक शौक था। वह अपना सारा समय शराब और भोग-विलास में व्यतीत करता था। उसके समय में शासन का सारा कार्य उसके वजीर महमूद गवां द्वारा चलाया जाता था। महमूद गवां एक योग्य और वफादार वजीर था। उसने बहमनी राज्य की गिरती शक्ति को रोकने का भरकस प्रयास किया। सर्वप्रथम उसने शासन प्रबन्ध में अनेक सुधार करके उसे ठोस आधार पर पुनर्गठित किया। उसने सेना का भी पुनर्गठन करके उसे शक्तिशाली बनाया। पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करके उसने उनके बहुत बड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया। उसने विजयनगर पर आक्रमण करके वहां से बहुत-सा लूट का माल प्राप्त किया तथा उसके सबसे प्रसिद्ध बन्दरगाह गोआ पर भी –अधिकार कर लिया। कांकण के हिन्दू राजाओं पर आक्रमण करके उसने उनके कई किले छीन लिए। इसी तरह उसके उड़ीसा पर आक्रमण करके वहां से भी लूट में बहुत सारा धन प्राप्त किया। महमूद गवां की कला और साहित्य में भी रुचि थी। उसने बीदर में एक शानदार विद्यालय की स्थापना की और बड़ी संख्या में अनेक मूल्यवान ग्रंथ बहाए एकत्रित किये। किन्तु महमूद गवां का अन्त अच्छा नहीं हुआ। महमूद भवाँ एक विदेशी अमीर था और इसलिए दक्षिणी अमीर उसके बढ़ते हुए प्रभाव तथा शक्ति के कारण उससे ईर्ष्या करते थे। उन्हीं के भड़काने पर शराब के नषे में सुल्तान मोहम्मद शाह ने उसके वध की आज्ञा दे दी और इस प्रकार सुल्तान के आदेश से अप्रैल 1481 ई. में उसका वध कर दिया गया।

महमूद गवां की मृत्यु के साथ ही बहमनी साम्राज्य की एकता और शक्ति का भी अन्त हो गया। उसकी मृत्यु

के कुछ ही समय पश्चात् मार्च, 1482 ई. को सुल्तान मुहम्मदशाह की भी मृत्यु हो गयी। मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद बहमनी राज्य के जो भी सुल्तान हुए वे सब अत्यन्त निर्बल और निकम्मे थे। उनकी निर्बलता का लाभ उठाकर दक्षिणी तथा विदेशी सभी अमीरों ने राज्य के हितों की अवहेलना करके अपने स्वार्थी की और अधिक ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया था। इस राज्य का अन्तिम सुल्तान कलीमुल्लाशाह हुआ। 1527 ई. में उसकी मृत्यु के बाद बहमनी राज्य का अंत हो गया और वह निम्न पाँच राज्यों में विभाजित हो गया— बीजापुर, गोलकुण्डा, अहमदनगर, बरार और बीदर।

इस प्रकार बहमनी राज्य लगभग 180 वर्ष तक चला। इसका पूरा इतिहास कुचकों गरहयुद्धों और पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध निरन्तर संघर्शों से भरा पड़ा है। 1417 ई. में

भारत का इतिहास

अथानासियस निकोटीन नामक एक रूसी यात्री ने बहमनी राज्य का भ्रमण किया था। उसके कथन से ज्ञात होता है कि बहमनी साम्राज्य की

आबादी घनी थी किन्तु अधिकांश जनता निर्धन थी।

विजयनगर साम्राज्य

विजय नगर साम्राज्य की उत्पत्ति के बारे में अनेक मत प्रचलित हैं। ए फोरगोटन एम्पायर के लेखक सेवेल ने अपनी उक्त पुस्तक में ऐसे सात विभिन्न मतों का उल्लेख किया है किन्तु उनमें कोई मत ऐसा नहीं है जिसे सर्वमान्य माना जा सके। किन्तु इतना लगभग सभी मतों में स्वीकार किया गया है कि विजय नगर साम्राज्य की स्थापना, मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल के दौरान उत्पन्न हुई अव्यवस्था का लाभ उठाकर 1336 ई. में संगम के दो पुत्रों हरिहर और बुक्का ने की थी। सम्भवतः इस कार्य में उनको अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान एवं संत माधव विद्यारण्य तथा उनके विख्यात छोटे भाई वेदों के टीकाकार सायणाचार्य से भी प्रेरणा और सहायता प्राप्त हुई थी। तुंगभद्रा नदी के दक्षिणी तट पर स्थित विजयनगर नामक नगर को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया और इसी के नाम पर उनके राज्य का नाम भी विजयनगर पड़ा।

विजयनगर साम्राज्य 1336 ई. से लेकर लगभग 1620 ई. तक चला और इस दौरान वहाँ चार अलग-अलग वंशों ने शासन किया जिनका विस्तार से उल्लेख हम नीचे करेंगे—

संगम वंश (१३३६—१४८६ ई.)

हरिहर और बुक्का जिन्होंने कि विजय नगर राज्य की स्थापना की, संगम के पुत्र थे। अतः उनके राजवंश का नाम भी संगम वंश पड़ा। हरिहर प्रथम (1336—1353 ई.) और बुक्का (1353—1379 ई.) दोनों भाइयों ने सम्राट अथवा महाराजाधिराज की उपाधियां धारण नहीं की। उन्होंने विस्तारवादी नीति का अनुसरण करके अपने नवस्थापित राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। सर्वप्रथम 1340 ई. के लगभग उन्होंने कोंकण के हिन्दू शासकों पर आक्रमण करके वहाँ के बहुत बड़े भूभाग पर तथा मालाबार के समुद्र तट पर अपना अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् उन्होंने होयसल राज्य के शासक बल्लाल चतुर्थ को जो एक निर्बल और अयोग्य शासक था, पराजित करके समस्त होयसल राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। हरिजन प्रथम की मृत्यु के बाद बुक्का ने मदुरा के मुस्लिम राज्य को भी जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। उसने अपने सरदारों की विद्रोहात्मक प्रवृत्ति का दमन कर विजयनगर राज्य की केन्द्रीय शक्ति को शक्तिशाली बनाया। उसकी सफलता से प्रभावित होकर आसपास के हिन्दू सरदारों ने भी स्वेच्छा से विजयनगर की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। उसने कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के मध्य स्थित रायचूर दो आब को भी जो एक अत्यन्त उपजाऊ प्रदेश था और जो विजयनगर साम्राज्य तथा बहमनी राज्य के बीच सदैव झगड़े की जड़ रहा, बलपूर्वक अपने अधिकार में करने की कोशिश की। किन्तु बहमनी के तत्कालीन सुल्तान मुहम्मदशाह प्रथम के कड़े विरोध के कारण वह अपने इस प्रयास में सफल नहीं हो सका। बुक्का

के शासनकाल की एक महत्वपूर्ण घटना 1374 ई में उसके द्वारा चीन के शासक के पास एक पेश्टमण्डल

भेजना था। बुक्का की मृत्यु 1379 ई. में हुई। इस प्रकार हरिहर और बुक्का ने अपने अथक प्रयासों से दक्षिण भारत में एक विषाल और शक्तिशाली हिन्दू राज्य की स्थापना की।

बुक्का की मृत्यु के बाद उसका पुत्र हरिहर द्वितीय (1379–1404 ई.) उसका उत्तराधिकारी बना। उसने महाराजाधिराज तथा राज-परमेश्वर की उपाधियाँ धारण की। उसके पूर्व हरिहर प्रथम और बुक्का

ने इस प्रकार की उच्च उपाधियाँ धारण नहीं की थी। वह एक महान् योद्धा और कुशल सेनानायक था और उसने कनारा, मैसूर, त्रिचनापल्ली, कान्ची तथा चिंगलपट आदि प्रदेशों को जीतकर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसने रायपुर दोआब को भी बलपूर्वक हस्तगत करने का प्रयत्न किया। किन्तु फीरोजशाह बहमनी ने उसे परास्त करके अपमानजनक सन्धि करने पर विवश किया। वह पैव मत का कटर अनुयायी था किन्तु फिर भी अन्य धर्मों के प्रति उसका व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण रहा। 1404 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

हरिहर द्वितीय के बाद देवराय प्रथम (1404–1410 ई.) और वीर विजय (1410–1419 ई.) क्रमशः शासक बने किन्तु वे दोनों ही निर्बल और अयोग्य सिद्ध हुए। वीर विजय के बाद देवराय द्वितीय (1419–1449 ई.) सिंहासन पर बैठा। वह एक कुशल प्रशासक और सेनानायक था। उसने शासन व्यवस्था में अनेक सुधार करके उसका ठोस आधार पर पुनर्गठन किया और सेना को भी शक्तिशाली बनाया। सामुद्रिक व्यापार के विकास के लिए उसने एक स्वतंत्र विभाग की स्थापना की। उसके शासनकाल में दो विदेशी यात्रियों – इटली के निकोली कोण्टी और ईरान के अब्दुररज्जाक – ने विजय नगर की यात्रा की। इन यात्रियों ने अपने यात्रा वृत्तान्तों में विजयनगर साम्राज्य की समृद्धि का बड़ा विषद वर्णन किया है। अपने पूर्ववर्ती शासकों की भाँति देवराय द्वितीय को भी बहमनी सुलतानों से संघर्ष में उलझना पड़ा। उसके –सिंहासन पर बैठने के कुछ समय बाद ही बहमनी सुल्तान फीरोजशाह ने विजयनगर पर आक्रमण किया था किन्तु देवराय द्वितीय ने उसे पराजित करके बहमनी के कुछ क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा लिया। किन्तु बाद में 1443 ई. में जब अहमदशाह बहमनी ने विजयनगर पर आक्रमण किया तो देवराय द्वितीय की हार हुई और उसको युद्ध के हर्जाने के रूप में बहुत बड़ी धन राशि बहमनी को देनी पड़ी। देवराय द्वितीय की मृत्यु 1449 ई. में हो गयी। उसके उत्तराधिकारी दुर्बल सिद्ध हुए। उनकी दुर्बलता का लाभ उठाकर सरदारों ने विद्रोह करना आरम्भ कर दिया तथा साथ ही पड़ोसी राज्यों के आक्रमण भी प्रारम्भ हो गये। इन्हीं परिस्थितियों में चन्द्रगिरि के शक्तिशाली सामन्त नरसिंह वंश के अन्तिम शासक विरुपाक्ष द्वितीय को गद्दी से हटाकर 1486 ई. में स्वयं सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

सलुव वंश (१४८६ – १५०५ ई.)

नरसिंह सलुव ने गये राजवंश की नींव डाली जो सलुव वंश के नाम से जाना जाता है। उसने 1486 ई. से लेकर 1492 ई. तक छह वर्ष तक शासन किया। वह एक वीर और साहसी योद्धा था। उसने बहमनीराज्य तथा उड़ीसा पर आक्रमण करके उनसे वे प्रदेश पुनः प्राप्त कर लिये जिनको इन राज्यों ने देवराय द्वितीय के दुर्बल उत्तराधिकारियों के शासनकाल में उनसे छिनकर अपने अधिकार में कर लिया था। उसकी मृत्यु के बाद उसके एक के बाद एक दो पुत्र सिंहासन पर बैठे किन्तु दोनों ही अत्यंत निर्बल और अयोग्य सिद्ध हुए। वे केवल नाममात्र के शासक रहे और साम्राज्य की सारी शक्ति पर सेनापति नरसनायक ने अधिकार

भारत का इतिहास

कर लिया। 1550 ई. में नरसनायक की मृत्यु के बाद उसके पुत्र वीर नरसिंह ने नरसिंह सलुव के निकम्मे पुत्र को हटाकर स्वयं ने सिंहासन कर अधिकार कर लिया।

तुलुव वंश (१५०५–१५७० ई.)

बीर नरसिंह ने नये राजवंश की स्थापना की जो तुलुन वंश के नाम से जाना जाता है। वह एक वीर सेनानायक और कुशल प्रशासक था। उसके पूर्वाधिकारी और निर्बल सलुव शासकों के समय में शासन में जो षिथिलता आ गयी थी उसको उसने पुनः व्यवस्थित किया। उसके समय में विजयनगर पर बहमनी सुल्तानों के जो आक्रमण हुए उनको उसने सफलतापूर्वक विफल कर दिया। उसने 1505 ई. से 1509 ई. तक शासन किया। 1509 ई. में उसकी मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई कृष्णदेवराय सिंहासन पर बैठा।

कृष्णदेवराय (१५०६–१५३० ई.)

—कृष्णदेवराय— विजयनगर का सबसे महान् शासक था। वह एक महान् शासन प्रबन्धक और वीर सेनानायक था। सर्वप्रथम उसने एक सुदृढ़ शासन व्यवस्था का निर्माण किया और राजस्व व्यवस्था में अनेक सुधार करके राज्य को आर्थिक दृष्टि से मजबूत बनाया। उसने एक विषाल और शक्तिशाली सेना का भी गठन किया जिसमें 32,6000 घोड़सवार, 7 लाख पैदल सैनिक और 651 हाथी थे।

कृष्णदेवराय ने अपने शासनकाल में अनेक युद्ध किये और उन सभी में वह विजयी रहा। उस सबसे पहले विद्रोही सामन्तों की शक्ति का दमन करके उन पर अपना कठोर नियंत्रण स्थापित किया।

सिंहासन पर बैठते ही उसे बहमनी के कठपुतली सुल्तान महमूदशाह के आक्रमण का सामना करना पड़ा। महमूदशाह ने विजयनगर के विरुद्ध अपने इस युद्ध को षिहाद (धार्मिक युद्ध) घोषित कर मुसलमान सैनिकों की धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित करने की कोशिश की। परन्तु कृष्णदेवराय ने महमूदशाह को बुरी तरह पराजित किया। यही नहीं उसने भांगती हुई सेना का बहुत दूर तक पीछा किया।

इस युद्ध के बाद उसने रायपुर के दुर्ग तथा करण्णा और तुंगभद्रा के बीच स्थिति दोआब के प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने अपने पड़ोसी शत्रु राज्य उड़ीसा की ओर ध्यान दिया। 1513 ई. में उसने उड़ीसा के राजा राजपति प्रतापरुद्र को युद्ध में परास्त किया और उसने उससे विजयनगर राज्य की वह सारी भूमि वापिस ले ली जो प्रतापरुद्र ने उसके दुर्बल पूर्वाधिकारियों के समय में उनसे छीन कर अपने अधिकार में कर ली थी। 1514 ई. में उसने पुनः उड़ीसा पर आक्रमण करके उससे उदयगिरी का किला जीत लिया। तत्पश्चात् उसने कोडबिन्दु तथा कोड़पल्ली पर भी अधिकार कर लिया। इन युद्धों में उड़ीसा के राजा की पत्नी तथा उसका पुत्र कृष्णदेवराय के सैनिकों के हाथ पड़ गये थे। किन्तु उसने उनके साथ उदारता का व्यवहार किया तथा ससम्मान उनको वापस लौटा दिया। बाद में उड़ीसा के राजा ने अपनी पुत्री का विवाह कृष्णदेवराय से कर दिया। 1520 ई. में कृष्णदेवराय ने बीजापुर राज्य को बुरी तरह रौंद डाला और गुलबर्गा के किले को तहस-नहस कर दिया। इस प्रकार इन युद्धों के द्वारा उसने अपने पड़ोसी शत्रु राज्यों को पराजित करके उनके बहुत बड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया। इन युद्धों के परिणामस्वरूप

उसका राज्य की सीमायें पश्चिम में दक्षिण कोकण, पूरब में विजगापटम और दक्षिण में भारतीय प्रायद्वीप के छोर तक पहुँच गयी। बताया जाता है कि हिन्द महासागर में स्थित कुछ द्वीप भी उसका आधिपत्य स्वीकार करते थे। इस प्रकार कृष्णदेवराय के शासनकाल में विजयनगर राज्य की शक्ति तथा प्रतिष्ठा, अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी।

एक महान् विजेता तथा योग्य शासक होने के साथ-ही-साथ कृष्णदेवराय विद्वान तथा कला एवं साहित्य का भी संरक्षक था। उसने नागल्लपुर नगर की स्थापना की। अपनी राजधानी विजयनगर की सुन्दरता की वृद्धि करने के लिए उसने उसमें अनेक झण्डपट तथा शोपुरम् बनवाये। उसने प्रसिद्ध हजार मन्दिर (हजार स्तम्भों वाला मन्दिर) का निर्माण करवाया जो कला-विशेषज्ञों के अनुसार हिन्दुओं की मन्दिर स्थापत्य कला का सर्वोत्तम आदर्श है। उसके समय में साहित्य रचना का काम भी अपनी उन्नति की चरमसीमा पर पहुँच गया था। अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि वह संस्कृति एवं तेलगू साहित्य का महान् संरक्षक था और उत्तर भारत के प्रसिद्ध सम्राट विक्रमादित्य के समान उसकी राजसभा में भी अष्ट दिग्गज कहे जाने वाले 8 प्रसिद्ध विद्वान रहते थे। तेलुगु साहित्य का महान् कवि अलसानी उसका राजकवि था। यद्यपि कृष्णदेवराय स्वयं वैष्णव मत का अनुयायी था किन्तु अन्य सभी मतों एवं धर्मों के प्रति उसका व्यवहार सदैव सहिष्णुतापूर्ण रहा। बताया जाता है कि गोवा के पुर्तगाली गवर्नर अलबुकर्क के साथ उसके मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे और उसने उसे भटकल में एक किला बनाने की आज्ञा दे दी गयी थी। कृष्णदेवराय की मृत्यु 1530 ई. में हुई। सभी विदेशी तथा भारतीय विद्वान उसकी गिनती विश्व के महान् शासकों में करते हैं। उसके शासनकाल में पुर्तगाली यात्री डोमिंगोस पेड्रज ने विजयनगर साम्राज्य की यात्रा की थी। पेड्रज ने अपने वृत्तांत में कृष्णदेवराय की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वह इतना विद्वान तथा पूर्ण शासक है, जितना कि होना सम्भव है, वह प्रसन्नचित्त तथा हास्यप्रिय है। वह एक महान् तथा न्याय प्रिय शासक है किन्तु कभी-कभी उसे क्रोधावेश का दौरा भी हो जाता है। अपने पद सेना तथा भूमि की दृष्टि से वह किसी भी सम्राट से बढ़कर है। वह सभी दृष्टियों से इतना वीर तथा पूर्ण है कि उसके पास जो कुछ भी है वह उस जैसे व्यक्ति के पास होना चाहिए उसकी तुलना में कुछ नहीं है। मुगल सम्राट बाबर ने भी अपनी आत्मकथा ज़ाबरनामा में कृष्णदेवराय को भारत का एक शक्तिशाली शासक बताया है।

कृष्णदेवराय के बाद उसका छोटा भाई अच्युतराय उसका उत्तराधिकारी हुआ उसने 1530 ई. से लेकर 1542 ई. तक शासन किया। किन्तु वह एक दुर्बल शासक था। अतः उसके समय में दरबार में प्रतिद्वन्द्वी गुट बन गये जिससे केन्द्रीय सत्ता कमजोर हो गयी। उसकी मृत्यु के बाद उसका भतीजा सदाशिव

राय सिंहासन पर बैठा। वह भी एक निर्बल शासक था। उसकी निर्बलता का लाभ उठाकर राज्य की सारी शक्ति पर उसके मंत्री रामराय ने कब्जा कर लिया। रामराय यद्यपि एक योग्य प्रशासक था किन्तु वह अत्यन्त महत्वाकांक्षी और अनीतिज्ञ था। इसने दक्षिण के मुसलमान राज्यों (बीजापुर, गोलकुण्डा, अहमदनगर और बीदर) के पारस्परिक संघर्ष में हस्तक्षेप करके विजयनगर राज्य की शक्ति तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि करने की नीति का अनुसरण किया। 1543 ई. में उसने बीजापुर के विरुद्ध गोलकुण्डा तथा अजमदनगर के साथ .

मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिये। इसके 4 साल बाद ही जब बीजापुर और गोलकुण्डा ने मिलकर अहमदनगर पर आक्रमण किया तो उसने इस आक्रमण में उनका साथ दिया। इस

भारत का इतिहास

आक्रमण के दौरान विजयनगर की सेना ने अहमदनगर राज्य को खूब लूटा और कहा जाता है कि उसने मस्जिदों को तोड़ा और कुरान का अपमान किया। कुछ स्वार्थी लोगों ने इस्लाम के इस अपमान का बढ़ा-चढ़ाकर प्रचार किया जिसके फलस्वरूप दक्षिण के ये मुस्लिम राज्य कुछ समय के लिए अपने पारस्परिक मतभेदों को भुलाकर विजयनगर के विरुद्ध एक हो गए।

तालीकोट का युद्ध (जनवरी १५६५ ई.)

बीजापुर, गोलकुण्डा, बीदर और अहमदनगर की संयुक्त सेनाओं ने विजयनगर पर आक्रमण कर दिया और 23 जनवरी, 1565 ई. को तालीकोट के प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र में विजयनगर की सेना को बुरी तरह पराजित किया। प्रधानमंत्री रामराय ने वीरता पूर्वक युद्ध किया किन्तु वह पकड़ा गया और उसका वध कर दिया गया। इसके बाद विजयी मुस्लिम सेना ने राजधानी विजयनगर पहुँचकर उस सुन्दर नगर को बड़ी निर्दयता के साथ तहस-नहस कर डाला। ए फोरगोटन एम्पायर के लेखक सेवेल लिखते हैं कि प्संसार के इतिहास ने कभी भी इतने वैभवशाली नगर का इस प्रकार सहसा सर्वनाश नहीं किया गया, जैसा कि विजयनगर का हि यद्यपि तालीकोट के युद्ध के परिणामस्वरूप विजयनगर राज्य अत्यन्त कमजोर हो गया किन्तु यह युद्ध उसके अस्तित्व को समाप्त नहीं कर सका। विजय के बाद चारों सुल्तान पारस्परिक ईर्ष्या एवं सन्देह के कारण विजय नगर राज्य का अस्तित्व पूरी तरह से समाप्त कर देने के लिए मिलकर कार्य नहीं कर सके। इस राज्यों की आपसी फूट का लाभ उठाकर षीघ्र ही विजयनगर अपनी खोई हुई भूमि तथा शक्ति को पुनः प्राप्त करने में सफल हो गया।

अरविन्दु वंश और विजयनगर साम्राज्य का पतन

तालीकोट के युद्ध के बाद रामराय का भाई तिरुमाल प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त हुआ। उसने विजयनगर की जगह पैनुगोंडा को विजयनगर साम्राज्य की राजधानी बनाया। कुछ समय बाद 1570 ई. में उसने सदाशिवराय को अपदस्थ करके स्वयं सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसने अरविन्दु वंश की नींव डाली। साम्राज्य की शक्ति तथा प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने में वह कुछ हद तक सफल हुआ। दुर्भाग्यवश उसके सभी अधिकारी अयोग्य और दुर्बल सिद्ध हुए और उनके समय में साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। इस वंश का अन्तिम शासक रंग तृतीय हुआ। उसके समय में राज्य के विभिन्न भागों में सामन्तों के विद्रोह प्रारम्भ हो गये। उसमें इतनी सामर्थ्य और योग्यता नहीं थी कि वह विद्रोही सामन्तों की शक्ति का दमन कर सके। परिणामस्वरूप श्रीरंगपट्टम, मदुरा, तंजौर बेदनूर आदि के अधीनस्थ नायकों (सामन्तों) ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और इस तरह विजयनगर साम्राज्य का अंत हो गया।

शासन का स्वरूप

विजयनगर साम्राज्य उस क्रांतिकारी आन्दोलन का परिणाम था जो दक्षिण में मुसलमानों को निकाल बाहर करने के लिए प्रारम्भ हुआ था। मलिक काफूर की दक्षिण विजय के समय से ही दक्षिण भारत के हिन्दू इस प्रदेश में उत्पात फैलाने वाले, नरसंहारक, पवित्र धार्मिक स्थलों के विध्वंसक और जनता की सम्पत्ति के अपहरणकर्ता मुसलमान अत्याचारियों के प्रति तीव्र घृणा का भाव मन में बसाये हुए थे। 1327 ई. में काकतीय राज्य के पतन और होयसल राज्य की शक्तिहीनता तथा मुहम्मद बिन तुगलक की गलत नीतियों के कारण देश में उत्पन्न

हुई अराजकता की स्थिति ने दक्षिण में विजय नगर साम्राज्य जन्म देने वाली परिस्थितियों ने हो इसकी शासन प्रणाली के स्वरूप को निर्धारित कर लिया और अपने अस्तित्व के अन्तिम क्षण तक यह राज्य की तरह यहाँ अन्य धर्म के लोगों पर अत्याचार नहीं किये जाते थे। जैनियों, वैश्वों तथा पैवों के साथ राजा का समान व्यवहार था और उन सबको धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। राज्य में निवास करने वाली मुस्लिम जनता के साथ भी किसी प्रकार का कोई दुर्व्यवहार नहीं किया जाता था। देवराय द्वितीय ने जब अपनी सेना में मुसलमानों की भर्ती की तो उसने उनके इबादत के लिए मस्जिदों का भी निर्माण करवाया था। विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत मुसलमाना प्रजा को सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं।

विजयनगर साम्राज्य के आरम्भिक शासकों ने शासन विज्ञान में कुशल ब्राह्मण मंत्रियों की सहायता से अपने इस नवीन साम्राज्य के लिए एक सुयोग्य शासन प्रणाली स्थापित करने का प्रयत्न किया और इस कार्य में वे काफी हद तक सफल रहे। हरिहर और बुक्का ने प्राचीन हिन्दू परम्पराओं को पुनः स्थापित किया जिन पर चलकर उनके उत्तराधिकारी विजयनगर साम्राज्य को सभ्यता एवं संस्कृति का केन्द्र बना पाये। ऐसा भव्य केन्द्र दक्षिण में उससे पूर्व कभी नहीं रहा था।

केन्द्रीय शासन

विजयनगर साम्राज्य में निरंकुष राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था थी। राज्य की सम्पूर्ण शक्तियाँ राजा में ही निहित होती थी। वही साम्राज्य का सर्वोच्च सैनिक, असैनिक तथा न्यायिक अधिकारी होता था। किन्तु इतना शक्तिशाली होते हुए भी वह अत्याचारी अथवा उत्तरदायित्वहीन निरंकुष शासक न था। वह धर्मानुसार शासन चलाता था और राज्य तथा प्रजा के हितों का सदैव ध्यान रखता था। कृष्णदेवराय ने जो कि विजयनगर का सबसे महान् शासक हुआ है, अपनी पुस्तक अमुक्त माल्यद में राजा के कर्तव्यों का जो उल्लेख किया है, उससे विजयनगर के शासकों के राजनैतिक आदर्शों के बारे में बड़ी उच्च जानकारी मिलती है। वह लिखता है, षुकुटधारी राजा को सदैव धर्म पर दृष्टि रखते हुए लोगों को एकत्र करके शासन करना चाहिए, राज्य में ऐसी खानों की खोज करनी चाहिए जो बहुमूल्य रत्न देती हों और उन रत्नों को निकलवाना चाहिए। प्रजा पर हल्का कर लगाना चाहिए। षत्रुओं को शक्ति द्वारा कुचल कर उनके कार्यों को रोकना चाहिए। सबके साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। अपनी सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। और जातियों के सम्मिश्रण को रोकना चाहिए। अपने किलों को मजबूत करना चाहिए। अवांछनीय वस्तुओं की वृद्धि रोकनी चाहिए और अपने नगरों की शुद्धता की ओर सदैव ध्यान देना चाहिए।¹⁶

राजा को शासन-कार्य में सहायता देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होती थी। प्रधानमंत्री, महासेनापति तथा मुख्य कोशाध्यक्ष मंत्रिपरिषद् के प्रमुख सदस्य होते थे। मंत्रियों की नियुक्ति राजा द्वारा ही की जाती थी और वे उसकी इच्छापर्यन्त ही अपने पदों पर रह सकते थे। सामान्यतः मंत्रिपरिषद् के सदस्य कुलीन परिवारों में से ही नियुक्त किये जाते थे। मंत्रियों के अतिरिक्त निम्न पदों पर कार्य करने वाले अन्य पदाधिकारी भी होते थे। जैसे-रत्न भण्डार का अध्यक्ष, व्यापार विभाग का अध्यक्ष, पुलिस अध्यक्ष, अश्वशाला अध्यक्ष इत्यादि।

राजा को शासन कार्य में परामर्श देने के लिए एक बड़ी समिति भी होते थे जिसमें मन्त्रियों के अलावा विभिन्न प्रान्तों के राज्यपाल, पुरोहित, विद्वान एवं कवि सम्मिलित होते थे। इस

भारत का इतिहास

समिति के सभी सदस्यों की नियुक्ति भी राजा के द्वारा ही की जाती थी। विजयनगर के शासक दरबार के वैभव पर बहुत अधिक ध्यान देते थे और उस पर बहुत अधिक धन खर्च किया जाता था।

प्रान्तीय शासन

विजय नगर साम्राज्य 6 प्रान्तों में विभक्त था। डोमिंगोस पेड्रज ने विजयनगर साम्राज्य का 200 प्रान्तों में विभक्त होना लिखा है। किन्तु उसके इस कथन को अधिकांश विद्वान् स्वीकार नहीं करते। प्रत्येक प्रान्त का शासन एक अधिकारी के हाथ में होता था जिसे महामण्डलेश्वर कहा जाता था। महामण्डलेश्वर के पद पर या तो राज परिवार के सदस्य को अथवा किसी प्रभावशाली सामन्त को ही नियुक्त किया जाता था। प्रान्त की सैनिक, असैनिक तथा न्यायिक सभी शक्तियाँ नायक के ही हाथ में होती थी। किन्तु उसे अपने प्रान्त की आय-व्यय का हिसाब नियमित रूप से केन्द्रीय सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना पड़ता था। राजा द्वारा माँगने पर उसे राजा को सैनिक सहायता भी देनी पड़ती थी। यद्यपि राजा का सूबेदारों पर पूर्ण नियंत्रण रहता था किन्तु फिर भी अपने प्रान्तों में वे विस्तृत शक्तियों का उपभोग करते थे।

स्थानीय शासन

प्रान्त जिलों में विभक्त होते थे जिन्हें वलनाडु कहा जाता था। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम होता था। प्रत्येक ग्राम में आधुनिक ग्राम पंचायत की भाँति एक ग्राम सभा होती थी। ग्राम सभा का प्रधान रू आर्यंगर कहलाता था। जो गाँव के लेखक, तौला, चौकीदार, बेगार का चौधरी और अन्य अनेक पदाधिकारियों की सहायता से गाँव का शासन प्रबन्ध चलाया करता था। ग्राम सभा के इन पदाधिकारियों को जागीरों अथवा कृषि की उपज के एक भाग के रूप में वेतन मिलता था। गाँवों से सम्बन्धित मामलों की देखभाल के लिए केन्द्रीय सरकार में महानायकाचार्य नामक एक अधिकारी होता था। महानायकाचार्य के माध्यम से ही केन्द्रीय सरकार का गाँवों से सम्बन्ध बना रहता था। महानायकाचार्य को गाँवों के प्रबन्ध का निरीक्षण करने का अधिकारी होता था।

वित्त व्यवस्था

राज्य की आय का मुख्य स्रोत भूमिकर था। हिन्दू विधि के अनुसार राजा को उपज का $1/8$ भाग भूमिकर के रूप में वसूल करने का अधिकार है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विजयनगर के शासक भूमिकर $1/8$ से अधिक दर से वसूल करते थे क्योंकि इतने थोड़े-से भाग से ही अपने वैभव एवं गौरव को अक्षुण्ण रखना विजयनगर जैसे विषाल साम्राज्य के लिए असम्भव था। भूमिकर के अतिरिक्त सरकार चरागाह-कर, विवाह कर, बही शुल्क तथा उद्योगों और दस्कारी की वस्तुओं पर भी वसूल करती थी। कर व्यवस्था कितनी पूर्ण थी, यह बात अब्दुररज्जाक के इस कथन से स्पष्ट हो जाती है कि वेष्ट्याएँ भी करों से मुक्त न थी। और उनसे राज्य को 12,000 फनम की आय होती थी। यह राशि नगर रक्षक की अधीनता में कार्य करने वाले 12,000 पुलिस कर्मचारियों पर व्यय की जाती थी।

सेना व्यवस्था

पेज के अनुसार कृष्णदेवराय की सेना में 7 लाख पैदल, 32,600 घुड़सवार और 651 हाथी थे। नुनीज ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों प्लेखकों

द्वारा दी गयी सेना की यह संख्या बहुत अतिषयोक्तिपूर्ण है। यह सच है कि उस काल में राजा लोग सरलता से विषाल सेना जुटा लेते थे किन्तु विजयनगर राज्य की स्थायी सेना निश्चित रूप से इतनी विषाल नहीं रही होगी जितनी पेड़ ने बताया है। सैनिक विभाग का प्रबन्ध महासेनापति के अधीन था।

यद्यपि विजयनगर की सेना ने अनेक अवसरों पर अद्भुत शौर्य का प्रदर्शन किया किन्तु जिस तरह मुसलमान सेनाओं द्वारा अनेक बार इसको करारी हार दी गयी, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि विजयनगर की सेना का संगठन तथा अनुशासन दक्षिण के मुसलमान सुल्तानों की सेना की अपेक्षा घटिया रहा होगा।

न्याय व्यवस्था

मध्यकालीन सभी शासकों के समान यहाँ भी राजा ही प्रधान न्यायाधीश होता था और अनेक महत्वपूर्ण मामलों के निर्णय वह स्वयं ही कर दिया करता था। किन्तु नियमानुसार विभिन्न स्तरों पर न्यायालय भी होते थे। इनके न्यायाधीशों की नियुक्ति स्वयं राजा करता था। स्थानीय झगड़ों का निर्णय ग्राम सभाओं द्वारा ही कर दिया जाता था।

दीवानी मामलों का निर्णय हिन्दू विधि के अनुसार किया जाता था। अब्दुर्रज्जाक लिखता है कि देश में प्रचलित हिन्दू न्याय प्रणाली के अनुसार सताये हुए लोगों की प्रार्थनाओं पर निर्णय दिया जाता था और किसी भी व्यक्ति को इस निर्णय का विरोध करने का अधिकार नहीं था। किसी स्वीकृत विधि अथवा देशाचार के विरुद्ध आचरण करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। दीवानी कानून का उल्लंघन करने वाले को अर्थदण्ड भी दिया जाता था। फौजदारी मामलों का न्याय विधान कठोर एवं बर्बर था सच्चाई प्रकट कराने के लिए तरह-तरह के यातनायें देना सर्वाधिक सफल उपाय माना जाता था। चोरों व्यभिचारी एवं राजद्रोह के लिए प्राणदण्ड अथवा अंग-भंग निश्चित थे। नुनीज ने इन बर्बर दण्डों का विस्तृत वर्णन किया है। वह लिखता है, ष्विश्वासघात करने वाले सरदारों को एक लकड़ी की सूली पर जो उनके पेट में घुसायी जाती है, जीवित लटका दिया जाता है और निम्न श्रेणी के लोगों का उनका चाहे कोई भी अपराध हो, वह (राजा) बाजार में सिर काटने की आज्ञा देता है और हत्या का भी यही दण्ड दिया जाता है। सामाजिक और आर्थिक जीवन

सामाजिक जीवन

समकालीन विदेशी यात्रियों के वृत्तांतों से हमें विजयनगर के लोगों के सामाजिक जीवन के बारे में बहुत अच्छी जानकारी मिल जाती है। इन यात्रियों के वृत्तांतों से यह बात स्पष्ट होती है कि उस समय का समाज सुसंगठित था। ब्राह्मणों का समाज में अधिक प्रभाव था। सामाजिक और धार्मिक जीवन में ही नहीं बल्कि राजनीतिक तथा शासन सम्बन्धी मामलों में भी उनका विशेष महत्व था। उनके विषय में नुनीज लिखता है, प्स्त्य-परायण, वाणिज्य-व्यवसाय में संलग्न, हिसाब-किताब में बहुत निपुण,

दुबले-पलते सुघड़ शरीर वाले, परन्तु कठोर परिश्रम के लिए अनुपयुक्त होते थे। उन्हें कुछ विशेषाधिकारी भी प्राप्त था। राजा अथवा राज्य का कोई भी न्यायालय उन्हें मृत्युदण्ड नहीं दे सकता था। उत्तर भारत की तरह विजयनगर साम्राज्य में जातीय जटिलता नहीं थी और छुआछूत तथा ऊँचनीच की भावना भी विद्यमान नहीं थी।

भारत का इतिहास

स्त्रियों को समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। वे साम्राज्य के राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में भाग लेती थीं। उन्हें विभिन्न प्रकार के अस्त्र-पस्त्र के प्रयोग, कुष्ठी संगीत तथा ललित कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थी। संगीत, नृत्य तथा अन्य ललित कलाओं में वे निस्संदेह पुरुषों से अधिक बढ़ी चढ़ी थी। नुनीज लिखता है कि यहाँ की स्त्रियाँ हिसाव रखने का कलर्को का, अंगरक्षकों को, पहलवानी का, ज्योतिषी तथा भविष्यवक्ता का काम भी करती थी।

ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सब जातियों के लोग माँसाहारी थे। गाय और बैल को छोड़कर वे सभी प्रकार का गोष्ठ खाया करते थे। बाजार करते थे। बाजार में खुलेरूप से रूप से माँस का विक्रय होता था। पेइज तथा नुनीज ने लोगों के भोजन के लिए बाजार में बिकने वाले नाना प्रकार के पशु-पक्षियों का उल्लेख किया है।

समाज में अनेक कुप्रथाएँ भी प्रचलित थी, जैसे— धनी लोगों में बहुविवाह प्रथा तथा बड़े पैमाने पर दहेज लेने की प्रथा का प्रचलन था। सती—प्रथा का प्रचलन था। विधवाएँ अपने मृत पतियों के साथ चिता में जलकर सती हो जाया करती थी और ब्राह्मण लोग इस प्रकार के शरीर त्याग करने की बहुत प्रशंसा करते थे। महत्वपूर्ण त्यौहारों पर बकरों और भैसों की बलि चढ़ायी जाती थी। पेइज लिखता है कि एक उत्सव पर राजा की उपस्थिति में 24 भैसों और 150 भेड़ों की बलि दी जाती थी और इन पशुओं के सिर तलवार की एक ही चोट में काटे जाते थे। प्रसिद्ध महानवमी के उत्सव की समाप्ति पर अन्तिम दिन 250 भैसों मारी जाती थी। राजधानी में धन की विपुलता के कारण विलासिता को प्रोत्साहन मिला जिससे जनजीवन में अनेक दोष भी प्रवेश कर गये। वेष्टावृत्ति का प्रचलन खूब बढ़ गया। अब्दुररज्जाक के वर्णन से ज्ञात होता है कि नगर में अनेक वेष्टालय थे जहाँ चरित्रहीन स्त्रियाँ अपना जाल बिछाकर लोगों को बुरे मार्ग पर प्रवृत्त करती थी। वेष्टाओं को सार्वजनिक उत्सवों में आने दिया जाता था और राज्य के बड़े—से—बड़े अभिजातवर्गीय लोग उनके सहवास का आनन्द लेते थे और यह बुरा भी नहीं समझा जाता था।

आर्थिक दशा

विजयनगर साम्राज्य की गणना तत्कालीन विश्व के अत्यन्त धनी और समृद्ध राज्यों में की जाती है। 15 वीं और 16 वीं शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य का भ्रमण करने वाले विदेशी यात्रियों ने अपने वृत्तांतों में विजयनगर के वैभव और समृद्ध का बड़ा अच्छा वर्णन किया है। ईरानी राजदूत तथा यात्री अब्दुररज्जाक जिसने 1443–44 ई. में विजयनगर का भ्रमण किया था लिखता है, देश इतना अच्छा बसा हुआ है कि संक्षेप में उसका चित्र प्रस्तुत करना असम्भव है। राजा के कोशगृह में अनेक गड्ढे खुदे हुए हैं। जिनमें पिघला हुआ सोना भर दिया गया है जिसकी ठोस षिलाएँ बन गयी हैं। राज्य में निवास करने वाली सभी उच्च और निम्न जातियों के लोग यहाँ तक कि बाजार के कारीगर भी कानों, कंठों, बाहुओं कलाइयों तथा उंगलियों में जवाहरात तथा सोने के आभूषण पहिनते हैं। लगभग इसी तरह का वर्णन डोमिंगोस पेइज नामक पुर्तगाली यात्री ने भी किया है। वह लिखता है, राजा के पास भारी कोश और अनेक सैनिक तथा हाथी हैं। इस नगर में प्रत्येक राष्ट्र और जाति के लोग मिलेंगे क्योंकि यहाँ व्यापार अधिक होता है और हीरे आदि बहुमूल्य पत्थर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। संसार में यह सबसे अधिक सम्पन्न नगर है और यहाँ चावल, गेहूँ आदि अनाज के भण्डार भरे हैं ह बारबोसा भी जो 1516 ई. में भारत आया था, विजयनगर की समृद्धि का उल्लेख करता है।

विजयनगर के शासकों द्वारा कृषि को जो प्रोत्साहन दिया गया और सिंचाई वगैरह की जो व्यवस्था की गयी उसके कारण कृषि का उत्पादन बहुत बढ़ गया था। उद्योग-धन्धे भी उन्नत अवस्था में थे। वस्त्र उद्योग धातु उद्योग और इन उद्योग धन्धे भी उन्नत अवस्था में थे। वस्त्र उद्योग, धातु उद्योग और इत्र उद्योग प्सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्योग थे। उद्योगों तथा व्यवसायों के नियंत्रण के लिए अनेक संघ थे। एक ही प्रकार के व्यवसाय करने वाले लोग बहुधा नगर के एक ही भाग में रहा करते थे। अन्तर्देशीय तथा सामुद्रिक दोनों प्रकार का व्यापार उन्नत अवस्था में था। साम्राज्य में अनेक बन्दरगाह थे और हिन्द महासागर के द्वीपों

मलाया द्वीपमाला, बर्मा, चीन, अरब, ईरान, दक्षिणी अफ्रीका, अबीसीनिया, पुर्तगाल आदि देशों के साथ अच्छा व्यापार होता था। इन देशों को यहाँ से वस्त्र, चावल, लोहा, षोरा, षक्कर, मषाले आदि वस्तुएँ निर्यात की जाती थी जबकि घोड़े हाथी, मोती, ताबा, कोयला, पारा, रेषम तथा मखमल बाहर से आयात किये जाते थे। सामुद्रिक व्यापार जहाजों द्वारा होता था इस प्रकार विजयनगर साम्राज्य आर्थिक दृष्टि से काफी सम्पन्न और समृद्ध था। उच्च तथा मध्यम श्रेणी के लोग धनी थे और उनमें रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा था। साधारण लोगों के लिए भी जीवन की आवश्यक वस्तुओं का अभाव नहीं था। किन्तु साम्राज्य की आर्थिक अवस्था में एक दोष था, साधारण जनता को राज्य करों का मुख्य बोझ सहना पड़ता था। फिर भी बहमनी राज्य की जनता की अपेक्षा वे कहीं अधिक समृद्ध थे।

कला और साहित्य

विजयनगर साम्राज्य में कला और साहित्य के क्षेत्र में काफी उन्नति हुई। विजयनगर के शासकों ने जिस प्रकार विद्वानों और कवियों को उदार संरक्षण प्रदान किया उसके फलस्वरूप अनेक विद्वान और कवि देश के अन्य भागों से आकर राज्य में बस गये थे जिन्होंने संस्कृत, तेलुगु और तमिल भाषा में अनेक उच्चकोटि के ग्रंथ की रचना की। विजयनगर के प्रारम्भिक काल में यहाँ सायण तथा माधव विद्यारण्य राज्य की स्थापना में भी इन दोनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। कृष्णदेवराय के समय में साहित्य रचना का काम उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था। अनेक महान् कवि, विधान तथा दार्शनिक उसके दरबार में रहा करते थे। तेलुगु साहित्य का महान् कवि अलसानी उसी के समय में हुआ। उसे राजकवि का पद प्राप्त था। कृष्णदेवराय स्वयं उच्चकोटि का विद्वान् था। उसने तेलुगू भाषा में अमुक्तमाल्यद नामक ग्रंथ की रचना की थी। उसके बाद उसके उत्तराधिकारियों ने भी विद्वानों और कवियों को अपना संरक्षण जारी रखा। फलस्वरूप उनके समय में संगीत, नाटक, नृत्यकला, व्याकरण, दर्शन तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं पर अनेक ग्रंथ लिखे गये।

साहित्य के साथ-साथ कला के क्षेत्र में भी और विशेषकर स्थापत्यकला के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई। राजाओं द्वारा अनेक भव्य मन्दिरों विषाल राजप्रासादों झीलों और नहरों का निर्माण करवाया गया। कृष्णदेवराय द्वारा प्रसिद्ध मन्दिर (हजार स्तम्भों वाला मन्दिर) का निर्माण करवाया गया जो विशेषज्ञों के अनुसार हिन्दुओं की मन्दिर स्थापत्य कला का सर्वोत्तम उदाहरण है। विठ्ठलस्वामी का मन्दिर भी विजयनगर की स्थापत्य कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। कृष्णदेवराय ने नागल्लपुर नामक एक नये नगर की भी स्थापना की थी। स्थापत्य कला के साथ-ही-साथ विजयनगर के शासकों ने चित्रकला, संगीतकला, तथा नाट्यकला को भी पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया। इस प्रकार शासकों के उदार संरक्षण के परिणामस्वरूप विजयनगर राज्य में कला और साहित्य का भी पर्याप्त विकास हुआ।

भारत का इतिहास

अभ्यास—प्रश्न

1. विजयनगर राज्य के उद्भव और उस पर शासन करने वाले विभिन्न राजवंशों के इतिहास का संक्षेप में उल्लेख कीजिये।
2. विजयनगर राज्य के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रगति का वर्णन कीजिए।
3. विजयनगर राज्य के उत्थान एवं पतन का संक्षिप्त विवरण दीजिये।
4. बहमनी राज्य के पतन के लिये उत्तरदायी कारणों को समीक्षा कीजिये।

तैमूर आक्रमण और उसके प्रभाव

तैमूर का जीवन परिचय – सन् 1336 ई. में तैमूर का जन्म समरकन्द के निकट केष नामक नगर में उच्च तुर्क घराने में हुआ था। उसका पिता अमीर तुर्क था। वह तुर्कों की बरलास नस्ल का था। उसके पिता एक छोटी जागीर के शासक थे। युद्ध में उसका एक पैर घायल हो गया और वह लंगड़ा हो गया। अतः उसे खैमूर लंगड़ा कहा जाने लगा। उसने एक कुशल सैनिक की शिक्षा प्राप्त की थी। 33 वर्ष की आयु में उसे कबीले का नेता चुना गया। उसने मध्य एशिया में अनेक भूभागों पर अपना अधिकार कर लिया था। अफगानिस्तान, ईरान, मेसोपोटामिया आदि पर उसने अधिकार कर लिया। शक्ति और क्रूरता तैमूर के

मुख्य साधन थे। वह एक महान सेनापति, कट्टर सैनिक और कुशल राजनीतिज्ञ भी था। उसने सम्पूर्ण दक्षिण रूस को लूटा भारत में दिल्ली तक के प्रदेश को लूटने में सफलता प्राप्त की। जब वह चीन पर आक्रमण करने जा रहा था तभी मार्ग में उसकी मृत्यु हो गई। वह एक नरसं शासक था। तबाही, कत्लेआम, अग्निकाण्ड, आतंक और भय उसकी विजय के साधन थे। उसने तुर्कों के विषालतम साम्राज्य का निर्माण किया। उसकी विजयों का सबसे बड़ा कारण धन लिप्सा थी। उसके भारत पर भी लूटमार के उद्देश्य से आक्रमण किया।

भारत पर आक्रमण के कारण— तैमूर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि, पहिन्दुस्तान पर आक्रमण करने में मेरा उद्देश्य विधर्मियों के विरुद्ध अभियान करना है जिससे मोहम्मद के आदेशानुसार मैं इस देश के वासियों को सच्चे दीन का अनुयायी बना सकूँ और जिससे हम उनके मन्दिरों एवं मूर्तियों को नष्ट कर दें तथा खुदा की नजर में मुजादिन और गारजी बन जाये । ८

इस प्रकार भारत पर तैमूर के आक्रमण के निम्नलिखित उद्देश्य थे।

(प) काफिरों से युद्ध करना, (पप) भारत की अपार सम्पत्ति को लूटना, (पपप) विश्व के महान् विजेताओं में अपनी गणना करना, (पअ) मूर्तियों को तोड़कर इस्लाम धर्म का प्रचार करना ।

तत्कालीन भारत की राजनीतिक दुर्व्यवस्था का लाभ उठाकर तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया। अपने सैनिकों को उत्साहित करने के लिए उसने षडिहाद का बहाना किया। वह बड़ा महत्वाकांक्षी था। वह सिकन्दर की भाँति विश्वविजेता बनना चाहता था। दिल्ली का शासक नारिखदीन महमूद बहुत ही अयोग्य तथा विलासी था। तैमूर के आक्रमण का तत्कालीन कारण उसका पोता पीर मोहम्मद था। वह काबूल का सूबेदार था उसने मुल्तान

के सूबेदार सारंग खाँ से कर माँगा। उसके इन्कार करने पर पीर मोहम्मद ने उस पर आक्रमण कर दिया। 6 महीने की घेराबन्दी के बाद पीर मोहम्मद विजयी हुआ। तैमूर 92,000 अश्वारोहियों के साथ उसकी सहायता के लिए आ रहा था।

भारत पर आक्रमण — मार्च 1398 ई. में तैमूर अपनी राजधानी समरकन्द से भारत पर आक्रमण करने चला। सितम्बर 1398 ई. में वह सिंधु नदी को पार करके झेलम नदी के किनारे-किनारे आगे बढ़ा। झेलम नदी को पार करके उसने तुलम्बा नामक स्थान पर अधिकार कर लिया। शीघ्र ही पीर मोहम्मद भी मुल्तान को जीतकर तैमूर से आ मिला। तैमूर ने दियालपुर और समाना की तरफ अपनी सेना के

कुछ दस्तों रवाना किया और स्वयं भाटनेर के किले पर आक्रमण किया यद्यपि वहाँ के किलेदार दुलचाद ने आत्मसमर्पण कर दिया, फिर भी किले और नगर को बर्बाद कर दिया गया। मार्ग में लूटमार और हत्याकाण्ड करता हुआ वह दिसम्बर, 1398 ई में दिल्ली के निकट पहुँच गया। वह जहाँ भी गया उसने खड़ी फसलों को जलवाकर नष्ट किया, नगर निवासियों को कत्ल किया अथवा जबरदस्ती दास बना दिया उसने स्त्रियों तथा बच्चों के साथ भी अत्याचार किये। जहाँ भी उसके आगमन का समाचार पहुँचते-पहुँचते बन्दियों की संख्या एक लाख हो गई थी।

दिल्ली का भीषण हत्याकाण्ड — दिल्ली के निकट पहुँचकर उसने अपने एक लाख भारतीय बन्दियों को कत्ल करवा दिया ताकि वे युद्ध के समय उपद्रव न कर सकें। तैमूर ने स्वयं आत्म कथा में लिखा है कि उसने अपने अमीरों की सलाह पर एक लाख काफिरों तथा हिन्दुओं को कत्ल कर दिया था जो बन्दी बने हुए थे। सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद ने तैमूर को रोकने का कोई प्रबन्ध नहीं किया। उसने और उसके बजीर मल्लू इकबाल ने तैमूर की सेना के परशु-भाग पर एक आक्रमण किया परन्तु उनकी पाजय हो गई और भाग खड़े हुए। 17 दिसम्बर, 1398 ई. को दिल्ली के बाहर एक युद्ध हुआ जिसमें

नारिरुद्दीन महमूद और मल्लू इकबाल पुनः पराजित हुए। नारिरुद्दीन महमूद गुजरात भाग गया और मल्लू इकबाल बुलन्दशहर 18 दिसम्बर को तैमूर ने राजधानी में प्रवेश किया। वहाँ तैमूर ने कत्लेआम का आदेश — दिया। तैमूर दिल्ली में 15 दिन रहा और उसके तथा उसके सभी सरदारों ने यहाँ अतुल सम्पत्ति प्राप्त की। कई दिन तक लूटपाट और कत्लेआम होता रहा। पुरानी दिल्ली, जहाँपनाह तथा सीरी का दुर्ग लूट लिया गया। प्रत्येक स्थान पर आग लगा दी गई। राजमहल को नष्ट कर दिया गया तथा स्त्री और बच्चों के साथ भी नष्टसत्तापूर्ण व्यवहार किया गया। अनेक षिल्पियों व कारीगरों को पकड़कर समरकन्द भेज दिया गया। प्रत्येक सैनिक को 20 से भी अधिक संख्या में दास प्राप्त हुए। विनाश की भीषणता का उल्लेख करते हुए बदायूँनी ने लिखा है, 'जो लोग बच गए वे अकाल और महामारी के कारण मर गए। दो महीने तक दिल्ली में किसी पक्षी ने भी पर नहीं मारा।'

तैमूर की वापसी — 1 जनवरी 1399 ई. को तैमूर फिरोजाबाद, मेरठ हरिद्वार, काँगड़ा और जम्मू होता हुआ वापस लौटा। उसने हरिद्वार में मन्दिरों को विध्वंस किया 19 मार्च 1399 ई. को उसने सिन्धु नदी को पार किया और समरकन्द को वापस चला गया। जाने से पहले उसने खिजखाँ को मुल्तान, लाहौर और दियालपुर पर सूबेदार नियुक्त किया।

भारत का इतिहास

तैमूर के आक्रमण का प्रभाव – तैमूर के आक्रमण का भारत पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। सारे साम्राज्य में अराजकता तथा अशान्ति फैल गई, दिल्ली उजड़ गई। बचे हुए व्यक्ति भी महामारी और दुर्भिक्ष के शिकार हो गये।

(१) राजनैतिक प्रभाव – तैमूर के आक्रमण के परिणामस्वरूप तुगलक साम्राज्य सदैव के लिए नष्ट हो गया। कालान्तर में दिल्ली की गद्दी नवीन राजवंश शैयद वंश के हाथ में चली गई। सभी प्रान्तीय सूबेदारों ने अपने पृथक् स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिये। खिज़्रखों ने तैमूर के मरते ही पंजाब में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। उसी ने 1414 ई. में सुल्तान की दुर्बलता का लाभ उठाकर तुगलक वंश का अन्त करके शैयद वंश के राज्य की स्थापना की। भारत की राजनैतिक और सैनिक दुर्बलता का ज्ञान विदेशियों को हो गया। तैमूर के आक्रमण ने मुगलों की विजय के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया।

(२) आर्थिक प्रभाव – तैमूर की लूट के कारण भारत का आर्थिक ढाँचा ध्वस्त हो गया। उसकी अतुल्य धन सम्पत्ति मध्य एशिया को पहुँच गई। दिल्ली, मेरठ, हरिद्वार, भटनेर तथा दीपालपुर में अनेक भवन, मन्दिर तथा सुन्दर कलाकृतियाँ नष्ट कर दी गई। लहलहाते खेतों और वैभवपूर्ण नगरों तथा गाँवों में आग लगा दी गई। इस तरह देश के व्यापार और कृषि को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा। तैमूर ने अपने पीछे अराजकता, दुर्भिक्ष तथा महामारी छोड़ी। जनसंख्या का ह्रास हुआ। उसने हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही कत्ल किया।

ए. एल. श्रीवास्तव के शब्दों में, षसिन्ध से दिल्ली तक के मार्ग के दोनों ओर मीलों दूर तक रबी की फसल नष्ट कर दी गयी अनाज की खत्तियों को लूटा और बर्बाद किया गया। व्यापार, वाणिज्य तथा भौतिक समृद्धि के अन्य लक्षण गायब हो गये।

(३) धार्मिक प्रभाव – तैमूर के आक्रमण के परिणामस्वरूप हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच धार्मिक खाई और भी चौड़ी हो गई। हिन्दुओं में इस्लाम के प्रति और भी वरणा भाव पैदा हो गया। हिन्दुओं में जाति प्रथा और भी जटिल हो गई।

(४) सांस्कृतिक प्रभाव दिल्ली के कलाकारों को तैमूर समरकन्द ले गया अतः दिल्ली संस्कृति का केन्द्र नहीं रहा। इससे भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार हुआ। स्वतन्त्र प्रान्तों में अलग-अलग कलाओं का स्वतन्त्रतापूर्वक विकास हुआ। जौनपुर कला का प्रमुख केन्द्र बन गया। बंगाल, मालवा, गुजरात तथा खानदेश में उच्चकोटि की कला का विकास हुआ। गुजराती, मराठी, हिन्दी तथा बंगाली भाषाओं में साहित्यिक रचनायें हुईं। भारतीय चित्रकला का प्रभाव एशिया की चित्रकला पर पड़ा। दोनों देशों की संस्कृतियों का परस्पर आदान-प्रदान हुआ।

(५) सामाजिक परिणाम – तैमूर के आक्रमण का प्रभाव हमारे समाज पर भी पड़ा। आक्रमणकारियों की क्रूरता कठोरता एवं निर्दयता को देखते हुए हिन्दुओं ने अपनी कन्याओं का विवाह कम आयु में करना प्रारम्भ कर दिया। पर्दा प्रथा का कठोरता से पालन होने लगा। इस प्रकार देश का सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा ही बदल गया।

में

बाबर और हुमायूँ

1526 ई. का वर्ष मध्यकालीन भारतीय इतिहास की विभाजक रेखा माना जाता है। इस वर्ष सल्तनत — शासन की समाप्ति और बाबर द्वारा मुगल राजवंश की नींव रखी गई। इस राजवंश ने भारत पर करीब 300 वर्षों तक शासन किया। डॉ. पी. शरण के अनुसार, तत्कालीन संसार के साम्राज्यों की तुलना मुगल साम्राज्य कदाचित् सबसे बड़ा और शक्तिशाली साम्राज्य था। कला एवं संस्कृति के क्षेत्रों में तथा हिन्दू व मुसलमान समाजों को एक सूत्र में बांधने का जो प्रयास किया गया वह उसके विषाल नैतिक व भौतिक साधनों के अनुरूप था। अपने वैभव काल में उसने कार्य कुशलता के जिस उच्च स्तर की प्राप्ति की, उसके लिये कोई भी शासन उचित अभिमान कर सकता है। ८

जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर का जन्म 14 फरवरी, 1483 ई. को फरगना में हुआ था। उसका पिता उमरशेख मिर्जा वहां का शासक था। पिता की ओर से वह तैमूर का पांचवां वंशज और माता कुतलुग निगार खातून की ओर से चंगेजखां का चौदहवां वंशज था। इस प्रकार उसकी नसों में दो प्रसिद्ध पराक्रमी किन्तु क्रूर विजेताओं का रक्त बह रहा था। उमरशेख मिर्जा फरगना के छोटे राज्य से संतुष्ट नहीं था। अतः अपने संबंधियों से उसके संबंध कभी अच्छे नहीं रहे। 1494 ई. में उमर शेख मिर्जा के बड़े भाई अहमद मिर्जा व साले महमूद खां ने उसके राज्य पर आक्रमण किया। तभी 8 जून, 1494 ई. को कबूतरों की उड़ान का आनंद लेते हुये उमरशेख मिर्जा का देहान्त हो गया। बाबर तब केवल 11 वर्ष 4 माह की अल्पावस्था में फरगना की गद्दी पर बैठा।

बाबर के गद्दी पर बैठने के साथ ही उसकी कठिनाइयां प्रारंभ हो जाती हैं। परन्तु बाबर ने अपनी कूटनीति एवं दृढ़ता से अपने राज्य पर हुए शत्रुओं के संयुक्त आक्रमणों का मुकाबला किया और अपने पैतृक राज्य को सुरक्षित रख सका।

अगले 6 वर्ष बाबर के धैर्य और साहस के परीक्षण के थे जिनमें वह अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरित होते देखना चाहता था किन्तु उसके संबंधियों के विरोध और आंतरिक शङ्क्यों ने उसके सामने काफी दिक्कतें उत्पन्न कर दीं। बाबर समरकन्द को अपने अधीन करना चाहता था। अतः 1496 ई. में उसने समरकन्द को जीतने का प्रथम प्रयास किया जिसमें वह असफल रहा। 1497 ई. में उसने पुनः समरकन्द पर आक्रमण कर विजय प्राप्त कर ली किन्तु 100 दिनों के बाद ही उसे तैमूर की इस राजधानी से हाथ धोना पड़ा। 1501 ई. में उसने पुनः उजबेक सरदार पैबानी खां को पराजित कर समरकन्द पर अधिकार कर लिया परन्तु इस बार भी वह आठ महीने से अधिक इसे अपने अधीन न रख सका। पैबानी खां ने उजबेकों को संगठित कर सम्पूर्ण मध्य एशिया को अपने पैरों तले रौंद दिया था। अतः बाबर का मध्य एशिया की राजनीति में सफलता प्राप्त करना असंभव था। तब बाबर को दो बार फरगना खोना पड़ा, अपनी राजधानी अन्दिजान से हाथ धोना पड़ा और कई बार घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते हुये उसे गाँव के लोगों से रोटी मांग कर खानी पड़ी। अपनी आत्मकथा प्बाबरनामा में उसने लिखा है, उसने रमजान का त्यौहार दो बार एक ही स्थान पर नहीं मनाया।

मध्य एशिया की असफलताओं ने उसे भारत के सीमावर्ती प्रदेशों की ओर खींचा। तब काबुल पर मुकीम आरगों का अधिकार था जिसने बाबर के चाचा उलुम बेग मिर्जा के बेटे अब्दुरजाक को सिंहासन से अलग कर दिया तथा पुराने स्वामी भक्त सरदारों को हटा दिया था। इसकी प्रतिक्रिया हुई। काबुल की इस अस्थिर स्थिति का बाबर ने लाभ उठाया और 1504 ई. में काबुल पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। आने वाले 18 वर्षों तक काबुल ही उसकी

भारत का इतिहास

गतिविधियों का केन्द्र बना रहा। सितम्बर 1507 ई. में बाबर ने षमेर्जाह की उपाधि त्याग कर षादषाह की उपाधि धारण की।

1507 ई. से 1512 ई. के बीच बाबर ने समरकन्द को जीतने का प्रयास किया। 1510 ई. में षैबानी खां उजबेग की मृत्यु हो गई। तब बाबर ने ईरान के षाह इस्माइल से संधि कर उसके सहयोग से 1511 ई. में समरकन्द, बुखारा और खुरासान को अपने अधीन कर लिया। बाबर ताषकन्द से काबुल तक का रू— स्वामी भले ही हो गया हो किन्तु वह अधिक समय तक इसका आनंद नहीं ले सका। ईरान में षिया और सुन्नी धर्म के पारस्परिक द्वेष ने उजबेगों के नेता उबैदुल्ला खां को समरकन्द पर आक्रमण हेतु प्रेरित किया। कुत्क— ए— मलिक नामक स्थान पर बाबर का उससे मुकाबला हुआ किन्तु पराजय हाथ लगी। 1512 ई. बाबर के हाथों समरकन्द निकल गया और वह 1513 ई. में पुनः काबुल आ गया। अब उसने भारत की तपफ कूच करने की सोची।

बाबर के आक्रमण के समय भारत को दषा

प्रो. जाफर ने लिखा है, उन दिनों भारत की राजनीतिक दषा बड़ी ही षोचनीय थी और भारती परिस्थितियां बाबर के अनुकूल थी। ष देश अनेक छोटे—छोटे राज्यों में बंटा हुआ था और वे परस्पर संघर्षरत थे। डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने भी लिखा है, ष 16वीं षताब्दी के आरम्भ में भारत केवल राज्यों का समूह था जो किसी भी आक्रमणकारी का, जो उसे विजित करने की षक्ति और इच्छा रखता हो, सरलता से षिकार हो सकता था।

तुजक— ए—बाबरी ष बाबर ने लिखा है कि तब भारत में पांच मुस्लिम व दो हिन्दू राज्य प्रमुख थे। दिल्ली में लोदी वंष के इब्राहीम लोदी का षासन था। वह मूर्ख अविश्वासी और हठी षासक था। कई

- महत्वाकांक्षी अमीरों ने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना कर ली थी। बिहार में लोहानी वंष के अफगान सरदार तथा पंजाब में दौलत खां लोदी स्वतंत्र षासकों जैसा व्यवहार कर रहे थे। इब्राहीम लोदी का चाचा आलमखा लोदी स्वयं दिल्ली के तख्त का दावेदार था और दौलत खा लोदी की सहायता से वह इसे प्राप्त करने हेतु प्रयासरत भी था। आंतरिक समस्याओं में उलझा इब्राहीम लोदी बाह्य आक्रमणों की संभावना के प्रति बिल्कुल उदासीन हो गया था।

गुजरात मालवा और बंगाल में भी अफगान षासक ही थे जो अपने—अपने स्वार्थी के वषीभूत हो राज्य विस्तार की लालसा में निमग्न थे। उनमें संगठित होकर किसी विदेशी षत्रु का सामना करने का साहस नहीं था।

पांचवा मुस्लिम राज्य दक्षिण का बहमनी प्रदेश था। जिसका विजयनगर के हिन्दू राज्य से निरंतर संघर्ष जारी रहा। परिणामस्वरूप बाबर के आक्रमण के समय यह पांच स्वतंत्र राज्यों में बँट गया था। अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा, बरार तथा बीदर इनमें भी सदैव पारस्परिक वैमनस्यत रहती थी। हिन्दू राज्यों में मेवाड़ का राज्य सर्वाधिक षक्तिषाली था। राणा सांगा (संग्राम सिंह) वहां का षासक था। मालवा और गुजरात के षासक उससे भयभीत थे और राजपुताने के अन्य राज्य भी उसका लोहा मानते थे। मध्य भारत में सांगा अजेय समझा जाता था। उसकी महत्वाकांक्षा दिल्ली और आगरा को भी अपने अधीन करने की थी।

सामाजिक स्थिति—

बाबर के आक्रमण के समय हिन्दू और मुसलमान वर्ग स्पष्ट रूप से दिखाई देते थे। हिन्दुओं में जाति प्रथा, वर्ग भेद, छुआछूत आदि कुप्रथाएँ प्रचलित थी। सैय्यद अपने आपको अन्य से उच्च समझते थे। धीरे-धीरे मुसलमानों ने विदेशी रीति-रिवाजों को त्यागकर भारतीय आचार व्यवहारों को अपनाना शुरू कर दिया। दिल्ली को छोड़कर प्रांतीय शासक भी धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपना रहे थे। भक्ति आंदोलन के संतों ने भी दोनों में एकता के प्रयास किये। सूफी संतों का योगदान भी था। शासकों व जनता की बोलचाल की भाषा उर्दू बन गई। स्थापत्य कला में भी परिवर्तन और समन्वय दिखने लगा। समाज में स्त्रियों की दशा अच्छी नहीं थी। बहु विवाह, बाल विवाह, सती प्रथा प्रचलित थी। वैधव्य जीवन तो दुश्कर था। मुस्लिमों में बहुविवाह व तलाक की प्रथा काफी थी।

आर्थिक स्थिति—

भारत धन धान्य से परिपूर्ण था। विदेशों से समुद्र द्वारा व्यापारिक संबंध कायम थे। तिब्बत, भूटान, अरब अफगानिस्तान, ईरान आदि के साथ अच्छा व्यापार था। निम्न श्रेणी के पास धन का अभाव होता था। फिर भी उनकी आवश्यकता सीमित होने के कारण उन्हें रोटी, कपड़े का अभाव नहीं रहता !

सैनिक स्थिति—

स्वयं बाबर ने भारतीय सैनिकों को एक भीड़ से अधिक नहीं माना था। असंगठित, अव्यवस्थित सैन्य स्थिति उस समय थी। अस्त्र-षस्त्र भी समयानुकूल नहीं थे। राजपूतों की सैनिक व्यवस्था सामंतों पर आधारित थी। यहां के सैनिक परम्परागत सैनिक प्रशिक्षण से अधिक नूतनता की जानकारी से अनभिज्ञ थे।

ऐसी परिस्थितियों में पंजाब के सूबेदार दौलत खां लोदी और इब्राहीम लोदी के चाचा आलम खां ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिये आमंत्रित किया। संभवतया राणा सांगा ने भी बाबर को

इब्राहीम लोदी के विरुद्ध सहायता देने का आश्वासन दिया था। ऐसी स्थिति में बाबर का प्रोत्साहित होना स्वाभाविक ही था।

बाबर ने भारत — विजय हेतु पंजाब को आधार बना कर यहां की स्थिति को समझने का प्रयास किया। पंजाब पर चूँकि तैमूर का अधिकार रहा था, अतः बाबर तैमूर का वंशज होने के कारण इस प्रदेश पर अपने कानूनी अधिकार का दावा भी कर सकता था। उसने प्रथम चार आक्रमण पंजाब और उसकी सीमाओं पर कर अपनी स्थिति को दृढ़ किया।

बाबर द्वारा भारत पर आक्रमण

बाबर ने उजबेगों से तुलुगमा पद्धति मंगोलों व अफगानों से व्यूह रचना, ईरानियों से बंदूकों का प्रयोग— और अपने सजातीय तुर्कों से अश्वारोही सेना का संचालन सीख लिया। अब उसे भारत पर आक्रमण करना चाहा जिसके निम्नांकित कारण थे।

1. बाबर एक महत्वाकांक्षी शासक था।

भारत का इतिहास

2. बाबर भारत पर अपना पैतृक अधिकार मानता था क्योंकि तैमूर ने पश्चिमी बंगाल पर अधिकार किया था और उसके प्रतिनिधि खिजेखा ने दिल्ली पर अधिकार किया था। अतः बाबर अपने पूर्वजों के साम्राज्य की हस्तगत करना चाहता था।

3. तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियां बाबर के अनुकूल थीं। पंजाब का दौलत खां लोदी वहां का स्वतंत्र शासक बनना चाहता था। अतः उसने बाबर को भारत में आक्रमण का निमंत्रण दिया। उसे दिल्ली दरबार के शङ्क्यंत्र की जानकारी भी मिल गई।

प्रथम आक्रमण

1519 ई. में बाबर ने बाजौर पर आक्रमण कर दुर्ग को घेर लिया। दुर्ग रक्षकों ने साहस से काम लिया किन्तु तोपखाने के सामने वे टिक नहीं पाये। अतः बाबर विजयी हुआ। यहां से बाबर झेलम नदी के तट पर पहुंचा। यहां भीरा नामक स्थान की जनता ने आत्म समर्पण कर दिया अतएव बाबर ने वहां लूटमार नहीं की।

दूसरा आक्रमण

बाबर के काबुल जाते ही अफगान सरदारों ने भीरा पर अधिकार कर लिया। अतः सितम्बर 1519 ई. में बाबर पुनः भारत आया और किसी कारण से पुनः उसे काबुल लौटना पड़ा। उपर्युक्त दोनों आक्रमण बाबर ने भारत की राजनीति को जानने के लिये किये थे।

तीसरा आक्रमण

1520 ई. में बाबर ने भारत पर तीसरा आक्रमण कर बाजौर तथा भीरा पर पुनः अधिकार किया। यहां से वह सियालकोट की तरफ बढ़ा और बिना कठिनाई के उसपर भी उसका अधिकार हो गया। सैयदपुर के लोगों ने बाबर का बड़ा मुकाबला किया किन्तु उन्हें कुचल दिया गया। इस बीच कन्धार में उपद्रव एवं अशांति की सूचना मिलने पर बाबर वहां चला गया।

चौथा आक्रमण

1524 ई. में एक बार पुनः चिनाव और झेलम की घाटियों में बाबर ने कूच किया। लाहौर और दीपालपुर को जीतने के पश्चात् उसने पंजाब के अधिकांश भाग को अपने अधिकार में कर लिया। दौलत खां लोदी पंजाब पर अपना एकाधिकार चाहता था। अतः बाबर पंजाब की देखरेख का उत्तरदायित्व दिलाकर खां और आलमखां के हाथों छोड़ कर पुनः चला गया। बाबर के जाते ही दौलत खां ने पंजाब के काफी भाग पर अपना अधिकार कर लिया। दौलत खां को अपनी ओर करके दिल्ली जीतने का भी असफल प्रयास भी किया था।

(अ) पानीपत का प्रथम युद्ध

पंजाब पर अधिकार हो जाने के बाद बाबर ने इब्राहीम लोदी पर आक्रमण करना चाहा। इब्राहीम लोदी भी बाबर से मुकाबला करने के लिये सैनिक तैयारियों में जुट गया दिल्ली से बढ़ा। पानीपत के

मैदान में दोनों सेनाओं के बीच युद्ध हुआ। बाबर नामा के अनुसार उसके पास केवल 12,000 सैनिक थे। विलियम्स यह संख्या केवल 8000 ही बताता है। अबुल फजल और फरिश्ता के

अनुसार बाबर रषत्रुक की 12,000 व इब्राहीम की सैनिक संख्या एक लाख थी। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के मतानुसार बाबर के सैनिकों की संख्या लगभग 25000 थी, अधिक न्याय संगत है। इब्राहीम लोदी की सेना में लगभग एक लाख सैनिक व 1000 हाथी थे, परंतु युद्ध करने वाले सैनिकों की संख्या 40000 से अधिक नहीं रही होगी। कुछ भी हो, इतना आवश्य है कि इब्राहीम लोदी की सैनिक संख्या बाबर की सैनिक संख्या से अधिक थी। करीब एक सप्ताह तक दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के आमने-सामने पड़ी रही। 21 अप्रैल 1522 ई. को प्रातः युद्ध शुरू हुआ जो दोपहर तक समाप्त हो गया। इब्राहीम लोदी हार कर मारा गया तथा अफगान सेना की शक्ति पूरी तरह से समाप्त हो गई।

बाबर की सफलता के कारण एवं परिणाम

सैन्य व्यवस्था एवं संचालन में बाबर अत्यधिक निःपुण था। तुलुगमा पद्धति द्वारा बाबर ने षत्रुदल में भगदड़ मचा दी। सैन्य व्यवस्था में पैदल, घुड़सवार, तोपची, तीरन्दाज और घूमने वाले दस्तों को उसने इस भांति जमाया था कि वह स्वयं भी सभी अंगों का समुचित निरीक्षण व संचालन कर सके। जिस योग्यता एवं उत्साह से बाबर के सैनिक लड़ रहे थे, अफगान सेना में इसका अभाव था। अफगान सेना में अनुशासन, संगठन, एकता एवं उत्साह की कमी थी। स्वयं इब्राहीम लोदी एक अनुभव हीन सेनानायक था। अफगान अमीर इब्राहीम की नीति से असंतुष्ट थे अतएव उन्हें सुल्तान की विजय से कोई सरोकार नहीं था। पंजाब में दौलत खां द्वारा आत्मसमर्पण करने के परचात इब्राहीम लोदी के कई अमीरों ने बाबर को षुभकामनाएँ प्रकट की ता उसकी अधीनता हेतु कई दूत भेजे। उस तरह अफगान अमीरों का नैतिक समर्थन बाबर को प्राप्त था। व्यक्तिगत रूप से इब्राहीम लोदी अदूरदर्शी व असावधान सेनानायक था। न तो उसने किसी अच्छी तैयारी से युद्ध किया और न ही उसने बाबर की रसद सामग्री को रोकने का प्रयास किया। अफगानों ने तोपखाने को अपेक्षित महत्व नहीं दिया। मुगल सैनिकों के लिये युद्ध जीवन-मरण एवं प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया था क्योंकि वे एक अनजान एवं नये देश में लड़ रहे थे।

राजपूतों को नूतन सैन्य पद्धति संगठन व संचालन का ज्ञान नहीं था। बाबर की तुलुगमा रण पद्धति बड़ी ही सार्थक साबित हुई। बाबर के तोपखाने और अश्वारोहियों का तारतम्य इतना बढ़िया था कि उसनके सामने हाथी व पैछल सेना टिक नहीं सकी। बाबर एक स्थान पर रह कर सेना पर पूर्ण निगाह रखते हुए संचालन का निर्देश दे रहा था वहीं षत्रु पक्ष में शासक साज-सज्जा के साथ हाथी पर बैठकर स्वयं युद्ध कर रहा था जिससे षत्रु पक्ष का लक्ष्य उसे समाप्त करना मात्र था। फलतः उसका कुशल नेतृत्व सैनिकों को प्राप्त न हो सका। राजपूत सैनिकों में अलग-अलग सामंतों की सैनिक टुकड़ियां अपने-अपने सामंतों की अधीनता में लड़ रही थी जिससे सैनिकों में एकरूपता नहीं बन पाई। राजपूत सैनिकों में अनुशासन की कमी थी। राजपूतों में पैदल सैनिकों की संख्या अधिक थी जो भीड़ तंत्र से अधिक नजर नहीं आ रही थी। राणा सांगा ने बयाना विजय के पश्चात् मुगलों पर आक्रमण न कर उन्हें संभलने के लिये एक माह का समय दे दिया था।

पानीपत का प्रथम युद्ध भारतीय इतिहास में निर्णायक युद्ध था। इसने दिल्ली सल्तन के स्वरूप को पूर्णतः बदल दिया। लोदी वंश की समाप्ति के साथ मुगलों का अभ्युदय हुआ। लेनपूल ने लिखा है कि, अफगानों के लिये पानीपत का युद्ध बड़ा भयंकर सिद्ध हुआ। इससे उनका साम्राज्य समाप्त हो गया और उनकी शक्ति का अंत हो गया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, इससे लोदी वंश का भाग्य सूर्य स्थायी रूप से उसी तरह अस्त हो गया जिस

भारत का इतिहास

तरह तैमूर के हाथों तुगलक वंश का अंत हो गया था। १६ डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, षडससे लोदी वंश की शक्ति टूक-टूक हो गई और भारत की सर्वोच्च सत्ता चंगताई तुर्कों के हाथों में चली गई। १६ डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के मतानुसार हलादियों की शक्ति पूर्णतरु छिन – भिन्न हो गई। हिन्दुस्तान की सर्वोच्च सत्ता अफगान जाति के हाथों से निकल कर मुगलों के हाथेंकृ में चली गई। रषत्रुक विलियम्स ने लिखा है, बाबर के इधर-उधर भटकने के दिन बीत गये थे और उसे अब अपने प्राणों की रक्षा के लिए अथवा सिंहासन को सुरक्षित रखने के लिए चिंतित होने की आवश्यकता न रही। उसे तो राज्य विस्तार की युद्ध योजनाओं में अपनी शक्ति लगानी थी। १६ उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो गयी। इस युद्ध के बाद भारत में कुछ पीढ़ियों तक योग्य शासकों का एक क्रम आरम्भ हो गया तथा प्रशासनिक क्षेत्र में नये परीक्षण का अवसर प्राप्त हुआ।

भारत में मुगल सभ्यता एवं संस्करति के समन्वय से यहाँ एक नवीन सभ्यता एवं संस्कृति का अभ्युदय हुआ। ईरानी कला व भारतीय कला के मेल से नया आयाम विकसित हुआ। यहां से पराजित अफगान बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रांत में अपनी शक्ति अर्जित कर रहे थे तथा राजपूतों से सहयोग प्राप्त करने की योजना बना रहे थे। इस युद्ध ने सैनिक संचालन में नूतनता जोड़ते हुये तोपखाने एवं अश्वारोहियों के संचालन का सामजस्य किस भांति विजय श्री का वरण करा सकते है, सुस्पष्ट कर दिया।

बाबर की कठिनाइयाँ

बाबर अभी भी शत्रुओं से घिरा हुआ था। दिल्ली व आगरा की जनता की सहानुभूति बाबर के प्रति नहीं थी। बिहार, उत्तर प्रदेश व बंगाल में अफगान अपनी शक्ति संगठित कर रहे थे। बाबर ने कूटनीतिज्ञता से इन कठिनाइयों का समाधान किया। बाबर ने युद्ध परिशद की सभा बुलाकर यह जानना चाहा कि पहले अफगान शक्ति से निपटा जाय या राजपूत शक्तिसे? युद्ध परिशद ने पहले अफगानों से निपटने की सलाह दी किन्तु बाबर ने युद्ध परिशद की सलाह के विपरीत राजपूत शक्ति से लोहा लेने का निर्णय किया।

खानवा का युद्ध एवं उसका परिणाम

अफगानों को हराने के बाद बाबर के सामने एक अन्य शक्ति राणा सांगा की (संग्राम सिंह) थी। वह बड़ा महत्वाकांक्षी था और स्वयं दिल्ली की गद्दी प्राप्त करना चाहता था।

राणा सांगा ने यह सोचा था कि बाबर भारत में लूट मार करके पुनः चला जायेगा किन्तु जब बाबर दिल्ली की गद्दी पर बैठ गया तो वह बड़ा निरुत्साहित हुआ। अतः राणा व बाबर में संघर्ष आवश्यक हो गया। बाबर ने राणा पर आरोप लगाया कि जब वह काबुल में था तब राणा सांगा और बाबर के मध्य यह समझौता हुआ कि वह इब्राहीम लोदी पर आगरा की ओर से आक्रमण करे तथा बाबर उत्तर की ओर से। समझौते के अनुसार राणा सांगा ने इब्राहीम को परास्त करने में सहयोग नहीं दिया। इसलिए उसके विरुद्ध बाबर को लड़ने की तैयारी करनी पड़ी। अतः राणा पर विश्वासघात का आरोप भी लगाया किन्तु डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार राणा सांगा इब्राहीम को पहले ही परास्त कर चुका था। अतः उसे बाबर को आमंत्रित करने की आवश्यकता नहीं थी। राणा सांगा के सहयोग की बाबर को आवश्यकता थी, इसलिए बाबर ने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध सांगों से सहायता चाही थी। डॉ. वन्दना पाराषर ने लिखा है कि खानवा के युद्ध के पहले बाबर ने रायसेन के शासक को

सलाह दी तथा कुँवर के माध्यम से संधि करनी चाही थी किन्तु राणा ने उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया। अतः बाबर ने राणा पर विश्वासघात का आरोप लगाया और जिहाद घोषित कर दिया।

इधर राणा सांगा ने भी बाबर के विरुद्ध राजपूत शासकों को संगठित किया। वह सैन्य आगे बढ़ा और बयाना के किले को घेर लिया। बयाना से परास्त मुगल सैनिकों भाग कर बाबर के पास पहुंचे, राणा की शक्ति का गुणगान किया जिससे मुगल सैनिकों का मनोबल टूट गया। यदि इसी समय राणा आगे बढ़ कर मुगलों की पराजय निश्चित थी। तभी काबुल से आये एक ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की कि इस बार बाबर की जीत में संदेह है। इससे मुगल सैनिकों में निराशा छा गई। अपने सैनिकों को उत्साहित करने के लिये बाबर ने जोषीला भाषण देते हुए कहा कि काफिरों के विरुद्ध लड़ते हुये जीत गये तो इस्लाम का प्रचार करेंगे और इस देश पर शासन करेंगे और यदि मर गये तो शहीद कहलायेंगे। उसने कभी शराब न पीने का शपथ लेते हुए अपने सोने चाँदी के बर्तनों को तुड़वा कर गरीबों में विपरीत करा दिये। प्तमगाण नामक कर समाप्त कर दिया। सभी सैनिकों में उत्साह का संचार हो गया वे और एक स्वर से लड़ने को तत्पर हो गये। खानुवा के मैदान में बाबर ने पानीपत की तरह ही अपनी सैन्य-व्यवस्था की जबकि राणा ने परम्परागत राजपूती तरीके से सैन्य व्यवस्था की। शनिवार 16 मार्च, 1527 ई. को राणा ने अपने बायें दल को मुगलों पर आक्रमण करने का आदेश दिया। शुरू में राजपूतों का पलड़ा भारी रहा किन्तु तोपों की मार के आगे राजपूतों को नहीं चली। राणा सांगा बुरी तरह घायल हुआ और उसे किसी तरह बचाकर युद्ध स्थल से बाहर ले जाया गया। निर्णायक रूप से बाबर की विजय हुई। उसने राजपूतों के सिरों का एक ढेर बनवाया और गाजी (धर्म-युद्ध का विजेता) की उपाधि की।

यह युद्ध भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण निर्णायक युद्ध है। राजपूतों की सैन्य शक्ति पूर्णतया कुचल दी गई और राजपूत संघ-छिन्न-भिन्न हो गया। अगले 200 वर्षों तक राजपूत शासक राजपूत संघ का निर्माण नहीं कर सके। राजपूत शक्ति का डर न रहने से मुगलों को उत्तरोत्तर विकास का अवसर मिल गया। डॉ. एस. आर. शर्मा के अनुसार, राजपूतों की सर्वोच्चता का भय जो गत 10 वर्षों से मंडरा रहा था। वह सदैव के लिए समाप्त हो गया। 18 शत्रुक विलियम्स के शब्दों में, इस युद्ध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि इस विजय के बाद बाबर की शक्ति का आकर्षण केन्द्र काबुल से हट कर हिन्दुस्तान हो गया। हराणा की हार ने मुगल युद्ध पद्धति की श्रेष्ठता स्थापित दी। अफगान शक्ति भी अब काफी दुर्बल हो गयी थी।

चन्देरी पर आक्रमण (१५२८ ई.)

मालवा और बुंदेलखण्ड की सीमा पर स्थित चंदेरी सामरिक महत्व की जगह थी। साथ ही, इसका व्यापारिक महत्व भी था। बाबर के चंदेरी पर अधिकार करने से गंगा-यमुना के दोआब व राजपूताने पर नजर रखी जा सकती थी और मालवा को विजय करने में सुविधा हो सकती थी। चंदेरी के शासक मेदिनीराय ने राणा सांगा की अधीनता स्वीकार कर ली थी और खानुवा के युद्ध में सांगा की तरफ से भाग लिया था। अतः बाबर चंदेरी को हथियाना चाहता था। 28 जनवरी, 1528 ई. को बाबर ने चंदेरी पर आक्रमण कर दिया। बाबर ने इस युद्ध को भी जेहाद बताया। मेदिनीराय युद्ध में मारा गया तथा हजारों राजपूत कत्ल कर

भारत का इतिहास

दिये गये। चंदेरी मालवा राजवंश के अहमदशाह को लाख रुपये वार्षिक षही कोश में जमा कराते रहने पर दे दी गई।

घाघरा का युद्ध

अफगान समस्या अभी तक पूर्णतया सुलझी नहीं थी। इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी इन अफगानों का नेतृत्व कर रहा था। 6 मई 1529 ई. को दोनों की सुयुक्त सेना का सामना घाघरा के किनारे हुआ जिसमें अफगान हार गये। बाबर व नुसरतशाह के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार नुसरतशाह बाबर के षत्रुओं को अपने यहां षरण नहीं देने का वायदा किया। यह बाबर का अंतिम महत्वपूर्ण युद्ध था। इसके बाद वह समस्त उत्तरी भारत का शासक बन गया। अब उसके अधीन सिन्धु नदी से विहार तक और हिमालय से चंदेरी तक का भू-भाग आ गया था।

बाबर को मृत्यु एवं मूल्यांकन

अत्यधिक कठोर परिश्रम, भोग अफीम, मदिरा व असंध्य औषधियों के सेवन से उसका षरीर छलनी हो गया। 1527 ई. में उसने हुमायूँ को बदख्शां भेजा था। अपने अंतिम समय में बाबर ने हुमायूँ को सम्भल की जागीर दी किन्तु हुमायूँ वहाँ जाकर बीमार हो गया अतएव उसे आगरा लाया गया। उसके स्वास्थ्य में सुधार होता न देखकर फकीर अबूबका की सलाह पर बाबर ने ईश्वर से प्रार्थना की कि हुमायूँ के बदले उसके प्राल लेण लेले। इसके पश्चात् हुमायूँ ठीक होता गया और बाबर बीमार पड़ने लगा। डॉ. एस. आर. षर्मा का मानना है कि हुमायूँ के ठीक हो जाने के 6 महीने बाद बाबर बीमार पड़ा था। उसका हुमायूँ की बीमारी से कोई सम्बंध नहीं था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी यह मानते हैं कि संभवतया इब्नाहीम लोदी की माता द्वारा दिये गये विश के कारण ही बाबर की 26 दिसम्बर, 1530 ई. को मृत्यु हो गई। मृत्यु से पूर्व उसके हुमायूँ को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। बाबर को काबुल में दफनाया गया था।

बाबर मध्य एषिया के अत्यन्त प्रतिभाषाली सम्राटों में था। स्वयं बाबर के एक कुटुम्बी हैदर ने प्तारीखे रषीदीय में लिखा है, उसमें अनेक गुण और विशेषताएँ थी। वीरता और मानवता के गुण उसमें सर्वोपरि थे। आधुनिक इतिहासकारों में रषर्क विलियम्स, वी.ए. स्मिथ लेनपूल आदि ने उसकी एक व्यक्ति और शासक के रूप में भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वह एक कुषल सेनापति व कूटनीतिज्ञ था। एक प्रशासक के रूप में वह अपनी प्रजा का हित हर समय देखता था परन्तु वह एक अच्छा शासन प्रबंधक नहीं था। उसने अपना साम्राज्य सामंतों व अधिकारियों में विभक्त कर दिया। साम्राज्य की आर्थिक समस्या को समझने की उसमें योग्यता नहीं थी। उसकी उदार व खर्चीली प्रवृति के परिणाम हुमायूँ को भुगतने पड़े थे। रषर्क विलियम्स ने ठीक ही लिखा है कि बाबर ने अपने बेटे के लिए ऐसा राजतंत्र छोड़ा जो केवल युद्धकालीन परिस्थितियों में ही सुसंगठित रह सकता था। शांतिकाल में तो यह निर्बल और निकम्मा था। ८

बाबर आज्ञाकारी पुत्र, योग्य और प्रिय पिता, अच्छा सम्बन्धी, वफादार मित्र स्नेही पति, ष्कर्तव्य परायण मनुष्य और सुषिक्षित व्यक्ति था। धार्मिक दृष्टि से बाबर कटर सुन्नी मुसलमान था। उसने

भारत में धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया।

बाबर एक विद्वान शासक था। वह ललित कलाओं का प्रेमी था। प्राकृतिक सौन्दर्य का पारखी था। उसकी लेखन शैली शुद्ध थी। तुर्की पर उसका अधिकार था। खाबरनामा उसकी आत्मकथा है। एक सैनिक और सेनापति के रूप में बाबर एक प्रशंसनीय घुड़सवार अचूक निषानेबाज, कुशल तलवारबाज और जबरदस्त पिकारी था।

हुमायूँ एवं उसकी प्रारंभिक कठिनाइयाँ (१५२० ई. — १५५६ ई.)

नासिरुद्दीन मुहम्मद हुमायूँ का जन्म काबुल के किले में 6 मार्च, 1508 ई. को हुआ था। उसकी माँ का नाम माहिम सुल्ताना था। हुमायूँ की शिक्षा उचित प्रबंध किया गया था। मौलाना मुसहद्दीन रुहल्लाह और मौलाना इलियास उसके दो शिक्षकों की जानकारी मिलती है। वह तुर्की, अरबी व फारसी भाषाओं का जानकार था किन्तु हिज्जे (छोटी-बड़ी) की गलतियाँ करता था। गणित, दर्शनशास्त्र, काव्य, ज्योतिष शास्त्र व नक्षत्रशास्त्र में उसकी बड़ी दिलचस्पी थी। उसे सैनिक शिक्षा भी दी गई थी। पानीपत और खानुवा के युद्धों के अलावा उसके अफगानों से अनेक युद्ध किये थे। हिसार फिरोजा, संभल तथा बदखां उसे जागीर में दिये गये थे।

बाबर की मृत्यु के चार दिन बाद 30 दिसम्बर, 1530 ई को हुमायूँ को गद्दी पर बिठाया गया। इसका मुख्य कारण यह था कि बाबर का प्रधान मंत्री निजामुद्दीन अली मुहम्मद खलीफा ने हुमायूँ की जगह बाबर के बहनोई मेहदीखाजा को गद्दी पर बैठाने का शङ्कन्त्र रचा था। परन्तु वास्तविकता यह थी कि बाबर के देहान्त के समय हुमायूँ संभल में था और वह शीघ्र आगरा नहीं पहुँच सकता था। प्तबकाते अकबरी से ज्ञात होता है कि खलीफा का शङ्कन्त्र केवल योजना थी जिसे क्रियान्वित करने से पूर्व ही समाप्त कर दिया गया था। हुमायूँ के संभल से आगरा पहुँचने से ही चार दिन बाद गद्दी नषीनी हुई थी।

हुमायूँ के लिये सिंहासन फूलों की सेज न होकर काँटों की शैय्या थी। उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा— आंतरिक कठिनाइयाँ एक बाह्य कठिनाइयाँ।

आंतरिक कठिनाइयाँ

१. विषंखलित साम्राज्य बाबर ने हुमायूँ के लिए एक विस्तृत साम्राज्य विरासत में छोड़ा था, परन्तु यह एक अव्यवस्थित तथा असंगठित साम्राज्य था, जिसकी नींव दृढ़ नहीं थी। उसने अपना साम्राज्य अमीरों, सरदारों में विभक्त कर दिया था जो केवल सैनिक शक्ति पर टिका हुआ था। सुदूर प्रान्तों में तो मुगल साम्राज्य नाममात्र का ही था। रषर्क विलियम्स ने ठीक हो लिखा है कि बाबर ने अपने पुत्र के लिए विरासत में एक ऐसा राजतंत्र छोड़ा था, जो केवल युद्ध कालीन परिस्थितियों में ही सुसंगठित रह सकता था, शांतिकाल के लिये निर्बल और निकम्मा था। भारतीय लोग मुगलों को विदेशी मानते हुये उनसे मुक्त होना चाहते थे। अतः बाबर के देहान्त से उत्पन्न हुई विकट परिस्थितियाँ जन सहयोग का अभाव विभाजित और असंगठित साम्राज्य उदार हुमायूँ के लिये बड़ी कठिनाई बना हुआ था।

२. रिक्त राजकोश — बाबर की उदार, खर्चीली प्रवृत्ति के दुश्परिणाम हुमायूँ को भुगतने पड़े। पानीपत.

के युद्ध के बाद बाबर ने धन का भारी अपव्यय किया। खाबरनामा में वह स्वयं लिखता है

भारत का इतिहास

कि 1529 ई. तक सिकन्दर और इब्राहिम लोदी का कोश समाप्त हो गया था और उसे अपने उच्च अधिकारियों पर 30 प्रतिशत कर लगाना पड़ा। रषब्रुक विलियम्स ने भी दयनीय आर्थिक अवस्था को हुमायूँ की कठिनाइयों का कारण स्वीकार किया है।

३. हुमायूँ के भाई – हुमायूँ के तीन भाई थे कामरान जो 17 वर्ष का था, अस्करी 15 व हिन्दाल 12 वर्षीय था। बाबर ने हुमायूँ को अपने भाइयों के साथ अच्छा व्यवहार करने की सलाह दी थी। हुमायूँ ने पिता की इस सलाह का आजीवन पालन किया किन्तु उसके भाइयों ने सदैव हुमायूँ के प्रति विरोधी भावना रखी। वे व्यक्तिगत स्वार्थी अधिकारों के कारण सदैव हुमायूँ के षत्रु बने रहे। भाइयों ने सदैव हुमायूँ के लिये कठिनाइयाँ पैदा कीं।

४. असंगठित शासन व्यवस्था – बाबर को शासन व्यवस्था संगठित करने का अवसर ही नहीं मिला अतः हुमायूँ को एक असंगठित राज्य प्राप्त हुआ था। जागीर प्रथा के कारण बड़े-बड़े सरदार शक्तिशाली हो गये थे। बाबर ने अपनी प्रजा की ओर कभी ध्यान नहीं दिया जिससे प्रजा उसे सदैव विदेशी मानती रही। ऐसी स्थिति में हुमायूँ अपनी प्रजा के सहयोग से भी वंचित हो गया।

५. बाबर के संबंधी – हुमायूँ के लिए उसके कुछ निकट संबंधी भी, जो तैमूर के वंशज थे और मिज कहलाते थे, एक बड़ी समस्या बने हुये थे। वे काफी महत्वाकांक्षी थे। ये लोग भी दिल्ली पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे और सदैव हुमायूँ के विरुद्ध शङ्क्यंत्र रचते रहते थे। बेमेल सेना बाबर की सेना में विभिन्न प्रदेशों, धर्मों और नस्लों के सैनिक तथा सरदार सम्मिलित थे। ये भारत को लूटने की अभिलाशा से बाबर की सेना में भर्ती होकर आये थे। जब इन पर बाबर जैसे सेनानायक का नियंत्रण नहीं रहा तो वे अलग-अलग बैट का हुमायूँ के विरुद्ध शङ्क्यंत्र करने लगे। बे-मेल मुगलन सेना के कई सरदारों एवं सैनिकों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना हुमायूँ के लिए बड़ा कठिन हो गया था, क्योंकि इनके हृदय में हुमायूँ के प्रति कोई आदर भाव नहीं था। साथ ही, हुमायूँ के नेतृत्व के प्रति इनमें अविश्वास था।

बाह्य कठिनाइयाँ

हुमायूँ के लिये बाह्य कठिनाइयाँ भी नहीं थी। गुजरात का पासक बहादुरशाह नौजवान एवं महत्वाकांक्षी था। मालवा पर अधिकार करने के बाद उसकी राज्य सीमा मुगलों से जा टकराई। अफगान – पानीपत और घाघरा युद्धों के बाद अधिकांश अफगान बिहार में अपनी शक्ति संगठित कर रहे थे। इनके दो नेता प्रमुख थे—महमूद लोदी और घेरखा। महमूद अपने पूर्वजों को गद्दी को प्राप्त करना चाहता था। डॉ. हरिशंकर श्रीवास्तव के अनुसार, षनैःसंदेह इस नई परिस्थिति में, जबकि पानीपत का विजेता मर चुका था उसका पुत्र हुमायूँ अभी नौजवान और अनुभवहीन था, जिसे गद्दी पर बैठाने में भी मुगल अमीरों को थोड़ी हिचकिचाहट थी, इधर अफगान पूर्ण रूप से लाभ उठाने को तैयार थे, वास्तव में यह उनके लिए स्वर्ण अवसर था। ष बंगाल का नुसरतशाह अफगानों की सहायता व षरण दे रहा था। सिन्ध और मुल्तान मुगलों के अधीन थे लेकिन हुमायूँ की कमजोरी का लाभ उठाकर ये स्वतंत्र होने की ताक में रहते थे। मालवा मुल्तान, सिंध, खानदेश, काश्मीर, राजपूताना आदि ऐसे पड़ोसी राज्य थे जो नव आगन्तुक किन्तु अनुभवहीन युवा हुमायूँ की सफलता हेतु बाधा बन सकते थे।

हुमायूँ में अनेक ऐसी चारित्रिक दुर्बलताएँ थी जिनके कारण वह स्वयं अपने आप के लिए समस्या बन बैठा।

आलस्य की प्रवृत्ति

हुमायूँ आलसी था जिसकी वजह से उसने कभी अत्तरदायित्व को नहीं समझा। वह कठिनाइयों को प्रायः टालता रहता था। स्वयं बाबर ने बाबर नामा में शिकायत की कि भारत के अंतिम आक्रमण के समय हुमायूँ समय पर नहीं लौटने पर षेरशाह के विरुद्ध कार्यवाही न करके आगरा में व्यर्थ समय गँवाना आदि उसकी आलसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं।

अंधविश्वासी

हुमायूँ षकुन में अत्यधिक विश्वास करता था। उसका मंत्र-तंत्र एवं जादू-टोना में भी विश्वास था। जरूरी काम भी वह अच्छे नक्षत्रों की इंतजार में छोड़ देता था। अंधविश्वास के कारण वह कभी स्वावलंबी नहीं बन सका।

निर्णय शक्ति का अभाव

हुमायूँ कठिन परिस्थितियों में निर्णय करने में अक्षम था। साथ ही, वह षत्रु की शक्ति का सही मूल्यांकन भी नहीं कर पाता था। वह एकाकर किसी का भी विश्वास कर लेता था जिसकी वजह से उसके निकटस्थ लोगों ने ही उसे धोखा दिया था। इतने पर भी उन्हें क्षमा कर देता था।

क्षीण संकल्प

हुमायूँ में दृढ़ संकल्प का अभाव था। लेनपूल ने लिखा है कि जब हुमायूँ को युद्ध स्थल पर होना चाहिए तब वह हरम (जनाना) में होता और जब हरम में होना चाहिए तब वह युद्ध स्थल पर होता। जिसे दण्ड देना चाहिए उसे वह क्षमा कर देता था। नाजुक क्षणों में भी वह मौज-मस्ती व आनंद करता दिखाई देता था। इस प्रकार हुमायूँ स्वयं के लिए ही कठिनाई बन गया तथा स्वयं ही अपना सबसे बड़ा षत्रु सिद्ध

हुआ।

हुमायूँ के प्रारंभिक कार्य

(प) साम्राज्य का विभाजन

बाबर के निर्देशानुसार हुमायूँ ने अपने भाइयों में साम्राज्य का विभाजन कर दिया था। कामरान महत्वाकांक्षी था। अतः उसने हुमायूँ के आदेशों का पालन नहीं किया और काबुल, कुंधार, पेशावर लमगान पर अधिकार जमा लिया पतु हुमायूँ ने एक फरमान जारी कर ये प्रदेश कामरान को दे दिये। परिणामस्वरूप हुमायूँ का मध्य-एशिया से सम्पर्क टूट गया तथा सेना के लिए रंगरूटों की भरती करने का सबसे अच्छा क्षेत्र भी हाथ से निकल गया।

(पप) कालिंजर अभियान

भारत का इतिहास

कालिंजर का शासक प्रतापरुद्र अफगानों का शुभ चिन्तन था। 1531 ई. में कालिंजर के किले को घेरने के कुछ माह बाद हुमायूँ ने कालिंजर के शासक से समझौता कर लिया ताकि वह विद्रोही अफगानों को दबाने हेतु जा सके। हुमायूँ इस अभियान द्वारा न तो दुर्ग पर अधिकार कर सका और न ही उससे मित्रता

कर सका ! चुनार का प्रथम घेरा (१५३२ ई.)

चुनार का दुर्ग पेरखा के अधिकार में था। हुमायूँ इसपर अधिकार करना चाहता था। इस अभियान पर उसने हिन्दू बेग को भेजा। बातचीत के दौरान पेरखा ने दुर्ग समर्पित करने से मना कर दिया। अतः हुमायूँ चुनार पहुँच कर सितम्बर से दिसम्बर 1532 ई. तक दुर्ग पर घेरा डाले रहा। तभी हुमायूँ को सूचना मिली कि बहादुरशाह चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिल्ली को अधीन करना चाह रहा है। हुमायूँ ने पेरखा, से संधि कर ली। पेरखा ने भी अपने पुत्र सहित 500 सैनिक हुमायूँ की सेवा में भेजे। हुमायूँ आगरा में आकर भोग-विलास में लिप्त हो गया। इधर पेरखा अपनी शक्ति बढ़ाने में लग गया।

(पअ) गुजरात अभियान

गुजरात के शासक बहादुरशाह ने मालवा, रायसीन, चित्तौड़, रणथंभौर अजमेर पर अधिकार कर लिया। उसने हुमायूँ से युद्ध करने के लिये सेना में काफी वृद्धि भी कर ली। वह मुगल विरोधी अफगानों को परण भी देता था। अतः दोनों के बीच युद्ध शुरू हो गया। बहादुरशाह ने अपने पुत्र तातारखा को 40 हजार घुड़सवार सेना देकर भेजा जिसने बयाना पर अधिकार कर लिया। इधर हुमायूँ ने मिर्जा अस्करी, हिन्दाल और यादगार नासिर मिर्जा को 18 हजार घुड़सवार देकर तातारखा के विरुद्ध भेजा जिसमें मंडरायल के पास युद्ध करते हुये तातारखा को उसके 300 साथियों सहित काट डाला।

बहादुर शाह दूसरी बार चित्तौड़ का घेरा डाले हुए था। तब हुमायूँ बहादुरशाह के विरुद्ध आगे बढ़ा। चित्तौड़ के शासक विक्रमादित्य की माँ कर्मवती ने हुमायूँ को राखी भेजकर बहादुरशाह के विरुद्ध सहायता देने की प्रार्थना की। हुमायूँ सहायता हेतु आगे बढ़ा तभी उसे बहादुरशाह का समाचार मिला कि वह काफिरों के विरुद्ध अभियान चला रहा है। अतः आप अपने सधर्म पर आक्रमण न करें। हुमायूँ ने आक्रमण नहीं किया। यह उसकी भूल थी। उसे सदैव के लिए राजपूतों के सहयोग से वंचित होना पड़ा। मुगल सेना ने धीरे-धीरे गुजराती सेना को घेरना प्रारम्भ कर दिया और उसकी रसद काट दी। 25 अप्रैल, 1535 ई. को रात में बहादुरशाह ने भाग कर मांडू के दुर्ग में शरण ली। हुमायूँ ने मांडू के दुर्ग को घेर लिया किन्तु बहादुरशाह चम्पानेर की तरफ भाग गया। मांडू के दुर्ग पर अधिकार कर व इख्तियार खाँ को सौंप कर 200 सैनिकों के साथ केम्बे भाग गया। यहां से वह ड्यू चला गया। हुमायूँ ने केम्बे तक तो उसका पीछा किया और वह चम्पानेर आकर दुर्ग को घेर लिया जो चार माह तक चलता रहा। नरसिंह देव मारा गया तथा इख्तियारखाँ ने आत्म समर्पण कर दिया। हुमायूँ को गुजरात के शासकों का विषाल खजाना हाथ लगा। जिसे उसने अपने अमीरों व सैनिकों में बाँट दिया। हुमायूँ अपनी सफलता को स्थायी नहीं रख सका। वह रास संग में व्यस्त हो गया। इधर बहादुरशाह ने अपने विश्वासपात्र हाकिम इमादुल मुल्क को अहमदाबाद से मालगुजारी वसूल करके एक शक्तिशाली सैन्य दल खड़ा करने के लिए भेजा। हुमायूँ व अस्करी ने अक्टूबर 1535 ई. में इमादुलमुल्क को पराजित कर अहमदाबाद पर अधिकार कर

लिया। हुमायूँ ने अस्करी को वहां गवर्नर नियुक्त किया तथा हिन्दूबेग को उसका सलाहकार बनाया। हुमायूँ बहादुरषाह का पीछा करने हुतु ड्यू की ओर चल पड़ा किन्तु इस बीच मालवा के समाचारों के कारण हुमायूँ को माण्डू लौटना पड़ा, जहां वह राग-रंग में लिप्त हो गया। तब गुजरात में मुगलों के विरुद्ध जन आंदोलन प्रारंभ हो गया! बहादुर एक सेना संगठित कर अहमदाबाद के पास आ गया। संघर्ष में अस्करी टिक नहीं सका और अप्रैल, 1536 ई. को अहमदाबाद से चम्पानेर की तरफ भाग गया। परन्तु चम्पानेर आ गया और तारदीबेग को 22. अप्रैल 1536 ई. को दुर्ग छोड़कर भागना पड़ा। हुमायूँ के आलस्य व अस्करी की अयोग्यता के कारण गुजरात मुगलों के हाथ से जाता रहा।

इधर मालवा (माण्डू) से हुमायूँ के आगरा जाते ही वहां विद्रोह हो गया। साम्राज्य के अन्य भागों में विद्रोह के समाचार के कारण हुमायूँ मालवा की ओर ध्यान नहीं दे सका। हुमायूँ ने अस्करी को आगरा का गवर्नर बनाया जो हुमायूँ की भारी भूल थी।

हुमायूँ और अफगान

बंगाल के शासक महमूदषाह को 1534 ई. और 1536 ई. में दो आक्रमणों में हरा कर षेरखां ने अपनी प्रतिष्ठा एवं साधनों में भारी वृद्धि कर ली थी। हुमायूँ ने 1537 ई. की वर्षा तक इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया कि अफगान सरदार षेरखां इतना प्रबल हो गया है।

चुनार का दूसरा घेरा (१५३७-३८ ई.)

जब हुमायूँ को षेरखा के बंगाल अभियान की सूचना मिली तो हुमायूँ हिन्दाल के साथ षेरख के विरुद्ध रवाना हुआ। षेरखां ने अपने पुत्र को चुनार की रक्षा हेतु नियुक्त किया और सवयं गौड़ के दुर्ग पर घेरा डालने गया जहाँ बंगाल के शासक का राजकोश था परन्तु हुमायूँ ने अपनी अदूरदर्षिता का परिचय देते हुये चुनार के दुर्ग पर अधिकार हेतु व्यर्थ में 6 माह बर्बाद कर दिये। इधर षेरखां ने बंगाल में अपनी शक्ति बढ़ा ली।

बंगाल पर आक्रमण

हुमायूँ ने बंगाल की तरफ कूच किया लेकिन वह खजाने पर अधिकार न कर सका। बड़ी ही कूटनीतिज्ञतापूर्ण तरीके से षेरखां ने गौड़ दुर्ग में रखे राजकोष को रोजतास दुर्ग में पहुंचा दिया

चौसा का युद्ध (२६ जून, १५३६ ई.)

हुमायूँ ले राजधानी आगरा पहुंचने के ग्राण्ड ट्रंक रोड पकड़ी जो बिहार से होकर गुजरती थी। बिहार में षेरखां का अधिकार था। अफगान सेनाएँ थकी हुई थी। अतः कई मुगल सरकारों ने उन पर आक्रमण कर देने की सलाह दी किन्तु हुमायूँ ने उनकी बात नहीं मानी। तीन महीने तक दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के आमने-सामने पड़ी रही। इस मध्य हुमायूँ और षेरखां के बीच में संधि की बातचीत भी हुई किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला। 26 जून 1539 ई की रात के तीसरे पहर में षेरखां ने एकाएक मुगल सेना पर आक्रमण कर दिया। भगदड़ मच गई जिसमें काफी मुगल सैनिक मारे गये अथवा भाग गये। हुमायूँ भी निजाम भिप्ती के सहयोग से गंगा पार कर सका और जान बचाकर आगरा चला गया। यह एक निर्णयक युद्ध था। इसमें करीब 8000 मुगल सैनिक, अमीर व षिविर की स्त्रियां मारी

भारत का इतिहास

गई। षेरखां ने षेरवाह की उपाधि धारण की। षेरषाह के सैनिकों ने षीघ्र ही बंगाल पर अधिकार कर लिया। पूरब में मुगलों की षक्ति को पूर्णतया नश्ट करके कन्नौज पहुँच गया जिसपर उसके सैनिकों ने पहले ही अधिकार कर लिया।

कन्नौज या बिलग्राम का युद्ध

चौसा की हार के पश्चात् जब हुमायूँ व कामरान आगरा में मिले तो दोनों की आँखें छलछला आईं। तब हिन्दाल भी आ गया था जिसे हुमायूँ ने क्षमा कर दिया। हुमायूँ ने अप्रैल 1540 ई. में कन्नौज के पास अपनी सेना का मोर्चा खड़ा कर दिया और षेरषाह ने भी किलेबंदी कर दी। दोनों सेनाएं एक-दूसरे के आमने-सामने करीब डेढ़ महीने तक पड़ी रही। 15 मई 1540 ई. को घनघोर वर्षा हुई जिससे मुगल खेमों में पानी भर गया। 17 मई 1540 ई. को षेरखा ने मुगल सेना पर आक्रमण के समक्ष मुगल टिक नहीं पाये। हुमायूँ आगरा पहुंचकर अफगानों के भय से जितना राजकोष ले जा सकता था लेकर पंजाब की ओर चला गया। बिलग्राम के इस युद्ध से षासन सत्ता मुगलों के हाथ से निकल कर अफगानों के हाथ में आ गई। हुमायूँ निश्कासित हो 15 वर्ष तक दर-दर की ठोकरें खाता रहा।

हुमायूँ का निर्वासनकाल

हुमायूँ षेरषाह से हार कर लाहौर पहुंचा ही था कि उसे ज्ञात हुआ कि अफगानों ने दिल्ली व गरा पर अधिकार कर लिया। हुमायूँ की उसके किसी भी भाई ने मदद नहीं की। तभी षेरषाह भी पंजाब आ गया। हुमायूँ कष्मीर आया किन्तु कामरान ने कष्मीर का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। अतः उसे यहां से सिन्ध की ओर जाना पड़ा। भक्खर के दुर्ग पर उसने असफल घेरा भी डाला। फिर सेहवाना की ओर आया और हिन्दाल के षिविर में ठहरा। तब उसने हिन्दाल के आध्यात्मिक गुरु मीर अली अकबर जामी की पुत्री हमीदा बानु से विवाह कर लिया। हुमायूँ भक्खर में था तब उसे मारवाड के षासक राव मालदेव का निमंत्रण सहायतार्थ प्राप्त हुआ परंतु हुमायूँ ने इसे गंभीरता से नहीं लिया। परंतु सभी ओर से निराष हो जाने पर उसे मालदेव के निमंत्रण की याद आई और वह जोधपुर की ओर रवाना हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि षेरषाह की बढ़ती हुई षक्ति एवं हुमायूँ की निर्बलता को देखते हुये मालदेव ने अपना विचार बदल दिया और हुमायूँ को बड़ी कठिनाई से सिंध की ओर भागना पड़ा रास्ते में अमरकोट में राजा वीरसाल ने उसे संरक्षण व सहयोग दिया। यही पर 15 अक्टूबर 1542 ई. को हमीदा बानू बेगम के गर्भ से अकबर का जन्म हुआ। भाइयों के असहयोग से संतप्त हुमायूँ 1544 ई. में फारस पहुंच गया, जहाँ षाह तहमास्य ने उसका स्वागत-सत्कार किया।

हुमायूँ की असफलता के कारण

हुमायूँ को दिल्ली का सिंहासन छोड़ने के बाद लगभग 15 वर्षों तक इधर-उधर की ठोकरें खानी पड़ी। निःसंदेह उसे असंगठित साम्राज्य और रिक्त राजकोष मिला था जो योग्यतम षासक को भी असफल बना देता है। परंतु स्वयं हुमायूँ की अपनी भूलें थीं जो उसे असफलता की ओर ले गई, वे इस प्रकार हैं—

(प) हुमायूँ की व्यक्तिगत कमजोरियां

पिता से प्राप्त अस्त-व्यस्त साम्राज्य को हुमायूँ की व्यक्तिगत कमजोरियों ने असफलता के कगार पर पहुँचा दिया। उसने साम्राज्य को संगठित करने की बजाय अपने भाइयों में विभक्त

कर दिया। फलतः साम्राज्य की एकता का नश्ट होना स्वाभाविक ही था। तत्परता से निर्णय लेने के अभाव होने की वजह से ही उसे चौसा के युद्ध से हार खानी पड़ी। एलफिस्टन ने भी लिखा है, वह वीर अवश्य था लेकिन स्थिति की गंभीरता को समझने की उसमें शक्ति नहीं थी।

(पप) हुमायूँ की फिजूलखर्ची

हुमायूँ को अपने पिता द्वारा रिक्त राजकोश प्राप्त हुआ था फिर भी उसने कभी धन संचयन की ओर ध्यान नहीं दिया। उसे कॉलिजर से युद्ध क्षति के रूप में बहुत बड़ी धन राशि और चम्पानेर में गुरजरात के शासकों का विशाल कोश मिला था किन्तु उसने बड़ी-बड़ी दावतें देने, आनन्दोत्सव मनाने, इनाम इकराम बांटने, इमारतें बनवाने आदि में यह धन खर्च कर दिया। इससे उसकी आर्थिक स्थिति और अधिक बिगड़ गई।

(पपप) भाइयों का असहयोग

हुमायूँ अपने पिता की आज्ञा का पालन करते हुये सदैव भाइयों के प्रति उदार बना रहा। भाइयों ने उसके प्रति बेवफाई की फिर भी हुमायूँ की उदार नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया। पंजाब, हिसार फिरोजा जैसे महत्वपूर्ण प्रदेश उसके हाथ से निकल गये। तीनों भाइयों ने विद्रोह किया तथा हुमायूँ के सामने काफी दिक्कतें पैदा की किन्तु वह उन्हें क्षमा करता रहा। अतः हुमायूँ की अत्यधिक उदारता एवं भाइयों का असहयोग उसकी असफलता में सहायक रहा।

(पअ) राजपूतों का सहयोग प्राप्त न होना

हुमायूँ को जब रानी कर्मवती ने बहादुरशाह के विरुद्ध सहायतार्थ बुलाया तब हुमायूँ का चित्तौड़ न पहुंचना, यह उसकी बहुत बड़ी भूल थी। राजपूतों के सहयोग से वह वंचित हो गया था। इसी प्रकार मालदेव के प्रथम नियंत्रण के समय भी वह मारवाड़ नहीं जा सकता। यह भी भूल कोई कम नहीं थी कि मारवाड़ के राजपूतों से मिलने वाली सहायता से वह वंचित रह गया।

(अ) हुमायूँ की विलासिता

गुजरात के बहादुरशाह को पूर्ण परास्त करने से पूर्व ही मांडू में कई सप्ताह तक हुमायूँ रंगरेलियां मनाने में व्यस्त हो गया। इसी भांति जब उसे पेरखां के बंगाल अभियान की सूचना मिली तो वह आमोद-प्रमोद में ही निमग्न रहा। इतना ही नहीं सैनिक अभियान के समय भी उसका हरम साथ रहता

था।

कुषल नेतृत्व का अभाव

हुमायूँ में कुषल नेतृत्व का अभाव था। उसे न तो सैन्य संगठन का ज्ञान था और न सैन्य संचालन से ही परिचित था। चौसा व कन्नौज के युद्ध में वह अपनी सेना पर नियंत्रण नहीं रख सका। वह इस बात से अनभिज्ञ था कि शत्रु पर कब और किस प्रकार आक्रमण करना चाहिए। पेरखां की बढ़ती शक्ति का वह अनुमान भी नहीं लगा सका। गौड़ का धेरा डाल

भारत का इतिहास

रखा था उस समय हुमायूँ द्वारा चुनार का घेरा डाल रखा था उस समय हुमायूँ द्वारा चुनार का घेरा डालना उसकी अकुषलता का ही परिचायक है। चौसा व बिलग्राम के युद्ध में सैनिक शिविर का पड़ाव भी सही जगह नहीं लगाया था। वह अपने अधिकारियों की उचित सलाह भी नहीं मानता था। लेनपूल का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि हुमायूँ जीवन भर लड़खड़ाता रहा और लड़खड़ाते हुए ही उसकी मृत्यु हुई।

दृढ़ संकल्प का अभाव

हुमायूँ में दृढ़ संकल्प अथवा निश्चय का अभाव था। यदि वह कभी कोई निर्णय ले भी लेता तो उस पर दृढ़ संकल्प के साथ कार्यवाही नहीं कर पाता। चुनार के पहले घेरे के समय उसने पेरखा के साथ संदिग्ध संधि कर ली। 1538 ई. में उसने पेरखा से समझौता करने में कई माल लगा दिये और वह समझौता करने के बाद उसपर अडिग भी नहीं रहा। हुमायूँ की इस नीति के कारण उसके भाई सगे संबंधी तथा सैनिक उससे अप्रसन्न रहते थे।

हुमायूँ द्वारा पुनः भारत विजय एवं देहान्त

पेरषाह के उत्तराधिकारी इस्लामशाह की नवम्बर 1553 ई. में मृत्यु हो जाने के बाद अफगानों में फूट पड़ गई थी। तब हुमायूँ ने पुनः भारत विजय की योजना बनाई। नवम्बर, 1554 ई. में उसने सिन्ध पार कर 23 फरवरी 1555 ई. में लाहौर पर अधिकार कर लिया। उधर सिकन्दर शाह ने तातारखां व हैबतखां के नेतृत्व में एक सेना भेजी। 15 मई, 1555 ई. को दोनों सेनाओं के बीच पच्छीवाड़ा का युद्ध हुआ,

जिसमें मुगल विजयी रहे। सम्पूर्ण पंजाब पर मुगलों का अधिकार हो गया। तब सिकन्दरशाह सैन्य मुगलों से लोहा लेने आया। 22 जून, 1555 ई. को सरहिन्द में दोनों सेनाओं के मध्य संघर्ष हुआ जिसमें हुमायूँ की निर्णायक जीत हुई। 23 जुलाई 1555 ई. को हुमायूँ ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। बादशाह हुमायूँ ने अपने पुत्र अकबर को युवराज

घोषित कर बैरामखा के संरक्षण में पंजाब का गवर्नर बना दिया। कुछ ही महीनों में हुमायूँ ने उन सभी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, जो पूर्व में उसके अधीन थे। हुमायूँ विजयी प्रदेशों में कोई व्यवस्था स्थापित करता इससे पूर्व ही 24 जनवरी, 1556 ई. को जब वह प्दीनपनाह के पुस्तकालय की दत पर बैठ विषेश व्यक्तियों के साथ बातचीत कर रहा था, तभी नमाज की अजान सुनकर सीढियों से उतरते समय पैर फिसल जाने से लुढ़कता हुआ नीचे आ गिरा और सिर में लगी चोट से 27 जनवरी 1556 ई. को उसका देहान्त हो गया। मूल्यांकन व्यक्ति के रूप में हुमायूँ एक भद्र पुरुष था। वह आज्ञाकारी पुत्र व निष्ठावान मुसलमान था। फरिष्ता ने लिखा है, उसका रंग ताम्र वर्ण का सा था। उसके चरित्र में उदारता व कोमलता भरी पड़ी थी। हुमायूँ सुसंस्कृति व शिक्षित था। तुर्की व फारसी साहित्य के अलावा उसे गणित, भूगोल, ज्योतिष में बड़ी दिलचस्पी थी। वह विद्वानों का आदर करने वाला था। बदायूनी ने लिखा है, हुमायूँ इतना बड़ा दानी था कि सम्पूर्ण भारत का राजस्व भी उसके दान के लिए अपर्याप्त था। वह धर्म सहिष्णु था। उसमें नृत्व क्षमता और कूटनीतिज्ञता का अभाव था। वह एक अंध विधवासी एवं विलासी व्यक्ति था। डॉ. आषीर्वादीलाल श्रीवास्तव के अनुसार, अपने हरम में रंगरेलियां मनाना और आराम करने का उसका सवभाव उसकी असफलताओं का प्रमुख कारण समझा जाना चाहिए। फिर भी यह कहा जा सकता

कि कठिन से कठिन परिस्थितियों को भी वह सहन कर जाता था। उसका चरित्र प्रशंसनीय के साथ— साथ आकर्षक भी था। असफलताओं से निराश होकर अंत समय तक वह संघर्षरत रहा और 15 वर्षों के निर्वासन के पश्चात् पुनः भारत पर विजय प्राप्त करने में सफल रहा। यह तो योगायोग ही होगा कि हुमायूँ नाम का अर्थ भाग्यशाली होता है किन्तु उसका यह नाम उतना ही उल्टा अर्थात् अभाग्यशाली के रूप में रहा था।

अभ्यास—प्रश्न

1. भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति बाबर के लिए अनुकूल थी। समीक्षा करे।
2. पानीपत के प्रथम युद्ध के कारणों तथा प्रभावों का वर्णन कीजिये। ?
3. भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना में बाबर के योगदान के विवेचना कीजिये।
4. भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना की स्थापना में बाबर के योगदान के विवेचना कीजिए।
5. हुमायूँ की कठिनाइयों के लिये बाबर कहाँ तक उत्तरदायी था।

षेरशाह सूरी

हुमायूँ के भारत से 15 वर्षों के निर्वासित काल में जिस सूर राजवंश ने भारत पर शासन किया, उसकी स्थापना षेरशाह सूरी ने की थी। षेरशाह ने एक बार कहा था कि अगर भग्य ने मेरी सहायता की और सौभाग्य मेरा मित्र बना रहा तो मैं मुगलों को सरलता से हिन्दुस्तान से बाहर निकाल दूँगा। इस कथन को चरितार्थ करने में वह सफल रहा। षेरशाह का शासन काल दो कारणों से महत्वपूर्ण है। एक तो इसलिए कि अन्तिम बार एक अफगानी राजवंश दिल्ली के सिंहासन पर पुनः स्थापित हुआ और द्वितीय इसलिए कि षेरशाह ने देश की प्राचीन शासन व्यवस्था को पुनर्जीवित कर उसमें उपयोगी और आवश्यक सुधार किये, जिससे जनता को शान्ति सुव्यवस्था और समृद्धि प्राप्त हुई। षेरशाह ऐसा व्यक्ति था कि जो कुछ भी उसने प्राप्त किया वह केवल स्वयं के पुरुशार्थ से प्राप्त किया और एक साधारण व्यक्ति से ऊपर उठकर हिन्दुस्तान के सम्राट के पद पर पहुँचा था।

षेरशाह का प्रारम्भिक जीवन

षेरशाह का बचपन का नाम फरीद था। उसका दादा इब्राहीम सूर अपने पुत्र हसनखाँ के साथ जो षेरशाह का पिता था, अफगानिस्तान से नौकरी की तलाश में हिन्दुस्तान आया था। उन्होंने हरियाना और बखाला के जागीरदार महाबत खाँ सूर और दाऊद साहूखैल के यहाँ नौकरी कर ली और यहीं पर हसन खाँ की पत्नी से बजवाड़ा नामक स्थान पर फरीद का जन्म हुआ। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव तथा डॉ. आरकृ पी. त्रिपाठी ने फरीद का जन्म 1472 ई. को होना बताया है जबकि डॉ. कानूनगों के अनुसार उसका जन्म 1486 ई. में होना चाहिए। कुछ समय बाद हसन खाँ ने हिसार फिरोजा के जमाल खाँ के यहाँ नौकरी कर ली। जब सिकन्दर लोदी के समय में जमाल खाँ को बिहार में जौनपुर की जागीर दे दी गयी तो वह षेरशाह के पिता हसन खाँ को भी अपने साथ ले गया क्योंकि उसकी सेवा से वह बहुत सन्तुष्ट था। उसने उसे सहसराम, खवासपुर और टोंडा की जागीर प्रदान की। हसन के चार पत्नियाँ और आठ पुत्र थे। फरीद और निजाम पहली पत्नी से थे। हसन और चौथी

भारत का इतिहास

पत्नी से अधिक प्रभावित था अतः उसने पहली पत्नी के बच्चों की परवाह नहीं की। इस कारण फरीद अपने पिता से झगड़ा करके 22 वर्ष की आयु में जोनपुर चला गया। वहाँ उसने अरबी, फारसी और व्याकरण तथा सुप्रसिद्ध ग्रंथ षसिकन्दरनामा गुलिस्तां और खोस्ताफ़ का अध्ययन किया। उसने अपनी प्रतिभा से अपने पिता के मालिक जलामख़ाँ को भी प्रभावित किया, जिसने पिता-पुत्र से समझौता कर दिया और हसन ख़ाँ को अपनी जागीर का प्रबन्ध फरीद के हाथ में सौंपने का आदेश दिया फलस्वरूप हसन ने अपनी जागीर का प्रबन्ध फरीद को सौंप दिया।

जागीर के प्रबंधक के रूप में (१५११-१५१६ ई.)

जौनपुर से आकर फरीद सहसराम में अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध देखने लगा। उसने अगले 8 वर्ष (1511-1519 ई.) तक बड़ी योग्यता व कुशलता से यह कार्य किया। जिन जमींदारों ने जरा-सा सिर उठाया, उन्हें उसने कठोरता से दबा दिया तथा दीवानी और फौजदारी अधिकारियों को कड़े नियन्त्रण में रखा और प्रजा को शान्ति और सुव्यवस्था प्रदान की। उसने किसानों के हितों का पूरा ध्यान रखा तथा प्रत्येक किसान के साथ न्यायोचित व्यवहार किया। थोड़े ही समय में परगने समृद्ध हो गये तथा किसान और सिपाही सन्तुष्ट हुए। लेकिन उसकी इस सफलता से उसकी सौतेली माँ उससे और अधिक जलने लगी। 1519 ई. में अपनी सौतेली माँ और भाइयों के कारण उसका अपने पिता से झगड़ा हो गया। अतः आगरा से सुल्तान इब्राहीम लोदी के दरबार में पहुँचा और उससे प्रार्थना की कि उसके पिता की जागीर उसे दे दी जाय। इब्राहीम ने उस समय तो नहीं, परन्तु 1520 ई. में जब हसन ख़ाँ की मृत्यु हो गयी, तो फरीद को उसके पिता की जागीर दे दी और उसने जाकर अपनी जागीर पर अधिकार कर लिया। लेकिन अपने सौतेले भाइयों के साथ जागीर को लेकर उसका झगड़ा शुरू हो गया और इन्हीं झगड़े-टण्टों के कारण फरीद अधिक दिनों तक जागीर का सुख नहीं भोग सका। इसके सौतेले भाई सुलेमान ने एक शक्तिशाली अफगान सरदार मुहम्मद ख़ाँ की सहायता लेकर फरीद से जागीर के बँटवारे की बात की। फरीद ने इससे इन्कार कर दिया और अपनी रक्षा के लिए उसने दक्षिण बिहार के सूबेदार बहारख़ाँ लोहानी के यहाँ नौकरी कर ली। यहाँ पेर को बिना हथियार के मार देने के कारण बहारख़ाँ ने उसे पेरख़ाँ की उपाधि से विभूषित किया। बहारख़ाँ ने उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे अपने लड़के जलालख़ाँ का संरक्षक और उसके पश्चात् दक्षिण बिहार का उप सूबेदार नियुक्त कर दिया।

पेरख़ाँ मुगलों की सेवा में पेरख़ाँ को इस तरह उन्नति करते देखकर दक्षिण बिहार के लाहानी तथा अन्य सरदार उससे जलने लगे और उन्होंने उसके विरुद्ध बहारख़ाँ के कान भरने शुरू कर दिये। अफगानों के लिए यह समय बड़ा नाजुक था जबकि पानीपत के युद्ध में (21 अप्रैल, 1526 ई.) इब्राहीम लोदी मारा गया था और हिन्दुस्तान की सत्ता अफगानों के हाथों से निकलकर मुगलों के हाथों में चली गयी थी। बहारख़ाँ ने सुल्तान मुहम्मदशाह की उपाधि धारण कर अपने आपको स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। पेरख़ाँ पर महमूद लोदी के साथ होने का आरोप लगाकर उसके शत्रुओं ने मुहम्मदशाह को भड़काने में सफलता प्राप्त की और फलस्वरूप पेरख़ाँ को दक्षिणी बिहार छोड़ना पड़ा। ऐसी स्थिति में वह बाबर की सेवा में चला गया, जहाँ उसने मुगलों के सैनिक संगठन और रणनीति को अपनी आँखों से देखा और अच्छी तरह समझा। चन्देरी युद्ध के दौरान वह मुगल सेवा में था। उस समय बाबर ने पेरख़ाँ के बारे में कहा था, यह अफगान छोटी-छोटी बातों से पीछे हटने वाला

आदमी नहीं है। वह आगे चलकर बड़ा आदमी हो सकता है। षेरख़ाँ पर अच्छी तरह ध्यान रखें। वह चतुर आदमी है और उसके मस्तक पर षाही – चिह्न दिखायी देते हैं। ८ ज्यादा से ज्यादा 15 महीने मुगलों की सेवा में रहने के बाद अपनी जागीर वापस मिलते ही वह मुगलों के यहाँ से भाग आया। के बिहार का डिप्टीगवर्नर इस प्रकार षेरख़ाँ पुनः मुहम्मदषाह की सेवा में बिहार आ गया और मुहम्मदषाह ने उसे फिर अपने लड़के जलाल ख़ाँ का संरक्षक नियुक्त कर दिया। 1528 ई. में मुहम्मदषाह की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी षूदू बीबी ने षेरख़ाँ को अपना सहायक नियुक्त कर दिया क्योंकि उसका लड़का जलालख़ाँ अभी नाबालिग था। डिप्टी गवर्नर की हैसियत से उसने शासन प्रबन्ध एवं सेना का पुनर्गठन किया। उसके साथ ही उसने अपने अफगान अनुयायियों का एक ऐसा दल भी संगठित किया जो उसके लिए अपनी जान देने के लिए तैयार था। इसी समय इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी भाग कर बिहार आया और मुगलों के खिलाफ अफगानों को संगठित करने लगा। षेरख़ाँ अनिच्छा से घाघरा की लड़ाई (6 मई, 1529 ई.) में मुगलों के खिलाफ लड़ा जिसमें अफगानों की हार हुई। महमूद लोदी तो युद्ध क्षेत्र में षत्र से मोर्चा लिये बिना ही भाग खड़ा हुआ। अफगान सरदारों में से अधिकांश ने जिनमें षेरख़ाँ भी सम्मिलित था, बाबर की अधीनता स्वीकार कर ली। षिषु सुल्तान जलालख़ाँ को बाबर की अधीनता स्वीकार करने तथा वार्षिक) कर चुकाने की षर्त पर बाबर द्वारा दक्षिण बिहार वापस सौंप दिया गया। षेरख़ाँ को भी उसकी जागीर पुनः मिल गयी।—

घाघरा के युद्ध के बाद षेरख़ाँ को पुनः जलाल ख़ाँ का संरक्षक और बिहार का डिप्टी गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। नियुक्ति के पश्चात् षेरख़ाँ प्रान्त के शासन सुधार और उसे व्यवस्थित करने में जी-जान से लग गया। इसके कुछ समय बाद दूदू बीबी का स्वर्गवास हो गया और सम्पूर्ण शासन सत्ता षेरख़ाँ के हाथ में आ गयी, क्योंकि जलाल ख़ाँ अभी नाबालिग और नाम मात्र का शासक था। इस परिस्थिति का षेरख़ाँ ने पूरा उपयोग किया। उसने सेना पर अपना प्रभाव और प्रभुत्व स्थापित किया और अपने परखे हुए विश्वासपात्र आदमियों को शासन और सेना महत्वपूर्ण दों पर नियुक्त कर अपनी षक्ति और प्रतिष्ठा में खूब वृद्धि की। 1529 ई. में बंगाल के शासक नुसरतषाह ने दक्षिण बिहार पर आक्रमण किया, परन्तु षेरख़ाँ ने उसे परास्त कर दिया। अपने पड़ोसी षक्तिषाली शासक पर विजय से षेरख़ाँ की प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा काफी बढ़ गयी। षेरख़ाँ को इस प्रकार बढ़ते देखकर लोहानी सरदार जल उठे। जो आदमी कभी उसके सरदार का नौकर रह चुका था, इस प्रकार प्रतिष्ठा पाये यह उन्हें असह्य था। इन लोगों ने जलाल ख़ाँ के कान भरे और उसे षेरख़ाँ के विरुद्ध भड़काया। इतने से ही सन्तुष्ट न होकर इन लोगों ने षेरख़ाँ की हत्या तक करने का शड्यन्त्र रचा किन्तु सफल न हुए। तब उन्होंने बंगाल के शासक नुसरतषाह से सहायता माँगी और जब उसमें भी उन्हें सफलता न मिली तो वे बच्चे जलालख़ाँ को लेकर बंगाल भाग गये। जलाल ख़ाँ के स्वयं भाग जाने से षेरख़ाँ अब दक्षिण बिहार का वास्तविक शासक बन गया और षहरत-ए-आला की उपाधि धारण कर राजकाज चलाने लगा। इसी दौरान 1530 ई. में चुनार के पूर्व गवर्नर नाजख़ाँ की विधवा पत्नी लाडमलिका से षादी कर लेने पर उसे चुनार का प्रसिद्ध दुर्ग और बड़ा खजाना प्राप्त हो गया जिससे उसी सैनिक और आर्थिक स्थिति मजबूत हो गयी। इन सफलताओं से उसकी विजय लालसा एवं महत्वाकांक्षाएँ (और अधिक प्रज्ज्वलित हो उठी और वह एक स्वतन्त्र शासक बनने के सुख-स्वप्न देखने लगा।

हुमायूँ से सम्राज्य के लिए संघर्ष (१५३० – १५४० ई.)

भारत का इतिहास

1530 ई. में बाबर की मृत्यु के बाद हुमायूँ हिन्दुस्तान का सम्राट बना। अफगानों ने फिर इस स्थिति का लाभ उठाने का निष्पत्ति किया। महमूद लोदी एक बार फिर बिहार में आया और अफगानों को संगठित करना शुरू किया। उसने षेरख़ाँ से सहायता माँगी और उसे आश्वासन दिया कि मुगलों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् दक्षिण बिहार का सम्पूर्ण प्रदेश उसे वापस कर दिया जायेगा। षेरख़ाँ भी अनिच्छा से महमूद लोदी के साथ हो गया। अगस्त, 1932 ई. में दोहरिया नामक स्थान पर हुमायूँ का अफगानों से युद्ध हुआ जिसमें अफगानों की भयंकर हार हुई और उन का नेता महमूद लोदी उड़ीसा भाग गया, जहाँ वह अपना पेशे जीवन व्यतीत करते हुए 1542 ई. में मर गया। महमूद लोदी के राजनीति से हटते ही षेरख़ाँ को अफगानों के नेतृत्व का अवसर प्राप्त हो गया।

अब हुमायूँ ने आगे बढ़कर चुनार के किले का घेरा डाल दिया जो षेरख़ाँ के अधिकार में था। किन्तु चार महीने के घेरे के पश्चात् भी हुमायूँ उसे जीत नहीं सका। इस दौरान उसे यह चिन्ताजनक समाचार मिला कि गुजरात का बहादुरशाह अपनी शक्ति को बढ़ाकर मुगलों से लड़ने की तैयारी कर रहा है। फलस्वरूप हुमायूँ ने षेरख़ाँ से सौँध ही करना ठीक समझा। चुनार का दुर्ग षेरख़ाँ के पास इस शर्त पर रहने दिया गया कि वह मुगल अधीनता स्वीकार करेगा और पाँच सौ सैनिकों का एक दल अपने तीसरे पुत्र कुतुबख़ाँ के नेतृत्व में मुगल सेवा में रखेगा। षेरख़ाँ के लिए यह समझौता हानिकारक न था। अतः सन्धि हो गई और हुमायूँ वापस लौट गया। लेकिन षेरख़ाँ का लड़का कुतुबख़ाँ बहादुरशाह के खिलाफ मन्दसौर के युद्ध के बाद हुमायूँ को छोड़कर अपने पिता के साथ आ मिला।

चुनार के घेरे के समय बंगाल के शासक ने षेरख़ाँ के विरुद्ध षत्रुता का व्यवहार किया था अतः षेरख़ाँ ने हुमायूँ को गुजरात और मालवा में व्यस्त देखकर अपने कदम बंगाल की ओर बढ़ाये। उसने बंगाल पर आक्रमण कर दिया। 1534 ई. में दोनों सेनाओं के बीच सूरजगढ़ का महत्वपूर्ण युद्ध हुआ जिसमें षेरख़ाँ की पूर्ण विजय हुई और उसे बंगाल की सेना का सम्पूर्ण कोश, तोपखाना, हाथी आदि हाथ लगे। इससे षेरख़ाँ का साहस इतना बढ़ गया कि वह अब अपने विरोधियों को खुली चुनौती देने लगा। 1536 ई. में उसने फिर बंगाल पर आक्रमण किया और वहाँ के नये शासक गियासुद्दीन मजमूद से तेरह लाख रुपयों की कीमत की स्वर्ण राशि भेंट लेकर उसे सन्धि करने पर मजबूर किया। दो बार बंगाल के शासक को हरा देने से अब षेरख़ाँ की लालसा बढ़ गयी। वह बंगाल को पूर्ण विजय कर अपने अधिकार में ही कर लेना चाहता था। अतः 1537 ई. में षेरख़ाँ ने फिर इस बहाने बंगाल पर आक्रमण किया कि महमूद वार्षिक कर चुकाने में असमर्थ रहा था और उसने अभी तक षेरख़ाँ का मुकाबला नहीं कर सका। उसने मजबूर होकर गौड़ के दुर्ग में जाकर शरण ली और मुगल सम्राट हुमायूँ से सहायता की प्रार्थना की।

27 जुलाई, 1537 ई. को हुमायूँ षेरख़ाँ की शक्ति को दबाने के लिए रवाना हुआ। चुनार पहुँचकर उसने चुनार के किले को घेर लिया, जो षेरख़ाँ के अधिकार में था किन्तु किले को जीतने में उसे पूरे छह महीने का समय लग गया। इस बीच षेरख़ाँ ने गौड़ को जीत लिया, जहाँ उसे अपार कोश मिला। 1538 ई. में षेरख़ाँ ने चालाकी से दक्षिण बिहार में एक हिन्दू राजा के अधीन शक्तिशाली किले राहतासगढ़ पर अधिकार कर लिया। राहतासगढ़ देश के सुदृढ़ किलों में से एक था। यहाँ पर षेरख़ाँ ने न केवल अपने परिवार को रख दिया बल्कि गौड़ से प्राप्त खजाने को भी यहाँ पहुँचा दिया और बाद में हुमायूँ से लड़ने के लिए तैयार हो गया।

इसी समय हुमायूँ से बुगाल के शासक ने अत्यन्त कायरतापूर्ण शब्दों में सहायता की प्रार्थना की। हुमायूँ जो इस समय शेरख़ाँ से संधि कर चुका था, सन्धि को तोड़कर गौड़ की तरफ बढ़ा। उसने गौड़ पर अधिकार कर लिया और वहाँ आठ महीने रुका रहा। इस बीच शेरख़ाँ ने तेलियागढ़ी से लेकर कन्नौज तक के सम्पूर्ण प्रदेश पर अधिकार कर हुमायूँ के वापस लौटने के मार्ग को रोक दिया। आगरा से समाचार न आने पर हुमायूँ गौड़ से वापस आगरा की ओर रवाना हुआ, लेकिन चौसा नामक स्थान पर शेरख़ाँ ने उसका रास्ता रोक लिया। अंत में 26 जून, 1539 ई. को हुमायूँ और शेरख़ाँ के बीच चौसा का प्रसिद्ध युद्ध हुआ जिसमें हुमायूँ का हार कर आगरा भागना पड़ा।

चौसा की विजय अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। डॉ. के. आर. कानूनगो ने लिखा है कि चौसा की लड़ाई से पूर्व यदि शेरख़ाँ से बंगाल में छेड़छाड़ न की जाती तो वह मुगलों के अधीन रहने में सन्तुष्ट रहता। एक ही झटके में उसने बंगाल और बिहार के साथ जौनपुर को भी अपनी स्वतंत्र राजसत्ता के अन्तर्गत ले लिया और अब वह मुगल बादशाह से भी बरोबरी का दावा कर सकता था। अब उसकी यह इच्छा हुई कि मुगलों को भारत से बाहर निकाल कर स्वयं दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करें। अतः उसने इस विजय के उपरान्त अपना राज्याभिषेक करवाया, शेरशाह की उपाधि धारण की, अपने नाम के सिक्के ढलवाये और खुतबा पढ़वाया। बंगाल में जिस छोटी-सी सेना को हुमायूँ छोड़ आया था, उसे परास्त कर उसने बंगाल पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार चौसा के युद्ध के बाद शेरशाह बंगाल व बिहार का शासक बन गया। उसके पश्चात् 17 मई, 1540 ई. को कन्नौज या बिलग्राम के युद्ध में शेरशाह ने फिर हुमायूँ को पराजित किया और उसे दर-दर की ठोकरे खाने के लिए छोड़ दिया। कन्नौज के बाद आगरा, दिल्ली, सम्भल, ग्वालियर, लाहौर आदि सभी स्थानों पर शेरशाह ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया और हुमायूँ को हिन्दुस्तान से बाहर निकालने के लिए एक सेना भेज दी और इस प्रकार मुगलों को भारत से बाहर निकालकर वह दिल्ली का सम्राट बन बैठा।

हिन्दुस्तान का बादशाह (१५४०— १५४५ ई.)

हुमायूँ का पीछा किया जाना

दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार करने के पश्चात् शेरशाह का प्रमुख कार्य हुमायूँ को भारत से बाहर निकालना तथा उत्तर पश्चिम से मुगलों के पुनः प्रवेश को असम्भव बनाना था। शेरशाह ने ख्वास ख़ाँ को हुमायूँ का पीछा करने के लिए नियुक्त किया। जब हुमायूँ आगरा होता हुआ लाहौर पहुँचा तो उसका पीछा करता हुआ ख्वास ख़ाँ भी सुल्तानपुर जा पहुँचा। जब अक्टूबर, 1540 ई. के तीसरे सप्ताह में वह सुल्तानपुर के समीप नदी काक पार कर लाहौर की तरफ बढ़ा, तो हुमायूँ को सिन्ध की ओर भागना पड़ा। इस समय तक शेरशाह भी लाहौर पहुँच गया और फिर हुमायूँ का पीछा करता खुषाब तक गया। यहाँ से दो दल एक ख्वास ख़ाँ के नेतृत्व में और दूसरा कुतुबख़ाँ के नेतृत्व में हुमायूँ का पीछा करने और हिन्दुस्तान की सीमा से उसे बाहर निकालने के लिए रवाना किये। ख्वास ख़ाँ के दल पंचनद नदी तक हुमायूँ का पीछा किया इस प्रकार उसे हिन्दुस्तान की सीमा से बाहर खदेड़ दिया। शेरशाह जब हुमायूँ की ओर से निश्चिन्त हो गया, तब उत्तर-पश्चिम सीमा के गक्खर प्रदेश को जीतने के लिए दिया।

गक़्खर प्रदेश की विजय (१५४१ ई.)

पेरषाह का उद्देश्य बोलन दरें और पेशावर से आने वाले मार्गों को मुगलों के आक्रमण से सुरक्षित करना था। अतः झेलम और सिन्धु नदी के उत्तर में स्थित गक़्खर प्रदेश पर अधिकार करना आवश्यक था क्योंकि इसकी स्थिति बड़ी ही महत्वपूर्ण थी। पेरषाह ने गक़्खर सरदारों पर चढ़ाई की और उनके प्रदेश को बुरी तरह रौंद डाला, परन्तु उनकी शक्ति को समाप्त न कर सका। अनेक गक़्खर सरदार इसके बाद

भी पेरषाह का विरोध करते रहे। पेरषाह ने वहाँ रोहतासगढ़ नामक एक विषाल दुर्ग बनाया, जिससे उत्तरी सीमा की रक्षा और गक़्खरों की रोकथाम कर सका। हैबतखाँ और खवास खाँ के नेतृत्व में 50,000 अफगान सैनिकों की एक शक्तिशाली सेना वहाँ तैनात की। यहीं से पेरषाह ने काँची नामक एक भागे हुए राजकुमार की सहायता करके कश्मीर के शासक मिर्जा हैदर को गद्दी से हटाने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली। इसी समय उसे बंगाल के गवर्नर खिज़्र खाँ के विद्रोह की सूचना मिली, तो गक़्खरों को नियन्त्रण में लाने का कार्य अपने सरदारों पर छोड़कर पेरषाह मार्च, 1541 ई. में बंगाल की ओर चल पड़ा।

बंगाल में नयी व्यवस्था (१५४१ ई.)

पेरषाह की एक वर्ष से ज्यादा अनुपस्थिति का लाभ उठाकर बंगाल का गवर्नर खिज़्र खाँ स्वतन्त्र शासक बनने के स्वप्न देखने लगा। उसने बंगाल के मृत सुल्तान महमूद की लड़की से शादी कर ली और एक स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार करने लगा। पेरषाह शीघ्रता से बंगाल गया और गौड़ पहुँचकर उसने खिज़्र खाँ को कैद कर लिया। भविष्य में इस प्रकार के उपद्रव से बचने के लिए उसने वहाँ गवर्नर का पद समाप्त कर दिया और बंगाल का एक नये ढंग से शासन प्रबन्ध किया। उसने बंगाल प्रान्त को कई पसरकारी (जिलों में विभक्त कर दिया और प्रत्येक सरकार में एक पधिकदार की नियुक्ति की, जो अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखता था। इन पिकदारों की नियुक्ति बादशाह ही करता था और वे सब उसी के प्रति उत्तरदायी थे। इन पिकदारों के काम की देखभाल करने और उनके आपसी झगड़ों को निबटाने के लिए काजी फजीलत नामक एक असैनिक अधिकारी को प्रान्त का मुख भी नियुक्त कर दिया। जैसा कि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का कहना है कि इस व्यवस्था ने प्रान्तीय शासन के सैनिक स्वरूप को एकदम बदल दिया और पुरानी व्यवस्था के स्थान पर एक नवीन शासन तंत्र की स्थापना कर दी, जो सिद्धान्त के रूप से मौलिक और कार्य की दृष्टि से सुगम एवं सुविधाजनक थी।

मालवा की विजय (१५४२ ई.)

गुजरात के शासक बहादुरशाह की मृत्यु के बाद 1537 ई. में मल्लूखों में प्हादिरशाह की उपाधि धारण कर स्वतन्त्र बन बैठा था। माण्डू, सारंगपुर उज्जैन और रणथम्भौर के मजबूत किले उसके अधिकार में थे। मल्लूखों द्वारा 1540 ई. में पेरषाह के पुत्र कुतुबखों की अस्करी एवं हिन्दाल के विरुद्ध कालपी के

युद्ध में उसके द्वारा सहायता न करने के कारण पेरषाह मल्लूखों से नाराज था। उसने पेरषाह के आधिपत्य को भी मानने से इन्कार कर दिया था। फिर पेरषाह के लिए अपने राज्य

की सुरक्षा और एकता के लिए मालवा के ऊपर अधिकार रखना आवश्यक था। इन कारणों से षेरषाह मालवा पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ा। मार्ग में उसने ग्वालियर के किले को अपने आधिपत्य में किया। कादिरषाह डर गया और जब षेरषाह सारंगपुर पहुँचा उसने सारंगपुर आकर आकर षेरषाह को आत्म-समर्पण कर दिया। षेरषाह ने मालवा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और कादिरषाह को लखनौती का गवर्नर नियुक्त कर दिया। लेकिन वह षेरषाह से संपर्कित होकर अपने परिवार के साथ गुजरात के शासक महमूद तृतीय के पास भाग गया। षेरषाह ने षुजातखों को मालवा का गवर्नर नियुक्त किया और स्वयं रास्ते में रणथम्भौर के किलेदार को दुर्ग उसके हाथ में सौंप देने के लिए राजी करते हुए आगरा पहुँच गया। इस तरह ग्वालियर, माण्डू, सारंगपुर रणथम्भौर आदि स्थान षेरषाह के अधिकार में आ गये।

रायसीन की विजय (१५४३ ई.)

मालवा को जीतने के बाद उसकी दृष्टि रायसीन पर पड़ी जहाँ पर हिन्दू शासक पूरनमल शासन कर रहा था। उसके बारे में कहा गया था कि जब उसने चन्देरी को विजय किया था तब वहाँ मुसलमानों पर इतने अत्याचार किये थे कि सम्मानित मुस्लिम परिवारों की स्त्रियों को नाचने-गाने का पेशा करना पड़ा था। डॉ. के. आर. कानूनगों के अनुसार षेरषाह का रायसीन पर आक्रमण करने का कारण धार्मिक न होकर राजनीतिक था। पूरनमल के आधिपत्य में रायसीन और चन्देरी जैसे शक्तिशाली किले छोड़ना षेरषाह के लिए खतरनाक हो सकते थे। धार्मिक और राजनीतिक कारणों के अतिरिक्त षेरषाह की निगाहें रायसीन राज्य की सम्पत्ति पर भी थी। 1543 ई. में षेरषाह आगरा से माण्डू होता हुआ रायसीन पहुँचा और उसे घेर लिया। कई महीने तक किले का घेरा चलता रहा, परन्तु षेरषाह को सफलता नहीं मिली। आखिर में षेरषाह ने चालाकी से काम लिया। उसने कुरान पर हाथ रखकर जब पूरनमल और उसके आदमियों की आज्ञा दी। इन्हीं में से बारूद का एक गोला किले की दीवार से टकराकर वापस आ गया और गोला-बारूद के ढेर से आकर गिरा। जिससे उसमें आग लग गयी। षेरषाह पास ही खड़ा था अतः वह बुरी तरह झुलस गया। किन्तु षेरषाह ने आक्रमण को जारी रखने का आदेश दिया। अफगानों का आक्रमण सफल रहा और शाम तक किले पर अधिकार कर लिया गया। जब इस विजय की सूचना षेरषाह को दी गई, तो उसे बड़ा सन्तोश हुआ, परन्तु उसके बाद 22 मई, 1545 ई. को ही षेरषाह की मृत्यु हो गयी।

अपनी मृत्यु के समय तक षेरषाह ने लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अधिकार कर लिया था। एक छोटे से जागीरदार के लड़के की स्थिति से उठकर हिन्दुस्तान के सम्राट के पद तक पहुँचना षेरषाह की सबसे बड़ी सफलता थी। परन्तु षेरषाह की योग्यता इससे भी अधिक थी। वह एक महान शासन – प्रबन्धक भी था, जिसके कारण मध्य युग के श्रेष्ठ शासकों में उसकी गिनती होती है।

षेरषाह का शासन प्रबन्ध

षेरषाह की शासन पद्धति के वास्तविक रूप के विषय में काफी मतभेद हैं। पहले यह कहा जाता था कि षेरषाह सामान्य शासन सम्बन्धी योग्यता रखने वाला एक सिपाही था। डॉ. के. आर. कानूनगों ने अपना यह मत निर्धारित किया है कि वह अकबर महान् से अधिक रचनात्मक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति और उससे बड़ा राष्ट्र-निर्माता था। जबकि डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी तथा डॉ. परमात्मा सरन के अनुसार षेरषाह केवल एक सुधारक और किसी नवीन

भारत का इतिहास

पद्धति को प्रचलित करने वाला नहीं था। उनके अनुसार षेरषाह सफलताओं को इतना अधिक महत्व दिया गया है जिनका यह वास्तव में अधिकारीनही है। इतिहास के विद्वानों और विद्यार्थियों के पूर्व मान्यता प्राप्त मत अब इसी सुनिश्चित तथ्य पर आ गये हैं कि षेरषाह मध्यकालीन भारत के महान् षासन संस्थाओं में नवीन सुधार— संस्कार कर उन्हें लोक—कल्याण का महत्वपूर्ण साधन बना दिया।

अबुल फजल ने लिखा है कि षेरषाह ने अलाउद्दीन खिलजी की कुछ योजनाएँ जारी की थी और इनका वर्णन उसने तारीख—ए—फिरोजषाही में पढ़ा था। परन्तु इस विषय में क्रूक का मूल्यांकन अधिक ठीक है। उसके अनुसार वह पहला मुसलमान बादषाह था जिसने अपनी रियाया की भलाई के लिए षासन करना चाहिए, भूमि— कर उचित आधार पर निश्चित होना चाहिए और देश के आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना चाहिए। षेरषाह ने मुसलमानी कानूनी को नरम बनाया और न्याय का प्रबन्ध किया। केवल पाँच वर्ष के समय में उसने इतने सुधार किये जिससे पता चलता है कि षासन करने के लिए उससे बड़ी योग्यता थी। कौन लिखता है कि षकिसी भी सरकार ने, यहाँ तक कि ब्रिटिश सरकार ने भी इस पठान षसक की भाँति अपनी बुद्धि का परिचय नहीं दिया था।¹⁸

केन्द्रीय षासन प्रबन्ध

दिल्ली सल्तनत के षासकों की भाँति षेरषाह भी एक निरंकुष षासक था और उसकी षक्ति एवं सत्ता अपरिमित थी। षासन नीति और दीवानी तथा फौजदारी मामलों के संचालन की षक्तियाँ उसी के हाथों में केन्द्रित थीं। उसने अपने प्रषासनिक कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए निम्न विभागों में विभिन्न अधिकारियों की अधीनता में बाँट रखा था

दीवाने वजारत— इस विभाग का मंत्री वजीर कहलाता था और वित्त और लगान सम्बन्धी कार्य करता था। साम्राज्य की आय और व्यय सम्बन्धी प्रबन्ध उसी की देखरेख में होता था। वह सामान्य रूप से अन्य विभागों का निरीक्षण भी कर सकता था। मालगुजारी विभाग की कार्य—पद्धति से पूर्णरूपेण परिचित होने के कारण षेरषाह इस विभाग के कामों में विशेष दिलचस्पी लेता था।

दीवाने — आरिज — यह विभाग आरिजे मुमालिक के अधीन था। सेना का अनुषासन, प्रबन्ध और भर्ती का कार्य उसी के सुपुर्द था। सेना में वेतन वितरण का प्रबन्ध भी उसे ही करना पड़ता था। सैनिक कार्यों में व्यक्तिगत रुचि होने के कारण षेरषाह इस विभाग में बहुत अधिक हस्तक्षेप करता था।

दीवाने रसालात यह विदेश मंत्री के अधीन था। विदेशों से आने और जाने वाले राजदूतों और राज— प्रतिनिधि मण्डलों से सम्पर्क स्थापित करना इसका प्रमुख कर्तव्य था। कूटनीतिक पत्र व्यवहार भी इसे ही सम्भालना होता था।

दीवाने — इंषा — इस विभाग के मंत्री को षाही घोषणा—पत्र और संदेश लिखने के कार्य करना पड़ता था। गवर्नरों तथा स्थानीय अधिकारियों से पत्र—व्यवहार करना तथा सरकारी रिकार्ड को संभाल कर रखने का कार्य भी इसी का था।

इसके अतिरिक्त दीवाने —कजा और दरोगा ए डाक—चौकी के विभाग भी थे। दीवाने कजा मुख्य काजी के अधीन था जिसका कार्य अभियोगों की सुनवाई तथा निर्णय देना था।

दरोगा-ए-डाक-चौकी राज्य का गुप्तचर विभाग था, जो राज्य में घटित होने वाली महत्वपूर्ण घटना का समाचार पासक तक पहुँचाता था। डाक व्यवस्था की देखभाल भी यही विभाग करता था। इसके अतिरिक्त बादशाह के महलों तथा नौकर-चाकरों की व्यवस्था के लिए एक अलग अधिकारी रहता था।

प्रान्तीय शासन प्रबन्ध

शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए शेरशाह ने साम्राज्य को अनेक भागों में बाँट रखा था। शेरशाह के प्रान्तीय शासन के विषय में डॉ. कानूनगों का कहना है कि उस समय राज्य में सरकार सबसे बड़ा खण्ड कहलाता था तथा प्रान्त अकबर महान के अविशकार थे। किन्तु डॉ. परमात्मा सरन के अनुसार प्रान्त अकबर से पहले भी विद्यमान थे और यह कहना गलत है कि प्रशासन के लिए सरकार एक सबसे बड़ा खण्ड था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने इनके बीच का मत स्थापित करते हुए लिखा है कि सरकार ऐसे प्रशासकीय खण्ड थे जो कि प्रान्तों से मिलते-जुलते थे और जो इत्ता कहलाते थे और प्रमुख अधिकारियों के अधीन थे। शेरशाह के समय में फौजी गवर्नरों की नियुक्तियाँ भी होती थी। फिर भी शेरशाह के प्रान्तीय प्रशासन का विवरण स्पष्ट नहीं है।

सरकारें

प्रान्त सरकारों में बँटे हुए थे। अब्बास खाँ सरवानी के अनुसार शेरशाह की सल्तनत में 66 सरकारें थी। प्रत्येक सरकार में दो प्रमुख अधिकारी थे— शिकदार-ए-शिकंदारान और मुन्सिफ-ए-मुन्सिफान। शिकदारान सरकार के प्रशासन का अध्यक्ष होता था तथा विभिन्न परगनों के शिकदारों पर प्रशासनिक अधिकारी होता था और उनके कार्यों का निरीक्षण करता था। अपनी सरकार में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करना तथा विद्रोही जमींदारों का दमन करना उसका कर्तव्य था। मुन्सिफ-ए-मुन्सिफान मुख्यतया एक राजस्व अधिकारी था। अपने अन्तर्गत सरकार में राजस्व की वसूली करवाना, दीवानी मुकदमों का फैसला करना और अपने अधीन मुन्सिफों के कार्यों की देखभाल करना उसके कर्तव्य थे।

परगने

प्रत्येक सरकार में कई परगने होते थे। शेरशाह ने प्रत्येक में एक शिकदार, एक अमीन (मुन्सिफ), एक फोतदार (खजांची) और दो कारकून (लिपिक) नियुक्त किये गये थे। शिकदार के साथ एक सैनिक दस्ता होता था और परगने में शान्ति स्थापित रखना उसका कर्तव्य था। मुन्सिफ का कार्य दीवानी मुकदमों का फैसला करना और भूमि की नाप एवं लगान व्यवस्था की देखभाल करना था। इनके अतिरिक्त एक कानूनगो भी होता था, जो अर्द्ध-सरकारी अधिकारी माना जाता था और परगने के लगान सम्बन्धी मामलों की पूरी-पूरी जानकारी रखता था। कारकूनों का मुख्य कार्य राजस्व का लेखा-जोखा रखना होता था। एक हिन्दी में और दूसरा फारसी में हिसाब-किताब रखता था जब कि फोतदार परगने का खजांची होता था।

गाँवशासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थी। सरकार की ओर से वहाँ कोई अधिकारी नियुक्त नहीं किया जाता था, परन्तु गाँव के मुकद्दम (मुखिया), पटवारी, चौकीदार आदि को सरकार स्वीकार करती थी और शासन में इनसे सहायता लेती थी। गाँव में शान्ति और व्यवस्था की

भारत का इतिहास

रक्षा का उत्तरदायित्व मुकदम पर था। वह अपराधियों का पता लगाता था। षेरषाह ने स्थानीय उत्तरदायित्व को महत्व दिया था। वह जानता था कि जो भी चोरी-डकैती होती हैं, उसमें स्थानीय अधिकारियों का हाथ होता है। अतः मुकदम अपराधियों को पकड़ने में असफल रहता तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। मुकदम के अतिरिक्त पटवारी और चौकीदार भी होते थे। पटवारी भूमिकर का लेख रखता था तथा चौकीदार उसकी सहायता करता था। वयस्क और बुजुर्ग लोगों की गाँव में एक पंचायत भी होती थी जो गाँव की व्यवस्था के साथ गाँव के आपसी झगड़े भी निपटाती थी।

भू-राजस्व व्यवस्था

मालगुजारी की व्यवस्था षेरषाह का सबसे प्रमुख कार्य माना जाता है। अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध करते समय उसने भू-सम्बन्धी समस्याओं की अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली थी। यही कारण था कि शासन बनने पर वह एक श्रेष्ठ भूमि-कर व्यवस्था स्थापित कर सका। इस व्यवस्था की तीन विशेषताएँ थीं। प्रथम, षेरषाह ने सदैव के लिए निर्णय कर लिया था कि मालगुजारी की दर को खेत की वास्तविक नाप पर आधारित होना चाहिए। दूसरा, प्रमुख फसलों पर मालगुजारी यथासम्भव नकद वसूल की जाती थी। तथा तृतीय, भूमि की नाप के लिए सल्तनत भर में एक ही मापदण्ड नियत हुआ।

षेरषाह ने प्रत्येक गाँव में खेती योग्य भूमि की पैमाइश करवायी जिसमें भूमि की उर्वरा शक्ति के आधार पर तीन श्रेणियाँ बनायी गयी उत्तम, मध्यम और निम्न तीनों श्रेणियों की उपज को जोड़कर और तीन से भाग देकर प्रति बीघा जमीन की औसत पैदावार निकाल ली जाती थी। इस औसत उपज का एक तिहाई भाग सरकारी हिस्से के रूप में किसान से तलब किया गया। नकद की रकम पड़ौसी बाजारों में चालू भाव के आधार पर कूती गई। सरकार प्रत्येक किसान को पटा देती थी, जिसमें किसान की भूमि का क्षेत्रफल भूमि का प्रकार और किसान द्वारा अदा किया जाने वाला लगान दर्ज रहता था। प्रत्येक किसान को बदले में एक कबूलियत पर हस्ताक्षर करते पड़ते थे जिसके अन्तर्गत उसे निर्धारित लगान देने की स्वीकृति देनी पड़ती थी।

लगान निश्चित करने की उस समय तीन प्रणालियाँ थी— (1) गल्ला बक्सी अथवा बँटाई, (2) नरक या कनकूत, तथा (3) नकद अथवा जब्ती। गल्ला बक्सी अथवा बँटाई का अभिप्राय पैदावार का किसान के साथ हिस्सा-बाँट से था। यह बँटाई से तात्पर्य खड़ी फसल को बाँटना एवं लाँक बँटाई से खलिहान में पड़ी फसल को बाँटने से था जबकि रास बँटाई में खलिहान में अनाज में से भूसा अलग निकालने के बाद अनाज का हिस्सा लेने से था। नष्क अथवा कनकूत से मतलब भूमि की मोटे तौर पर पैदावार आँकने से था, जबकि नकदी अथवा जब्ती से आशय किसान और सरकार के बीच उस समझौते से था जिसके अनुसार तीन वर्ष या उससे अधिक समय तक प्रति बीघा प्रति वर्ष के हिसाब से लगान निश्चित हो जाता था, चाहे खेत में कितनी ही पैदावार हो अथवा न हो। इन तीनों प्रणालियों में से किसान बँटाई प्रणाली को ही ज्यादा पसन्द करता था।

षेरषाह किसानों की भलाई का पूरा-पूरा ध्यान रखता था उसका विश्वास था कि किसानों का हित-साधन करने से सरकार को सदैव लाभ पहुँचता है। षेरषाह आज्ञानुसार राजस्व निर्णय के समय किसानों से सदैव नम्रता का व्यवहार किया जाता था, परन्तु मालगुजारी संग्रह करने के समय नहीं। षेरषाह नेयह आज्ञा भी दी थी कि सेना कूच करते समय किसानों की फसल को किसी भी प्रकार नष्ट न करे। यदि किसी किसान की फसल को हानि पहुँचती थी तो सरकार उसकी क्षति पूर्ति करती थी। जो लोक कृशकों को सताते थे, षेरषाह उन्हें कठोर दण्ड देने से भी नहीं चूकता था।

लगान के अलावा किसानों से दो-तीन कर और लिये जाते थे। लगान के अतिरिक्त सरकार किसान से जमीन का सर्वे करने वालों का मेहनताना और कर वसूल करने वालों का मेहनताना भी वसूल करती थी। ये अतिरिक्त कर जो जरीवाना (सर्वे करने वालों की फीस) और महासिलाना (कर एकत्र करने वालों की फीस) कहलाते थे, प्रत्येक को अदा किये हुए लगान पर 2.5रु से 5 तक देने पड़ते थे। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण लगान पर 2.5रु कर अनाज या नकद के रूप में और देना पड़ता था जो एक प्रकार के खाते में जमा होता था जिसमें से दुर्भिक्ष या किसी अन्य प्राकृतिक प्रकोप की दशा में जनता को सहायता मिलती थी। किसानों को यह सुविधा थी कि वे अपना लगान नकद या जिन्स के रूप में दे सकते हैं लेकिन सरकार नकद के रूप में लेना ज्यादा पसन्द करती थी।

षेरषाह की उपर्युक्त लगान व्यवस्था में अनेक दोश भी थे। प्रथम, औसत उपज पर लगान वसूल करने से तीसरी श्रेणी की भूमि के मालिक किसानों को उत्तम भूमि के मालिक किसानों की तुलना में अधिक लगान देना पड़ता था। द्वितीय पैदावार के एक तिहाई हिस्से के अलावा किसानों को अन्य अनेक कर देने पड़ते थे जिससे किसानों का जीवन कष्टमय हो जाता था। तृतीय, सरकारी मालगुजारी की नकद रकम सही सूचना के पश्चात् सही पूछताछ, फिर तुरन्त सरकार को खबर पहुँचाने और वहाँ से हुक्म जारी होने पर निश्चित होती थी। इस प्रकार लगान वसूली में बहुत देर हो जाती थी और बीच में बहुत-सी भूलें

भी हो जाती थी। चतुर्थ, जागीरदारी प्रथा को षेरषाह पूर्ण रूप से समाप्त नहीं कर पाया था, इस कारण जागीरदारी भूमि में निवास करने वाले किसानों को षेरषाह की व्यवस्था से कोई लाभ नहीं पहुँचा था। पंचम षेरषाह अपने कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को नहीं रोक सका था। उन्हें बहुत लाभ होता था। इसलिए प्रति वर्ष वह परगने के अधिकारियों का स्थानान्तरण कर देता था। उन सब दोशों के बावजूद षेरषाह की लगान व्यवस्था पूर्व प्रचलित व्यवस्थाओं से अच्छी थी। यह पहला अवसर था, जब शासक ने किसानों की भलाई और उन्नति का ध्यान रखा था और प्रत्येक किसान और सरकार के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित करने की व्यवस्था की थी।

न्याय व्यवस्था

षेरषाह एक न्यायप्रिय शासन था। उसकी न्याय व्यवस्था उच्च आदर्शों पर अवलम्बित थी। वह कहा करता था कि न्याय करना सभी धार्मिक क्रियाओं में सर्वोत्तम है। इस बात को मुसलमान और काफिर दोनों के बादशाह मानते हैं। ८ गरीब और कमजोर लोगों को अनाचार व अन्याय से बचाने में षेरषाह विशेष रुचि लेता था। उसने अत्याचारियों का कभी पक्ष नहीं लिया, चाहे वे उसके रिश्तेदार हो, प्रिय पुत्र हों या उसके प्रसिद्ध सरदार हों। अत्याचारियों को दण्ड देने में वह न देर करता था और न दया।— अपराध की गम्भीरता

भारत का इतिहास

के अनुसार कैद, कोड़े हाथ-पैर काटना, सूली, जुर्माना, फाँसी आदि दण्ड दिये जाते थे। कभी-कभी चोरी और घूस के अपराध पर भी प्राण- दण्ड दिया जाता था। पेरषाह के न्याय का आदर्श था इंसान से ईमान का बर्ताव। वह अपने राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश था और प्रत्येक बुधवार की शाम को उसकी कचहरी लगती थी। उसके नीचे प्रमुख काजी होता था जो न्याय विभाग का प्रमुख होता था और न्याय-व्यवस्था की जिम्मेदारी इसी पर थी। प्रत्येक प्रमुख नगर में काजी होते थे। प्रत्येक सरकार में मुख्य शिकदार फौजदारी मुकदमों तथा मुख्य मुन्सिफ दीवानी मुकदमों की सुनवाई करते थे। परगनों में यह कार्य अमीन करते थे। निजामुद्दीन अहमद लिखता है कि पेरषाह के शासनकाल में कोई भी सौदागार रेगिस्तान में यात्रा करते हुए सो सकता था और लुटेरे द्वारा उसके सामान के लुटे जाने का उसे कोई भय नहीं होता था। पेरषाह के भय और उसको न्यायप्रियता के कारण चोर और डाकू व्यापारियों के माल की रखवाली तक करते थे।

पुलिस प्रशासन

पेरषाह के शासनकाल में सेना ही पुलिस का कार्य करती थी। विदेशी आक्रमण तथा आन्तरिक विद्रोह से देश की रक्षा करना प्रजा के बीच शान्ति स्थापित करने का कार्य सेना को ही करने पड़ते थे। सरकार में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना मुख्य शिकदार का कर्तव्य था। परगने में यह कार्य शिकदार करता था। इन अफसरों को अपने-अपने क्षेत्रों में चोरों लुटेरों और बदमाशों पर कड़ी नजर रखनी पड़ती थी और अपराधियों को दण्ड देना पड़ता था। जहाँ तक गाँवों का प्रश्न है, पेरषाह ने स्थानीय उत्तरदायित्व की प्रथा को प्रचलित किया था, जिसमें सारी जिम्मेदारी मुकद्दम की थी। अब्बास खाँ सारवानी ने लिखा है, पेरषाह के राज्यकाल में यात्रियों और अन्य मुसाफिरों को पहरा रखने की कोई आवश्यकता नहीं थी और न ही उन्हें रेगिस्तान के बीच लूट लिये जाने का भय था। वे रात्रि में चाहे रेगिस्तान में हो अथवा बस्ती में, प्रत्येक स्थान पर निर्भय होकर पड़ाव डाल देते थे। वे मैदान में अपना सामान और बहुमूल्य वस्तुएँ रखकर अपने खच्चरों को चरने के लिए छोड़ देते थे और निःशंक होकर शान्तिपूर्वक इस प्रकार सो जाया करते थे जैसे कि अपने घर में सोते थे। जमींदार या मुकद्दम इस डर से कि यदि यात्रियों को कोई हानि हुई तो उनको दण्ड दिया जायेगा, स्वयं चौकसी करते थे। पेरषाह के काल में यदि कोई निर्बल और पागल बुढ़िया भी अपने सिर पर सोने के गहनें से भरी टोकरी लेकर यात्रा करती होती तो भी चोर और डाकू पेरषाह द्वारा दिये जाने वाले दण्ड के डर से उसके निकट नहीं आते थे।

सैन्य व्यवस्था

पेरषाह ने सैनिक व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया था। उसने अलाउद्दीन खिलजी की तरह स्थायी सेना रखने की नीति अपनायी। सैनिकों की भर्ती, वेतन की समय पर अदायगी और सैनिकों की तरक्की जैसे मामलों में पेरषाह स्वयं ध्यान देता था। वह उनकी सुविधाओं का ख्याल रखता, उन्हें अपने सामने आने देता और उन्हें सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करता रहता था। घुड़सवारों के घोड़े उसी प्रकार दागे जाते थे जैसे अलाउद्दीन खिलजी के जमाने में। पेरषाह की रीति यह थी कि घोड़ों को दागे बिना वह

उनके आदमियों का वेतन नहीं चुकाता था। इसके अलावा वह प्रत्येक सैनिक का हुलिया लिखवाता था। इस व्यवस्था के कारण अब मरियल घोड़े तथा सैनिकों के निरीक्षण के समय

अन्य व्यक्ति को लाना असम्भव हो गया। सेना को कई भागों से विभाजित कर प्रत्येक भाग एक योग्य सेनापति के अधीन कर दिया गया था। सेना में कठोर अनुशासन रखा जाता था। इन सब सुधारों के कारण सेना में प्रचलित बहुत से दोष दूर

हो गये थे और अब यह एक षक्तिशाली सैनिक संगठन बन गया था। षेरषाह के पास एक अच्छा तोपखाना था। 1,50,000 घुड़सवार, 25,000 पैदल सेना और 500 हाथियों की स्थायी सेना राजधानी में रहने के अलावा प्रमुख प्रमुख स्थानों पर सारे राज्य में सैनिक दस्ते तैनात कर रखे थे। षाही सेना के अतिरिक्त जागीरदारों के भी दस्ते थे। सेना की कुल संख्या चार लाख से कम नहीं होगी। मार्ग और सरायें षेरषाह ने अपने समय में कई सड़कों का निर्माण करवाया और पुरानी सड़कों की मरम्मत करवाई ताकि राज्य के विभिन्न भागों का सम्बन्ध राजधानी से जुड़ सके। उसके द्वारा बनायी गयी चार सड़के प्रसिद्ध थी। एक पूर्वी बंगाल के सोनार गाँव से लेकर आगरा, दिल्ली, लाहौर होती हुई पंजाब तक जाती थी। दूसरी सड़क आगरा से बुरहानपुर, तीसरी आगरा से जोधपुर और चित्तौड़ तक और चौथी लाहौर से मुल्तान तक जाती थी। सड़कों के दोनों ओर छायादार और फलों के वृक्ष लगवाये गये थे। षेरषाह ने इस सभी सड़को पर प्रायः दो-दो कोस की दूरी पर सरायें बनवाई थी। विभिन्न मार्गों पर सब मिलाकर 1700 सरायें थी जहाँ हिन्दू और मुस्लिम यात्रियों के ठहरने के लिए अलग-अलग प्रबन्ध किया गया था। यात्रियों के लिए बिस्तर, भोज्य सामग्री और पके भोजन का प्रबन्ध था और घोड़ों तथा मवेशियों के लिए दाने तथा घास की सुविधा थी। इनके व्यय के लिए सरायों के आसपास की भूमि सराय के नाम से कर दी गयी थी। डॉ. कानूनगों के षब्दों में, षे सरायें साम्राज्यरूपी षरीर की धमनियाँ थी और ये सराये व सड़कें षेरषाह के षासन की सफलता के लिए इसलिए भी आवष्यक थी क्योंकि प्रायः अधिकारियों का स्थान परिवर्तन, व्यवसाय संचालन और सैन्य दलों का निरन्तर आना जाना बना रहता था। इसके अलावा ये सरायें डाक विभाग अथवा डाक-चौकियों का काम भी करती थी।

गुप्तचर एवं डाक विभाग

षेरषाह ने डाक-चौकी और गुप्तचर विभाग का संगठन कर उसे दरोगा ए डाक-चौकी के अधीन रखा। उसके अन्तर्गत अनेक समाचार लेखक थे जो साम्राज्य के प्रत्येक भाग से प्राप्त समाचारों का संकलन करते थे। प्रत्येक सराय पर संवाददाताओं के लिए दो घोड़े रखे जाते थे। इस प्रकार सब सरायों से मिलाकर देश के प्रत्येक भाग से नित्य खबर पहुँचाने के लिए 3400 घोड़े नियत थे। प्रजा की रक्षा के लिए वह अपने अमीरों की प्रत्येक टुकड़ी के साथ विश्वासपात्र गुप्तचर भेजा करता था। इसके अलावा समस्त प्रमुख नगरों में गुप्तचर नियुक्त थे जो सरदारों, उनके सैनिकों तथा जनता से गुप्त रूप से समाचार पाकर उसे षेरषाह के पास भेजते थे। यह विभाग ऐसी कुषलता से कार्य करता था कि उस क्षेत्र में रहने वाले लोगो की घटना का पता लगने से पहले ही षहंषाह को उसका पता चल जाता था। षेरषाह की षासन व्यवस्था की सफलता काफी हद तक उसकी गुप्तचर प्रणाली पर निर्भर थी। यापार-वाणिज्य षेरषाह ने स्थान-स्थान पर लिये जाने वाले करों को समाप्त कर व्यापार को गति दी। षेरषाह ने अपने सूबेदारों और आमिलों को हिदायत दे रखी थी कि प्रजा को इस बात पर विवष किया जाय कि यात्री और व्यापारियों के साथ सब भाँति अच्छा व्यवहार हो और उनको किसी प्रकार की हानि न पहुँचे और यदि किसी यात्री की मार्ग में मृत्यु हो जाय तो उसके माल पर कोई हाथ न डाले और यह न समझे कि वह लावारिस है। उसके राज्य में व्यापारी माल पर केवल दो जगह ही कर लिये जाते थे। विदेश से माल आने पर

भारत का इतिहास

प्रवेश द्वार पर और दूसरा बिक्री के स्थान पर किसी का साहस नहीं था कि इसके अतिरिक्त मार्ग, पर नाव घाट पर, गाँवों में या कस्बे में और कोई कर वसूल कर सके। इसके अतिरिक्त षेरषाह ने अपने राज्य कर्मचारियों को कठोर निर्देश दे रखा था कि जो चीज खरीदी जाय, वह बाजार भाव से ही खरीदी जाय।

षेरषाह की पुलिस व्यवस्था, सड़कों और सरायों की व्यवस्था, व्यापारियों की सम्पत्ति की सुरक्षा और अच्छे सिक्कों के प्रचलन ने व्यापार को खूब प्रोत्साहन दिया। सबसे बड़ा सुधार तो यह हुआ कि

षेरषाह ने सल्तनत के सब सूबों के मध्य निर्बाध व्यापार की अनुमति दे दी। डॉ. कानूनगों के अनुसार षेरषाह की अस व्यवस्था से उत्तर भारत का मृत प्राय व्यापार पुनर्जीवित हो गया। मुद्रा व्यवस्था षेरषाह के सुधारों में मुद्रा सम्बन्धी सुधारों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उसने पुराने और विसे हुए पुराने षासकों के प्रचलित सिक्के बन्द करके उसके स्थान पर सोने, चाँदी और ताँबे के नये सिक्के चलाये और उनका अनुपात निश्चित किया। उसके चाँदी के रुपये का वजन 180 ग्रेन था जिसमें 175 ग्रेन शुद्ध चाँदी होती थी। सोने के सिक्के 166.4 ग्रेन और 168.5 ग्रेन के ढाले गले थे। ताँबे का सिक्का दाम कहलाता था। सिक्कों पर षेरषाह का नाम, उसकी पदवी और टकसाल का स्थान अरबी लिपि में और कुछ सिक्कों पर देवनागरी लिपि में अंकित रहता था। मुद्रा सम्बन्धी इन सुधारों से व्यापारी वर्ग की अनेक असुविधाएँ दूर हो गयी। इसलिए ये सुधार बड़े लाभदायक और सुविधाजनक सिद्ध हुए। डॉ. वी. ए. स्मिथ के अनुसार षेरषाह को ऐसी सुधारी हुई मुद्रा-पद्धति को स्थापित करने का सम्मान प्राप्त है जो मुगलकाल में चलती रही और इष्ट इण्डिया कम्पनी के समय में 1835 ई. तक बनी रही और जो वर्तमान अंग्रेजी मुद्रा का आधार है। दान पुण्य एवं इमारतें षेरषाह एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति था। अंधों, बूढ़ों, अपाहिजों, विधवाओं, विद्यार्थियों और विद्वानों की परवरिश के लिए उसने उदारतापूर्वक प्रबन्ध किया। याहँ तक की षाही रसोई से सिपाही या फकीर या किसान को भोजन की आवश्यकता होती थी, मिल जाता था जिससे भोजनालय पर प्रति दिन 500 अषर्फियाँ खर्च होती थी। उसकी यह नीति रही कि प्रत्येक योग्य व्यक्ति को कुछ सहायता अवश्य मिले।

षेरषाह को इमारतें बनवाने का भी शौक था। उत्तर-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा के लिए उसने झेलम पर षोहतासगढ़ नामक एक विषाल और षानदार दुर्ग बनावाया। षेरषाह कहा करता था कि ष्यदि मै दीर्घ काल तक जीवित रहा तो प्रत्येक सरकार में उपयुक्त स्थान पर ऐसा दुर्ग बनवा दूँगा, जहाँ संकट के समय उत्पीड़ित लोग षरण ले सकें और जिससे दुश्टों पर रोक लग सकोह दिल्ली का पुराना किला षेरषाह का बनवाया हुआ ही माना जाता है। इसी किले में उसने एक ऊँची मस्जिद का निर्माण करवाया जो भारतीय और इस्लामी कला का मिला जुला एक अच्छा उदाहरण है। परन्तु षेरषाह की सर्वश्रेष्ठ कृति उसका सहसराम (बिहार) में स्थित स्वयं का मकबरा है। डॉ. कानूनागों ने लिखा है कि वह प्रत्यक्ष में इस्लामी होते हुए भी हिन्दुत्व से युक्त है। कनिंघम ने तो दबी जबाने से इसको ताजमहल से भी अधिक पसन्द किया है, झील के बीचोबीच एक चबूतरे पर बना हुआ षेरषाह का यह मकबरा निःसन्देह भारत की श्रेष्ठतम इमारतों में से एक है और ऐश्वर्य तथा स्वरूप की दृष्टि से यह पुरानी इमारतों में अनुपम है। धार्मिक नीति षेरषाह की हिन्दुओं के प्रति क्या नीति थी? इसके बारे में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. एस. आर. षर्मा के अनुसार षेरषाह के विचार और उसका धार्मिक दृष्टिकोण दिल्ली सल्तनत के तुर्क – अफगान षासकों से भिन्न नहीं था, जबकि

डॉ. कानूनगों ने हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की समझदार नीति अपनाने के लिए षेरषाह की प्रशंसा की है। इसमें कोई दो राय नहीं है। कि षेरषाह ने कई अवसरों पर असहिष्णुता का परिचय दिया। जैसे राजपूत राजाओं के साथ युद्ध उसने षजिहाद^७ घोषित किये, रायसीन के शासक पूरनमल के प्रति उसका दुर्व्यवहार धार्मिक असहिष्णुता का ही परिणाम था। इसी प्रकार जोधपुर के किले में मन्दिर तोड़कर उसने मस्जिद बनवायी थी। इन तथ्यों और मतों से यह समझा जा सकता है कि षेरषाह ने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तो धर्म का सहारा अवश्य लिया था, परन्तु शासन की दृष्टि से उसने धार्मिक कठरता की नीति का अनुसरण नहीं किया। षेरषाह ने न तो दिल्ली सल्तनत के शासकों की भाँति असहिष्णुता का परिचय दिया और न अकबर महान् जैसी उदारता का,

उदारता का, बल्कि उसने मध्य मार्ग का अनुसरण किया। इसीलिए यह मानना ज्यादा उचित होगा कि व्यक्तिगत जीवन में कटर होते हुए भी शासन की दृष्टि से षेरषाह धार्मिक कठरता की नीति में विश्वास नहीं करता था। हिन्दुओं को उसने कभी तंग नहीं किया। जहाँ तक सम्भव होता, वह राजनीति को धर्म से पृथक् ही रखता था। उसने हिन्दुओं के मन्दिर – मूर्तियाँ तोड़ने और उनके विरुद्ध संगठित प्रचार करने का प्रयत्न नहीं किया। षेरषाह के समय में हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाना आरम्भ हो गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि षेरषाह ने अपने समय में एक व्यवस्थित प्रशासन व्यवस्था की स्थापना की। विलियम क्रुकस का कहना है कि पाँच वर्ष के संक्षिप्त शासन काल में इतने विस्तृत सुधार के कारण हमें षेरषाह की प्रशासनिक योग्यता का अद्भुत प्रमाण मिलता है। श्रीराम शर्मा के मतानुसार पद्यपि षेरषाह भी बाबर की तरह दिल्ली के सिंहासन पर केवल 5 वर्ष ही बैठा, फिर भी उसने केवल क्षेत्रीय विरासत के अतिरिक्त कुछ और भी छोड़ा। उसने बिखरे हुए प्रान्तों को संगठित कर केन्द्रीय शक्ति को संगठित और ठोस बनाने का प्रयत्न किया। दूसरे उसने सारे देश की शासन व्यवस्था में एकरूपता और समानता लाने का प्रयास किया।^८ स्मिथ का तो यह मानना है कि यदि षेरषाह अधिक समय तक जीवित रहता तो मुगल भारत के इतिहास में पुनः दिखाई ही नहीं पड़लें। कीन के मतानुसार, षेरष पठान जैसी सुबुद्धि का परिचय किसी अन्य पठान ने तो क्या अंग्रेजों ने भी नहीं दिया।^९

षेरषाह अकबर का पथ—प्रदर्शक

कुछ इतिहासकारों का मानना है कि षेरषाह अकबर का मार्ग—दर्शक था और शासन—प्रबन्ध की दृष्टि से षेरषाह को यह स्थान दिया जा सकता है। उसने एक अच्छा शासन प्रबन्ध स्थापित करके अकबर के शासन की आधारशिला रखी। जिससे अकबर को काफी सहायता प्राप्त हुई। षेरषाह की लगान— व्यवस्था अकबर के लिए मार्ग—दर्शक बनी, जबकि उसी के आधार पर अकबर ने दहसाला बन्दोबस्त लागू किया। षेरषाह की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का ही अनुसरण कर अकबर ने इसे ओर ज्यादा विकसित किया और हिन्दुओं को अपनी तरफ मिलाने में सफलता प्राप्त की। षेरषाह का सैनिक प्रबन्ध, सरदारों पर उसका नियन्त्रण व एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण, उसकी न्याय—व्यवस्था, उसकी प्रजाहित की भावना आदि सभी से अकबर ने लाभ उठाया। षेरषाह के किसानों, व्यापारियों और जन—हित के कार्यों को अकबर ने यथावत् रूप से स्वीकार कर लिया। षेरषाह के द्वारा राजपूतों को हरा कर अधीनता स्वीकार करवाने के बाद उनके राज्य उन्हें वापस करने की नीति का अकबर ने भी अनुसरण किया। यह कहना ज्यादा उचित होगा कि षेरषाह के कार्यों का अनुसरण करते हुए अकबर ने जहाँ आवश्यकता हुई उसमें परिवर्तन किया, सुधार

भारत का इतिहास

किया और उसे श्रेष्ठ बनाया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने ठीक ही लिखा है कि यदि षेरशाह अधिक समय तक जीवित रहता तो वह अकबर से महान् हो जाता। निःसन्देह, दिल्ली के सुल्तानों में वह सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञों में से एक था। निष्चय ही उसने अकबर की उदार नीति के मार्ग का निर्माण किया और वह सही अर्थ में उसका अग्रसर था।

षेरशाह का मूल्यांकन

मध्यकालीन भारत के इतिहास में षेरशाह का अपना एक स्थान है। सैनिक और असैनिक मामलों में षेरशाह ने निःसन्देह अदभुत योग्यता का परिचय दिया। जैसा डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिख है कि षेरशाह के छोटे-से जागीरदार के पुत्र की अवस्था से वह हिन्दुस्तान के सम्राट के पद पर उन्नति कर गया और बड़े विषाल और विस्तृत प्रदेशों को अपने आधिक्य में ले आया। उसने मुगलों को भारत से बाहर खदेड़ दिया और सम्मानित मुगलों का अभिमान चूर-चूर कर दिया। उसने एक विषाल सेना का, जो उसके प्रतिपक्षियों के लिए भयप्रद थी, निर्माण किया। देश में सुशासन व्यवस्था के लिए जिन सुप्रणालियों का प्रतिपादन किया और जिस अथक परिश्रम से उसने राज्य शासन की देखरेख की, वह निःसन्देह प्रशंसनीय है। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, फ़ोर्ड भी इतिहासज्ञ अकबर के पहले के मुस्लिम शासकों के मध्य महानता, बुद्धिमानी और कार्यक्षमता के नाते षेरशाह को सर्वोच्च पद से वंचित नहीं रख सकता।¹⁵

षेरशाह यद्यपि 68 वर्ष की आयु में शासक बना था। उसने कहा भी था कि मुझे अफसोस है कि शक्ति मेरे हाथ में उस समय आई जब मेरा जीवन समाप्त होने वाला था, परन्तु फिर भी उसमें उत्साह और महत्वाकांक्षा असीमित थी। वह प्रतिदिन सोलह घंटे काम करता था। वह एक वीर सैनिक, चतुरसेनानायक और कुशल कूटनीतिज्ञ था। वह केवल विजय प्राप्त करने में विश्वास करता था और उसका मानना था कि अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भले-बुरे सभी साधनों को व्यवहार में लाना उचित है। वह एक सफल शासक था। उसे प्रजा के सुख का पूरा ध्यान था और उसकी भलाई के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करता था। शासन व्यवस्था के पुनर्संगठन भूमि की बंदोबस्त, लगान मुद्रा और व्यापार वाणिज्य में उसके द्वारा किये गये सुधारों के कारण मध्यकाल के महान शासक-प्रबन्धकों में उसकी गणना की जाती।¹ अथक परिश्रम, कर्तव्य परायणता, अनेक सुधार तथा न्याय-प्रियता के कारण षेरशाह का नाम भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। अकबर महान को छोड़कर किसी भी मुस्लिम सम्राट ने इतना अधिक जन कल्याण

का कार्य नहीं किया, जितना षेरशाह ने किया। डॉ. कानूनगों ने तो यहाँ तक लिखा है कि इतिहास में अकबर षेरशाह की अपेक्षा अधिक उच्च स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है। यद्यपि डा. कानूनगों के इस मत को तो स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ऐसा मानना अकबर के साथ अन्याय करना होगा। अकबर निःसन्देह षेरशाह के महान था। फिर भी यह अवश्य माना जा सकता है कि अपनी विजयों व प्रशासनिक व्यवस्था के कारण षेरशाह मध्यकाल के महान् शासकों में से एक था।

षेरशाह की मृत्यु के बाद उसके अधिकांश अमीरों ने उसके दूसरे पुत्र जलाल ख़ाँ का पक्ष लिया और उसे इस्लामशाह के नाम से 27 मई, 1545 ई. को गद्दी पर बैठा दिया। उसने सबसे पहले अपनी सेना को दो मास का वेतन नकद बाँट दिया, जिसमें एक माह का वेतन पुरस्कार स्वरूप दिया गया था। उसने अपने सैनिकों और सरदारों की पदोन्नति की जिससे

वे उसके प्रति स्वामिभक्ति बन जाएँ परन्तु इससे कुछ सरदारों ने नाराज होकर षेरशाह के बड़े पुत्र आदिलख़ाँ को आमन्त्रित कर लिया। आदिलख़ाँ उस समय रणथम्भौर का अधिकारी था। ख्वासख़ाँ और ईसाख़ाँ की सहायता से उसने आगरा पर आक्रमण किया, परन्तु हार कर पन्ना की तरफ भाग गया और उसके पश्चात् उसका नाम भी सुनने को नहीं मिला। ख्वासख़ाँ भागकर कुमायूँ की पहाड़ियों में चला गया। इस प्रकार इस्लामशाह का सिंहासन सुरक्षित हो गया।

इस्लामशाह ने अब उन सभी सरदारों को समाप्त करने का निश्चय किया जिन पर उसे शंका थी। जलालख़ाँ और उसके भाई खुदादख़ाँ को मार दिया गया और अनेक सरदारों को ग्वालियर के किले में ले जाकर उन्हें बारूद से उड़ा दिया गया। इस्लामशाह की इस नीति से सभी पुराने सरदार भयभीत हो गये और आजम हुमायूँ नियाजी के नेतृत्व में उन्होंने विद्रोह कर दिया। परन्तु उन्हें अम्बाला के पास हरा दिया गया। बड़ी संख्या में अमीरों ने भाग कर गक़्खर प्रदेश में शरण ली। इस्लामशाह दो वर्ष तक गक़्खर प्रदेश को बरबाद करता रहा, यद्यपि वह उनको समाप्त न कर सका।

इस्लामशाह ने बाद में मालवा के गवर्नर भुजातख़ाँ के विद्रोह को दबाया तथा कुछ समय बाद ख्वासख़ाँ की हत्या करवा दी। उसने बंगाल के गवर्नर के पद से काजी फजीलत को हटा दिया और उसके स्थान पर महमूद ख़ाँ सूर को नियुक्त किया। अन्य प्रान्तों में भी अपने पिता के समय के गवर्नरों को हटाकर अपने आदमियों को नियुक्त किया। इस प्रकार विद्रोहों को दबाकर और राज्य के बड़े-बड़े सरदारों को दण्डित करके इस्लामशाह ने सुल्तान के सम्मान और शक्ति में वृद्धि की और अफगानों की स्वतन्त्र प्रकृति को पूर्णतया दबा दिया। इस्लामशाह के समय में प्रान्तों और जिले के अधिकारी यहाँ तक कि सुल्तान के जूतों और तरकष तक को अभिवादन करते थे। इस्लामशाह की आज्ञाओं और आदेशों का पूर्णतया पालन किया जाता था। सैनिक संगठन में श्रेणी-प्रणाली का प्रचलन कर उसे और व्यवस्थिति और दृढ़ बनाया जिसमें सबसे छोटी टुकड़ी में 50 बाद में 200, 250, 500, 5000, 10,000 सैनिक होते थे। अकबर ने इसी प्रणाली के आधार पर मनसबदारी प्रथा पुरू की थी। शासन व्यवस्था में भी उसने कुछ सुधार किये थे। परन्तु पुराने सरदारों के प्रति अपनायी गयी अत्यधिक कठोरता की नीति के दुश्परिणाम भी हुए। दो बार इस्लामशाह की हत्या का प्रयत्न किया गया। इससे वह और भी कठोर हो गया वह अधिक समय तक जीवित न रह सका और बीमारी के कारण 30 अक्टूबर 1553 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी।

जहाँ तक इस्लामशाह की अपने सरदारों के प्रति नीति का सवाल है, वह उचित नहीं थी। अफगान सरदारों में इससे व्यापक असन्तोश था। इसके समय में तो वे शान्त रहे, परन्तु उनमें राजवंश के प्रति भक्ति न रही और इस्लामशाह की मृत्यु होते ही सिंहासन का फैसला तलवार द्वारा किया गया। इस प्रकार षेरशाह का अफगान – एकता का प्रयत्न न केवल विफल हुआ बल्कि कठोर नीति अपनाकर इस्लामशाह ने उस पर गहरा आघात किया।

सूर साम्राज्य का पतन (१५५३-५५ ई.)

इस्लामशाह की मृत्यु होते ही साम्राज्य की एकता नष्ट हो गयी और उसके पतन का रास्ता खुल गया। इस्लामशाह के पश्चात् उसका 12 वर्षीय पुत्र फीरोज गद्दी पर बैठा। किन्तु राज्यारोहण के तीन माह बाद ही उसके मामा मुबारिज ख़ाँ ने उसकी हत्या कर दी और स्वयं मुहम्मद आदिलशाह के नाम से

भारत का इतिहास

सुल्तान बन बैठा। उसने खवास खाँ के भाइ षमशेरखाँ को अपना वजीर नियुक्त किया, परन्तु उसका असली विश्वासपात्र अधिकारी हेतु था जो रेवड़ी की सड़कों पर कभी नमक बेचता था। मुहम्मद आदिलशाह निहायत निकम्मा शासक था। निम्न कोटि के लोगों की संगति में वह अपना समय नष्ट करता था। अफगानों की स्वतन्त्रता और शक्ति संघर्ष की भावना को इससे खुला मार्ग मिल गया तथा विभिन्न सरदारों ने विद्रोह करने आरम्भ कर दिये। पहला विद्रोह बादशाह के नाम बहनोई इब्राहीम खाँ सूर ने किया। उसने दिल्ली पर अधिकार कर इब्राहीम शाह के नाम से अपने को बादशाह घोषित कर दिया। बाद में उसने आगरा पर भी अधिकार कर लिया। इस समय आदिलशाह चुनार में था, अतः वह कुछ न कर सका। इस घटना से उसके एक अन्य बहनोई अहमद खाँ को भी प्रोत्साहन मिला। वह पंजाब का सूबेदार था और अब उसने अपने आपको सिकन्दरशाह के नाम से पंजाब का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। उसी प्रकार बंगाल के मुहम्मद खाँ सूर ने और मालवा में बाज बहादुर ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इस प्रकार सूर साम्राज्य चार सुल्तानों में बँट गया। पंजाब सिकन्दरशाह के अधिकार में दिल्ली और आगरा इब्राहीमशाह के अधिकार में था। ये चारों सुल्तान एक-दूसरे पर अपनी सत्ता स्थापित करना चाहते थे। इनमें पारस्परिक संघर्ष और विद्वेष के कारण देश में घोर अव्यवस्था और अराजकता फैल गयी थी। बाद में इब्राहीम को हराकर सिकन्दरशाह ने दिल्ली व आगरे पर अधिकार कर लिया।

ऐसी स्थिति में जबकि सूर साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था और विभिन्न अफगान सरदार आपस में संघर्षरत थे, हुमायूँ को पुनः नवम्बर, 1554 ई. में भारत पर आक्रमण करने का मौका मिला। वह लाहौर तक बिना किसी परेशानी में पहुँच गया। बाद में मई, 1555 ई. में मच्छीवाड़ा युद्ध

में सिकन्दरशाह की सेना को और जून, 1555 ई. में सरहिन्द के युद्ध में स्वयं सिकन्दरशाह को हराकर हुमायूँ ने पुनः दिल्ली पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार 15 वर्ष के बाद शेरशाह द्वारा स्थापित दूसरी अफगान सत्ता का पतन हो गया और भारत पर मुगलों की सत्ता पुनः स्थापित हो गयी।

अभ्यास—प्रश्न

1. शेरशाह सूरी मध्यकालीन भारत का एक सुयोग्य शासक था। समीक्षा करे।
2. शेरशाह की रचनात्मक उपलब्धियाँ का विवरण दीजिए।
3. शेरशाह की भू राजस्व व्यवस्था उत्कृष्ट थी विवेचना कीजिये। 4. हुमायूँ और शेरशाह के बीच संघर्षों में शेरशाह क्यों सफल रहा?

90

इकाई—तीन

मुगल साम्राज्य का विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण

हुमायूँ ने मुगल साम्राज्य का उद्धार कर उसे सन् 1555 ई. ने पुनः स्थापित किया। अकबर की नीतियों ने साम्राज्य को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अकबर के शासन काल में ही मुगल साम्राज्य एक राजनीतिक वास्तविकता बन गया और उसने भारतीय राजनीति

में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। अकबर के उत्तराधिकारियों ने कुछ परिवर्तनों के साथ उन नीतियों को अपनाया या यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने समय के राजनीतिक वातावरण के अनुरूप नीतियां अपनाईं। इस इकाई में मुख्य रूप से क्षेत्रीय प्रसार एवं इससे जुड़ी समस्याओं तक ही हम स्वयं को सीमित रखेंगे। एक विषाल साम्राज्य के रूप में विकसित होने के दौरान शासकों को ऐसी राजनीतिक शक्तियों के साथ जूझना पड़ा जिनका कई क्षेत्रों में आधिपत्य कायम था। इनमें राजपूत, बिन्ध्याचल के दक्षिण में स्थित बीजापुर, गोलाकुण्डा, अहमदनगर और मराठा शासक महत्वपूर्ण थे। खंड-3 में हम पक्ष की विस्तृत विवेचना करेंगे।

हम अपनी विवेचना का प्रारंभ अकबर से करते हैं कि कैसे उससे अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त की और किस प्रकार से अपनी सर्वोच्चता को मुगल दरबार में स्थापित किया।

अकबर एक महान साम्राज्यवादी था। मुगल शासकों ने अकबर प्रथम शासक था जिसने सम्पूर्ण भारत में मुगल वंश का राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह इसे राज्य की सुरक्षा तथा प्रगति के लिए आवश्यक मानता था। अकबर स्वयं कहा करता था, शक सप्ताट को विजय के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए, अन्यथा उसके पड़ोसी शासक उसके विरुद्ध षस्त्र उठा लिया करते हैं। इसी कारण अकबर राज्य – विस्तार में लगा रहा। उसे इस कार्य के लिए समय भी मिला और सफलता भी। अकबर का यह भी विचार था, शसना को सदैव लड़ाई में लगाए रखना चाहिए, क्योंकि लड़ाई के अभ्यास के अभाव में सैनिक विलासी और प्रमादी हो जाते हैं। उसने अपने जीवन में काबुल से लेकर बंगाल तक और कश्मीर से लेकर बिन्ध्याचल पर्वत तक के क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया दक्षिण भारत की विजय की ओर भी अकबर ने कुछ सफलता प्राप्त की किन्तु तभी उसकी मृत्यु हो गई। उसने अग्रलिखित विजयें प्राप्त कीं।

सत्ता की राजनीति और बैरम खां का संरक्षण (१५५६-१५६०)

हुमायूँ की मृत्यु के समय अकबर की आयु मात्र 13 वर्ष थी। हुमायूँ के विश्वासपात्र एवं अकबर के शिक्षक बैरम खां ने 1556-1560 तक उसके संरक्षक के रूप में कार्य किया। बैरम खां के संरक्षण काल को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग अकबर के सिंहासनारोहण से पानीपत के द्वितीय युद्ध से पूर्व अर्थात् जनवरी 1556 से अक्टूबर 1556 तक था। यह वह समय था जबकि अभिजात वर्ग ने अपने हितों की रक्षा करने के लिए बैरम खां के नेतृत्व को स्वीकार किया। दूसरा चरण पानीपत की लड़ाई के बाद भारत में शाही स्त्रियों (हामिदा बानू बेग आदि) के आगमन तक था। इस लड़ाई के दौरान बैरम खां ने राज्य के मामलों पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया। उसने अपने व्यक्तिगत समर्थकों का एक गुट बनाने का प्रयास किया। तीसरे चरण में जो 1559 के मध्य तक था, बैरम खां की शक्ति एवं प्रभाव का ह्रास हुआ। अतिक चरण में बैरम खां ने पुनः अपने नियंत्रण को स्थापित करने का प्रयास किया। इसी समय गुटीय तनाव भी बढ़ा जिसके कारण बैरम खां को सत्ता से निरस्त कर दिया गया। राजनीतिक तौर पर प्रथम चरण असुरक्षा का था। इस समय में न केवल हुमायूँ की मृत्यु हुई, अपितु साम्राज्य को हेमू की अफगान सेनाओं का भी सामना करना पड़ा। इस समय अकबर काफी छोटा था जिसके कारण इन घटनाओं से निराशा का वातावरण छा गया। इस स्थिति से सुरक्षित बचने के लिए एक संरक्षक की नियुक्ति करना था। लेकिन भय यह था कि यदि किसी अभिजात को एक संरक्षक के रूप में नियुक्त किया जाए और अगर वह एक वास्तविक सार्वभौम के रूप में कार्य करेगा तक

भारत का इतिहास

अभिजात वर्ग के पारस्परिक संबंधों में तनाव उत्पन्न होगा जिससे प्रशासन को खतरा पैदा हो जायेगा। इन सभी खतरों के बावजूद बैरम खां को वकील नियुक्त किया गया। आश्चर्य की बात यह है कि किसी भी अभिजात सदस्य ने बैरम खां संबंध रिश्ते या अकबर के साथ पूर्ववर्ती निकटता के आधार पर वकालत के लिए दावा प्रस्तुत नहीं किया। इन सभी को बैरम खां की कड़ी आलोचना के लिए आधार भी बनाया जा सकता था।

कुलीनों द्वारा बैरम खां को संरक्षक स्वीकार करने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि वे उसके साथ सत्ता एवं प्रभाव में भागीदारी चाहते थे। दूसरी ओर बैरम खां सत्ता का स्वयं उपभोग करने के लिए कष्ट संकल्प था। वकील-उस-सल्तनत का पद ग्रहण करने पर बैरम खां को सत्ता के लिए गुटीय संघर्ष की आषंका की। इसलिए उसने उन सभी कुलीनों के प्रभाव को समाप्त करने का निष्पत्ति किया जो उसको चुनौती दे सकते थे। उसने अपने कड़े आलोचक शाह अबुल माली को पदमुक्त कर जेल में डाल दिया। माली कुलीनों के बीच अलोकप्रिय था जिसके कारण बैरम खां की इस कार्यवाही का कोई विशेष विरोध नहीं हुआ।

कालान्तर में ऐसे सभी कुलीनों को काबुल भेज दिया गया जो बैरम खां के लिए खतरा उत्पन्न कर सकते थे। बैरम खां ने काबुल के गवर्नर मुनीम खां तथा अवध में स्थित मुगल सेना के प्रधान अली कुली खां उजबेग के समर्थन को भी प्राप्त करने के प्रयास किये। बैरम खां को मुनीम खां पर विश्वास न था। वह उसको काबुल तक सीमित कर दरबार से दूर रखना चाहता था। जिस समय मई 1556 में मिर्जा सुलेमान ने काबुल पर आक्रमण किया तब उसे मुनीम खां को अलग करने का अवसर प्राप्त हो गया और उसने आगामी चार माह तक मुनीम खां के दरबार के साथ संपर्कों को काट रखा और इस बीच बैरम खां ने अपनी स्थिति को दरबार में और सुदृढ़ किया। कुलीनों के बीच लगातार तनाव बढ़ रहे थे और पानीपत की द्वितीय लड़ाई के समय तक यह संकट और भी गहरा हो गया था। तारदी बेग के नेतृत्व में शाही सेनायें तुगलकाबाद की लड़ाई में अफगान सेनाओं का सामना करने में असफल रहीं। इस अवसर का लाभ उठाते हुए बैरम खां ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए विश्वासघात का आरोप लगाकर सम्राट की आज्ञा के बिना तारदी बेग को फांसी देने का आदेश दिया। इससे कुलीन वर्ग में असंतोश बढ़ने लगा। किन्तु पानीपत लड़ाई में बैरम खां की विजय ने उसके सम्मान को पुनः स्थापित करने में सहायता प्रदान की। उसने अपने विश्वासपात्रों को उपाधियां एवं दोआब में जागीरें तथा को तरक्की प्रदान कर अपनी स्थिति की और मजबूत किया। उसने अपने समर्थकों को कुछ महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया। पीर मोहम्मद खां को अपना व्यक्तिगत वकील, ख्वाजा अमीदुद्दीन को बख्शी और शेर गदाय को सदर नियुक्त किया।

तारदी बेग को फांसी देने के बाद छः माह तक साम्राज्य के मामलों पर बैरम खां का पूर्ण नियंत्रण था। सत्ता पर लगभग पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के बाद उसने सम्भावित प्रतिद्वंद्वियों को बादशाह पर प्रभाव कायम करने से रोकने का कार्य किया। मुनीम खां तथा ख्वाजा जलालुद्दीन महमूद को काबुल भेज दिया गया और उनको दरबार के साथ संपर्क करने से रोका गया। बैरम खां की मजबूत होती स्थिति तथा उसके द्वारा वास्तविक सत्ता के उपभोग करने का कुलीनों ने विरोध किया।

बैरम खां की सत्ता के हास का प्रथम साक्ष्य अकबर द्वारा मुनीम खां के दमाद मिर्जा अब्दुल्ला मुगल की पुत्री के साथ विवाह करना था। बैरम खां के प्रबल विरोध के बावजूद वह विवाह

सम्पन्न हुआ था। अप्रैल 1557 में काबुल से हमीदा बानू बेगम के साथ महम अन्गा, भी आयी थी जिसने तारदी बेग की फांसी को घटना के समय बैरम खां का समर्थन किया था।

अब बैरम खां को केन्द्रीय सरकार के कार्यों के संचालन करने में महत्वपूर्ण कुलीनों के साथ समझौता करने को बाध्य होना पड़ा। एक वकील के रूप में बैरम खां कुलीनों की सहमति के बगैर राजा के सम्मुख कोई प्रस्ताव न रख सका। इस समझौते ने उसकी ताकत को और क्षीण कर दिया तथा 1558 तक उसका व्यक्तिगत वकील पीर मोहम्मद भी उसका विरोधी हो गया।

पुनः अपनी ताकत को प्राप्त करने के लिए 1559 में उसमें सत्ता हथियाने का प्रयास किया। इस प्रयास में अपने अपने व्यक्तिगत वकील पीर मोहम्मद के स्थान पर मोहम्मद खान सिस्तानी को नियुक्त

किया। शेर गदाई को सदर के अतिरिक्त अन्य कार्य भार सौंपा गया। कई छोटे अधिकारियों को तरक्की दी गई। किंतु बैरम खां का अधिकार कुलीनों एवं सम्राट से अलगाव बना रहा।

अपनी स्वेच्छाचारिता के कारण उसने कुलीनों के असंतोश में और वृद्धि की। आर. पी. त्रिपाठी जैसे इतिहासकारों ने बैरम खां की यह कहकर आलोचना की है कि उसने सुन्नियों की अपेक्षा शियाओं का पक्ष लिया। इससे उसने सुन्नियों को अपना विरोधी बना लिया। किंतु इतिहासकार आलम का तर्क है कि यद्यपि बैरम खां शिया था फिर भी कोई ऐसा ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि बैरम खां ने धार्मिक आधार पर पक्षपातपूर्ण कार्य किये। वास्तव में बैरम खां का कट्टर समर्थक शेर गदाई, जो सदर नियुक्त किया गया, शिया नहीं बल्कि सुन्नी था। बैरम खां ने अकबर के आकलन कम करके देखा उसने बादशाह के विश्वास को जीतने के लिए कोई प्रयास नहीं किया और जब मार्च 1560 में बैरम खां को पद से हटाने की घोषणा की तब बैरम खां के सभी वफादारों

(विश्वासपात्रों) ने बादशाह का समर्थन किया या फिर वे तटस्थ हो गये।

बैरम खां के संरक्षक काल के अध्ययन से स्पष्ट है कि वास्तविक राजनीतिक सत्ता कुलीन वर्ग में निहित थी। कुलीनों ने बैरम खां के प्रभुत्व को सीमित रूप में ही स्वीकार किया। वे उसकी वास्तविक सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करने को तैयार न थे। अपनी स्थिति को बनाये रखने के लिए उसको सभी कुलीन वर्ग के एक गुट पर निर्भर रहना पड़ता, तो कभी दूसरे पर। इस प्रकार वह स्वतंत्र समर्थकों के एक स्थायी गुट को प्राप्त करने में असफल रहा। वास्तव में उसने अपेक्षाकरत छोटे अधिकारियों के ओहदों में वृद्धि और उनको तरक्की प्रदान कर कुलीनों के एक बड़े समूह को अपना विरोधी बना लिया। इस प्रक्रिया में उसने अयोग्य अमीरों का भी गठन किया। अपने जीवन के अंत में उसने महसूस किया कि उसके अपने समर्थक भी उसके विरोधी हो गये हैं। बैरम खां तथा कुलीनों के बीच का संघर्ष वास्तव में संरक्षक द्वारा प्रतिनिधित्व कने वाली केन्द्रीय सत्ता व कुलीन वर्ग के बीच संघर्ष था। इस काल के दौरान सम्राट सत्ता का प्रतीक मात्र था और वह बैरम खां के विरोधियों की कठपुतली बना हुआ था। बैरम खां ने मुगल कुलीनों के दो गुटों (चंगताई तथा खुरासानी) कुलीनों को संयुक्त करने का प्रयास किया। लेकिन बैरम खां के इस मेल मिलाप के प्रयासों को कुलीनों ने अपनी शक्ति एवं निर्भरता के लिए खतरा समझा। बैरम खां के वफादारों ने

भारत का इतिहास

भी बैरम खां द्वारा प्रतिनिधित्व की जाने वाली केन्द्रीय प्रभुसत्ता को स्वीकार नहीं किया। बैरम खां का संरक्षक काल उसके लिए एक संकट बना रहा। जहां एक ओर वह कुलीनो की स्वतंत्रता में कटौती करना चाहता था, वहीं दूसरी ओर अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए समर्थन की भी आवश्यकता थी। इस कारण उसके सम्पूर्ण काल में एक विरोधाभास बना रहा। एक नये गुट का गठन कर इसको संतुलित किया जा सकता था, किंतु यह उसके लिए सम्भव न था। नये गुट का गठन करने के लिए अफगानों को शामिल किया जा सकता था लेकिन वे सिंहासन पर अपना दावा मानते थे। उसके सम्मुख राजपूत सरदारों, जमींदारों एवं स्थानीय सरदारों का विकल्प था। लेकिन इनको शामिल करने का कार्य एक लम्बी प्रक्रिया थी। इस प्रकार बैरम खां ने जब कभी भी अपनी स्थिति को मजबूत करने का प्रयास किया तभी दरबारी कुलीनों ने उसका विरोध किया। इसके फलस्वरूप वह यदा-कदा स्वयं को . अलग-थलग पाता और अंततः उसको सत्ता से हटना पड़ा।

बैरम खां के निष्कासन ने मुगल राजनीति में अंतर्निहित केन्द्रीय सत्ता एवं इसकी विपरीत प्रवृत्ति के बीच के संघर्ष की पुष्टि की। इसकी परिणति केन्द्रीयकृत सत्ता की विरोधी प्रवृत्ति की विजय के रूप में हुई। इस प्रवृत्ति के द्वारा उन मुष्किलों को समझने में मदद मिलती है जिनका सामना अकबर ने सार्वभौम सत्ता को संभालने के बाद 1561-1562 के वर्षों में किया

हम देखते हैं कि बैरम खां के सम्पूर्ण संरक्षक काल में राजनीतिक सत्ता तुरानी उत्पत्ति के अन्य गुटों एवं चगताई कुलीनों में निहित थी। बैरम खां तभी सत्ता का उपयोग कर सका जबतक इन गुटों उसका समर्थन किया। कुलीन गुटों ने बैरम खां की सत्ता को सीमित तौर पर ही स्वीकार किया था न कि एक वास्तविक शासक के रूप में। उन्होंने उसका तब तक विरोध न किया जबतक कि अफगानों को न कुचल दिया गया। लेकिन पानीपत की दूसरी लड़ाई में हेमू की पराजय के बाद उन्होंने संरक्षक के केन्द्रीयकरण की नीतियों का विरोध करना प्रारंभ कर दिया और उसको मुख्य कुलीन गुटों के प्रभुत्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया।

मुगल साम्राज्य का विस्तार एवं विजयें

जब जनवरी 1556 में अकबर सिंहासन पर बैठा तो ऐसा कहते हैं कि उस समय उसके पास कोई राज्य नहीं था। उसके पास यदि कुछ था तो पंजाब का कुछ इलाका और वह भी सब ओर से षत्रुओं से घिरा हुआ था। राजपूत लोग अपने स्थान पर डटे बैठे थे और मेवाड़, जोधपुर, रणथम्भोर, कालिंजर और जैसलमेर जैसे स्वतंत्र राज्य बन चुके थे। अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा, बिदार और बरार के दक्षिणी राज्य इतने ही स्वाधीन हो गये थे जितने कि बाबर के भारत आक्रमण के समय थे। अतः यह बात स्पष्ट है कि अकबर के सामने एक चुनौती पूर्ण काम था क्योंकि उस समय अकबर अभी चौदह वर्ष का बालक था।

अकबर एक बहुत ही महत्वाकांक्षी नवयुवक था। अपने सरदारों और सेनापतियों की सहायता से उसने अपने ऊपर अपने प्रतिद्वन्द्वियों के कुचलने का कार्यभार ले लिया और वह विजय यात्रा पर चल पड़ा। जब तक वह भारत के एक बहुत बड़े भाग का स्वामी नहीं बन गया उसने विश्राम नहीं किया। उसकी महत्वपूर्ण विजयों का संक्षेप में वर्णन निम्न है

उत्तर पश्चिम तथा मध्य भारत की विजये

(प) पानीपत की दूसरी लड़ाई

मुहम्मद शाह आदिल का प्रधान मंत्री हेमू अकबर का सबसे खतरनाम प्रतिद्वन्दी था। वह एक महत्वाकांक्षी हिन्दू शासक था जो सारे भारत का शासक बन जाने का स्वप्न देख रहा था। उसने विषाल सेना जुटाई, आगरा पर अधिकार कर लिया और तब वह दिल्ली की ओर बढ़ा। दिल्ली का मुगल राज्यपाल तारदी बेग उसके विरुद्ध लड़ने का साहस ने कर सका। परिणाम यह हुआ कि दिल्ली भी हेमू के हाथ आ गया। उस भयानक स्थिति को देखकर अकबर भी घबरा गया। परन्तु सौभाग्य से बैरम खां उसकी सहायता को आ पहुँचा। अकबर के वफादार संरक्षक ने तुरंत तारदी को मरवा डाला, सेना इकट्ठी की और हेमू पर हमला बोल दिया। हेमू राजधानी से निकल पड़ा। इस प्रकार की सेना के साथ जैसे रेगिस्तान से टिड्डी दल और चीटियाँ बाहर आ रही हों। पानीपत के ऐतिहासिक मैदान में नवम्बर, 1556 में गुगलों और अफगानों के बीच एक घमासान लड़ाई हुई जिसमें मुगल विजयी हुए। हेमू पकड़ा गया और बाद में उसे फांसी पर लटका दिया गया।

पानीपत की दूसरी लड़ाई एक दूरवर्ती महत्व की घटना सिद्ध हुई। इसके परिणामस्वरूप भारत के साम्राज्य पर अफगानों का दावा सदैव के लिए समाप्त हो गया और इस प्रकार भारत में मुगल साम्राज्य की पुनः स्थापना के लिए भूमि तैयार हो गई।

(पप) दिल्ली और आगरा पर अधिकार

पानीपत विजय के बाद अकबर सीधा दिल्ली की ओर बढ़ा। शहर के हर वर्ग के निवासी सम्राट का उचित स्वागत करने और उसे सम्मान से नगर में ले जाने के लिए बहु संख्या में निकल आए। बिना किसी कठिनाई के अकबर आगरा पर अधिकार करने में सफल हो गया।

(पपप) सिकन्दरसूर की हार

1557 के आरम्भ में बैरम खां ने सिकन्दर सूर के विरुद्ध जो शिवालिक पहाड़ियों की ओर भाग गया था, उसने अपने आप को मानकोट के किले में बन्द कर रखा था, मुगलों ने 6 महीने के लिए उस किले का घेरा डाले रखा। अन्त में सिकन्दर सूर ने हार मान ली। उसने मुगल प्रभुता को स्वीकार कर लिया और हार मानने के बदले में उसे जागीर मिल गई।

(पअ) ग्वालियर और जौनपुर की विजय

ग्वालियर का प्रसिद्ध किला सुल्तान अहमद शाह आदिल के एक दास सुहेल के हाथ में था। 1558 के अन्त में अकबर ने हबीब अली सुलमान और किया खां को इस किले पर अधिकार करने भेजा। सुहेल ने कुछ देर मुकाबला किया, परन्तु बाद में अपने आप को निसहाय पाकर उसने हथियार डाल दिए। इसपर ग्वालियर ले लिया गया। मार्च 1559 में खां जमान को एक बड़ी सेना लेकर जौनपुर भेजा गया और वह इस प्रदेश को जीतने तथा इसे मुगल साम्राज्य के इलाके में शामिल करने में सफल हो गया।

(अ) मालवा की विजय

उस समय मालवा में बाजबहादुर नामक एक अफगान सरदार का शासन था, जो शेरशाह के अधीन इस प्रदेश के सूबेदार भुजात खां का बेटा था। वह कला तथा संगीत का बहुत प्रेमी

भारत का इतिहास

था परन्तु उसकी शासन के कार्यों में रुचि नहीं थी। 1561 ई. में अकबर ने मालवा को जीतने के लिए आधम खां और पीर

मुहम्मद के अधीन सेना भेजी। 29 मार्च, 1561 को बजबहादुर ने सारंगपुर के पास मुगलों का सामना किया। लेकिन हारकर खाना देश की ओर भाग गया। उसकी सुन्दर पत्नी रूपमती शत्रुओं के हाथ लग गई। लेकिन उसने जहर खाकर अपने सतीत्व की रक्षा की। पीर मुहम्मद को मालवा का गवर्नर नियुक्त किया गया। उसने वहाँ के लोगों पर बहुत अत्याचार किए। कुछ समय बाद पीर मुहम्मद को मालवा से निकालकर बाजबहादुर ने फिर अपना अधिकार कर लिया। पीर मुहम्मद नर्मदा नदी को पार करते समय घोड़े से गिर पड़ा तथा नदी में डूब गया। इस के बाद मालवा को पुनः जीतने के लिए अकबर ने अबदुल्ला खां उजबेग के नेतृत्व में सेना भेजी। बाजबहादुर हार गया तथा उसने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली। उसे मुगल मनसबदार बना दिया गया। अब मालवा अकबर के साम्राज्य का एक उपजाऊ प्रान्त बन गया।

(अप) गोंडवाना की विजय

गोंडवाना राज्य मध्य भारत के उत्तरी भाग में स्थित था जो पूर्व में रतनपुर से लेकर पश्चिम में रायसिन तक और उत्तर में रीवा से लेकर दक्षिण सीमा तक फैला हुआ था इसे राज्य षाढ़ मण्डला कहते थे। वहाँ का चंदेल वंश का शासक वीरनारायण नाबालिग था, इसलिए उसकी माता रानी दुर्गावती उसकी

- संरक्षिका थी। अबुल फजल के अनुसार रानी दुर्गावती अपने देश पर बड़ी बुद्धिमत्ता और योग्यता से राज करती थी। अकबर की साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत गोंडवाना के स्वतन्त्र राज्य का कोई स्थान न था। इसलिए 1564 में बिना किसी कारण के अकबर ने कड़ा के शासक आसफ खां को गोंडवाना पर आक्रमण करने का आदेश दिया। राजधानी चौरागढ़ अथवा चुनारगढ़ के निकट रानी दुर्गावती ने मुगलों की विषाल सेना का डटकर मुकाबला किया। लेकिन जब उसे विजय की कोई सम्भावना नजर न आई तो उसने अपने आप को अपमान से बचाने के लिए पेट में छुरा घोंपकर आत्महत्या कर ली। राजपूत स्त्रियों ने भी श्रौहर्ष प्रथा के अनुसार अपने प्राण त्याग दिए। वीर नारायण भी बड़ी वीरता से लड़ा तथा मारा गया। इस विजय बहुत सा लूट का माल मुगलों के हाथ लगा। तत्पश्चात् गोंडवाना को मुगल साम्राज्य में शामिल कर लिया गया।

से

(अपप) चित्तोड़ पर अधिकार

+

चित्तोड़ मेवाड़ की राजधानी थी और मेवाड़ का राजस्थान में सबसे अधिक अभिमानि सरदार माना जाता था। मेवाड़ का राजा उदय सिंह अकबर को म्लेच्छ विदेशी कहकर पुकारता था तथा उसकी अधीनता मानने को तैयार न था। अकबर की अधीनता स्वीकार करने वाले राजपूतों से घुणा करता था। दूसरे उसने मुगलों के शत्रु मालवा के बाजबहादुर को भी शरण दे रखी थी। जब राजा उदय सिंह ने उसकी अधीनता मानने से इन्कार किया तो उसका अभिमान तोड़ने के लिए अकबर ने अक्तूबर 1567 ई. में चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। जब उसको यह पता चला कि अकबर स्वयं उसके विरुद्ध चढ़ाई करके आ रहा है तो

वह मुगलों का मुकाबला करने के स्थान पर पहाड़ियों की ओर भाग गया। लेकिन राजपूत हतोत्साहित न हुए। उन्होंने जयमल व पत्ता के नेतृत्व में षत्रु का डटकर मुकाबला किया। जब अकबर को विजय की कोई आशा न रही तो उसने सौगन्ध खाई कि यदि उसे सफलता प्राप्त हो गई तो वह अजमेर में स्थित ख्वाजा मुईनुद्दीन चिष्टी के मकबरे की पैदल यात्रा करेगा। चित्तौड़ का घेरा बहुत देर चलता रहा। अकबर ने बारूद की सुरंगें बना कर दुर्ग की दीवारों को गिराने का निष्चय किया। जयमल तथा पत्ता वीरता से लड़ते हुए युद्ध क्षेत्र में मारे गए। इस युद्ध में 16 वर्षीय पत्ता (फतेह सिंह) की माता, उसकी पत्नी तथा अन्य राजपूत स्त्रियों ने युद्ध में अद्भुत वीरता दिखाई तथा अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए शहीद हो गई। इस युद्ध में कुल 8,000 राजपूत सैनिक शहीद हुए। इन दो बहादुर राजपूतों की शूरवीरता का अकबर के हृदय पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उसने जयमल तथा पत्ता की स्मृति में आगरा के किले के द्वार पर हाथियों पर बैठे हुए इनकी मूर्तियां स्थापित की। अन्त में चित्तौड़ पर मुगलों का अधिकार, हो गया।

(अपपप) रणथम्भौर को विजय

रणथम्भौर का हाड़ा वंश के शासक सुरजन राय का अधिकार था जो मेवाड़ के अधीन था। रणथम्भौर का किला बहुत ही शक्तिशाली तथा अजेय माना जाता था। अकबर ने स्वयं 1569 ई. में रणथम्भौर पर चढ़ाई कर दी। राण सुरजन राय ने कुछ देर मुकाबला किया लेकिन उसने अनुभव किया कि लड़ाई को जारी रखना कठिन है। इसलिए उसने अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार रणथम्भौर का दुर्ग अकबर के अधीन हो गया।

(प०) कालिंजर की विजय

अकबर के द्वारा चित्तौड़ तथा रणथम्भौर की विजय से काजिंजर का शासक राजा रामचन्द्र घबरा गया तथा जब अकबर ने 1569 ई. में मलनू खां के नेतृत्व में सेना कालिंजर को जीतने के लिए भेजी तो उसने बिना किसी विरोध के किले मुगलों को सौंप दिया तथा अकबर की अधीनता मान ली। कालिंजर की विजय इसकी उत्तरी भारत में स्थिति के कारण अकबर के लिए महत्वपूर्ण थी।

(●) मेवाड़ के राण प्रताप के विरुद्ध युद्ध

गुजरात विजय का स्थायित्व राजपूताना में मुगल शक्ति के पुष्टीकरण पर निर्भर था। चित्तौड़ पतन से निस्संदेह अकबर का मान उस प्रदेश में स्थापित हो गया था, परन्तु मेवाड़ राज्य अभी मनाया नहीं जा सका था। 1572 में राणा उदय सिंह मर गया। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रताप सिंह की अवहेलना करके अपने कृपापात्र पुत्र जगमल को मेवाड़ की गद्दी के लिए मनोनीत किया था। परन्तु जालौर के तत्कालीन तथा ग्वालियर के भूतपूर्व राजा राय ने प्रताप के मामा होने के नाते मेवाड़ के अन्य बड़े सामंतों के परामर्श से जगमल को अकस्मात् पदच्युत करके प्रताप सिंह को गद्दी पर बिठा दिया। जब जगमल मेवाड़ छोड़कर अकबर की सेवा में पहुँच गया जिसने उसे एक जागीर दे दी।

मेवाड़ के नये राणा को मुगल हुक्मत के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने के पहले अपना राज्य और उसके साधन व्यवधित तथा पुष्ट करने के लिए कुछ समय लेना था। मेवाड़ के शासक से अस्थायी समझौते का महत्व उसके ध्यान में सदैव रहा। इस उद्देश से उसने सन् 1573

भारत का इतिहास

में गुजरात से राजा मानसिंह को प्रताप सिंह से समझौते की शर्तें तय करने मेवाड़ भेजा गया। राणा ने राजा मानसिंह का अच्छा स्वागत किया और अकबर की भेजी हुई खिलत स्वीकार की। इस बात से प्रत्यक्ष था कि दरबार में जगमल की उपस्थिति होने पर भी मेवाड़ की गद्दी के उत्तराधिकार में हस्तक्षेप करने का कोई विचार अकबर के हृदय में न था। राणा भी कम से कम उस समय तो अकबर से झगड़ा मोल लेना नहीं चाहता था, यद्यपि जोधपुर के रावचंद्र सेन से उसकी मित्रता थी। तथापि मानसिंह को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली और राणा पूर्णरूप से मानसिंह की बात मानकर अकबर की अधीनता स्वीकार करने हेतु दरबार में हाजिरी देने के लिए तैयार न हुआ।

सितम्बर सन् 1573 में अकबर ने राजा भगवानदास को मेवाड़ उसी उद्देश्य से भेजा जिससे मानसिंह को भेजा गया था। राणा भगवानदास अधिक सफल हुआ। यह कहना कठिन है कि उत्तेजना की दशा में मानसिंह का अपमान करने का उसे पञ्चाताप हुआ, या उस समय दिल्ली के साधन युक्त बादशाह से तुरन्त झगड़ने को तैयार न था, या वह शान्ति के पक्ष में था और ईश्वर प्रदत्त स्वतंत्रता का निर्वाध सुख भोगना चाहता था। कारण कुछ भी रहा हो, उसने राजा भगवानदास से श्रद्धायुक्त बर्ताव किया और अपने पुत्र अमरसिंह को उसके साथ कर दिया इस उद्देश्य से कि वह बादशाह का प्रभुत्व स्वीकार करे और उसकी सेना में भर्ती हो जाए।

थोड़े दिनों बाद टोडरमल भी राणा के इलाके से होकर गुजरा। उसका भी खूब आदर सत्कार हुआ और वह यह धारणा लेकर गया कि राणा बादशाह से झगड़ा कदापि नहीं करना चाहता था।

मैत्री की इन सब प्रत्यक्ष स्वीकारोक्तियों के होते हुए भी राणा का ढंग कठोर होता गया। बादशाह दरबार में उसकी हाजिरी के लिए हठ करता रहा, चित्तोड़ का विजित खंड लौटा देने की उसने कोई स्वीकृति नहीं दी और बादशाह के प्रति उसकी मैत्री भावना यथेष्ट मान्यता उसे नहीं मिली (जिससे उसका असंतोश बढ़ता गया)। उधर अकबर राणा की मैत्री पर पूर्ण विश्वास न कर सका। जोधपुर के नंदसेन तथा सिरौही के राणा सुर्तन शाही हुकूमत के विरोधी थे और राणा की इनसे सन्धि थी जिसे अकबर पसन्द

नहीं करता था। जब तक उसे राणा को स्थायी मैत्री के विषय में पूरा संतोश न हो जाय तब तक वह मेवाड़ के विजित भागों पर अपना अधिकार नहीं हटाना चाहता था।

सन् 1574 में जोधपुर के चन्द्रसेन ने खुला विद्रोह कर दिया। अकबर ने इसे एक असंबद्ध घटना ही माना। इसके दमन के लिए उसने एक कुंभुक भेज दी और स्वयं पटना के लिए रवाना हो गया। इसके पश्चात् षीघ्र ही सुर्जन हाड़ा के पुत्र डौडा ने बूँदी में विद्रोह कर दिया। इन विद्रोह की अग्नि फौली हुई थी कि राणा प्रताप ने प्रजा को पहाड़ियों की षरण लेने का आदेश दिया। उसका यह आदेश अत्यन्त कठोर था और अवज्ञा करने वालों को प्राणदंड देने की उसने घोषणा की। श्विजेता अकबर के लिए राजस्थान की वाटिका बेकर हो गई और मुगल दरबार तथा समुद्रपार विदेशों के मध्य सूरत और गुजरात के अन्य बन्दरगाहों का व्यापारिक यातायात मेवाड़ मार्ग में रोका और लूटा जाने लगा। श्घटनाक्रम से अकबर इस परिणाम पर पहुँचा कि उपद्रव के मूल में राणा का विरोध है।

मार्च, सन् 1573 को अकबर अजमेर पहुँच गया। उसने मानसिंह को घोड़े सहित खिलत प्रदान की और 5000 घुड़सवार देकर उसे राणा प्रताप के विरुद्ध भेजा। अकबर को सफलता में कोई संदेह न था, जिस कारण वह राजधानी वापस चला गया। मांडलगढ़ के मार्ग से मानसिंह गोगुंडा गढ़ से चौदह मील दूर हल्दी घाटी दर्रे पर पहुँचा। यहाँ राणा प्रताप ने पहाड़ियों से उतर कर 3000 घुड़सवारों की सेना के लिए जून, 1576 में उसका सामना किया। जगन्नाथ और आसफ खाँ के नेतृत्व में मुगल सेना को अगले भाग को हकीम समूर अफगान ने बुरी तरह भगा दिया। मुगल सेना का बायाँ पार्श्व हटा दिया गया और दाहिने पार्श्व की भी प्रायः वही गति हुई। राणा प्रताप के सैनिक रण क्षेत्र में मुगल सेना पर हावी रहे। इस लड़ाई का प्रमुख अंश था दोनों ओर से जंगी हाथियों का युद्ध। परन्तु इसमें भी राणा के हाथी मुगल हाथियों की अपेक्षा अच्छे लड़े। मुगल सेना की ओर से बरहा के सैयदों ने बहुत बड़ी सेवा की। यदि वे हठपूर्वक अड़े न रहते तो मुगल सेना पहले धावे में ही भगा दी जाती। मानसिंह ने श्ववर्णनीय दृढ़ता दिखाई। राणा प्रताप और मानसिंह का द्वंद्व युद्ध हुआ और दोनों वीरतापूर्वक लड़े। बाणों से छिंद जाने पर भी राणा मानसिंह को प्रायः धराषायी कर पाया था जब मुगल सेना का अगला भाग जो हराया जा चुका था लड़ाई में फिर सम्मिलित हो गया। साथ ही यह अफवाह भी उड़ी कि अकबर स्वयं सेना के लिए रणक्षेत्र में पहुँच गया है। इस अफवाह ने राणा का मनोबल गिरा दिया और वह अपनी सेना कोलियारी की ओर पीछे हटा ले गया। दोनों की महत्यु संख्या प्रायः बराबर रही – प्रत्येक ओर लगभग 5001 मुगल सेना के पीछे हटते ही मेवाड़ी सैनिकों का पीछा नहीं कर सकी, क्योंकि भीषण गर्मी थी और बुरी मारकाट के बाद वह बहुत थक भी गई थी। अगले दिन मुगल सेना ने आगे बढ़कर गोगुंडा पर अधिकार कर लिया जिसे झूठी खबर के आधार पर दुर्भाग्यवश राणा ने खाली कर दिया था। यदि उसने खबर की सत्यता के विशय में जानकारी का प्रयत्न कर लिया होता और गोगुंडा में अड़ जाता तो गढ़ी इतनी सरलता से मुगलों के हाथ में न लग पाता। गोगुंडा पहुँचने पर मुगल सेना सम्पर्कहीन हो गई। वर्षा प्रारम्भ हो गई थी। सेना पड़े-पड़े रसद के अभाव में तड़पने लगी। सब कश्टों के बावजूद मानसिंह और आसफ ने राणा के इलाके में लूट नहीं होने दी। इस कारण बादशाह ने सैनिकों को वापस बुला लिया मानसिंह को दरबार में हाजारी देने की इजाजत नहीं मिली। परन्तु कुछ समय पश्चात् उसे क्षमा किया गया। और शराणा का इलाका लूटने का आदेश देकर दुबारा भेजा गया। मानसिंह की अनुपस्थिति में राणा प्रताप आया, मुगल सैनिकों पर छापे मारे, उनकी रसद बन्द कर उन्हें अपने-अपने स्थान से हटने पर विवश किया और गोगुंडा पर पुनः अधिकार कर लिया।

राणा प्रताप की वीरता, दरद स्वतंत्रता, राष्ट्र भक्ति और त्याग भावना से प्रभावित होकर बहुत से लेखकों ने उसके संघर्ष के वे अर्थ निकाले हैं जो इतिहास के निष्पक्ष अध्ययन से पुष्ट नहीं होते। अबुल फजल जैसे लेखकों ने वीर राणा की अवेहलना की है। और अन्य लेखकों ने अकबर तथा मानसिंह की भर्त्सना की है। यह न हिन्दू मुस्लिम प्रश्न था और नहीं हिन्दू धर्म का इस्लाम धर्म का संघर्ष यह केवल मुगल साम्राज्य और मेवाड़ राज्य का संघर्ष था। यदि इसका कोई दूसरा रूप होता तो राणा प्रताप ने अपनी सेना के एक भाग का नेतृत्व हकीम खामू सूर को न सुपुर्द कर दिया होता, और नहीं अकबर अपनी सेना— का नेतृत्व मानसिंह को सुपुर्द करता। जिसके प्रेरणा से अकबर ने मालवा के बाज बहादुर, गुजरात के मुजफ्फर, बंगाल के दाउद, सिन्ध के मिर्जी जानी बेग और कम्भीर के यूसूफ को परास्त किया उसी ने उसे मेवाड़ के राणा से लड़वाया।

भारत का इतिहास

राणा प्रताप के साहस, दृढ़ निष्चय और आत्मिक शक्ति के प्रति हमारी कितनी भी श्रद्धा हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह जिस सिद्धान्त पर अड़ा वह मेवाड़ की स्वतंत्रता और सीसोदिया घराने के प्रभुत्व के लिये लड़ता रहा, तो दूसरे राजा सीसोदिया साम्राज्य के पक्ष में प्रेरित नहीं हो सके क्योंकि मेवाड़ के प्रभुत्व प्राप्त राणाओं की नीति का उन्हें सन्तोशजनक अनुभव नहीं प्राप्त था। यह सिद्ध करने की चेष्टा करना निरर्थक होगा कि अन्य राजपूत कायर हो गये थे और इतने निर्बल थे कि वे भैतिक सुख के लिये अपनी स्वतंत्रता बेचने के लिये तैयार हो गये। उनके इतिहास का साक्षी इस अकारण धारणा के विरुद्ध है। पहले की भाँति वे राणा के कंधे से अपना कंधा भिड़ाकर अकबर के विरुद्ध अवश्य लड़ते यदि उन्हें अपने घर— बार और धर्म की स्वतंत्रता और रक्षा के सम्बन्ध में उससे आकांक्षा होती।

अकबर ने अन्य राजपूत राजाओं के प्रति अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया कि न तो वह उनके राज्यों पर अधिकार करना चाहता था और न ही उसे उनके सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप करना था। वह इतना ही चाहता था कि वे नवीन साम्राज्य संघ का प्रभुत्व मान लें जिसके चार अर्थ होते थे — एक यह कि खिराज के रूप में राजा केन्द्रीय शासक को कुछ रकम देते रहे, दूसरा यह कि वह अपनी बाह्य नीति तथा पारस्परिक युद्ध द्वारा अपने अधिकारों की रक्षा का भार केन्द्रीय शासन को समर्पित कर दे, तीसरा यह कि आवश्यकतानुसार वे केन्द्र को नियत सैनिक पहुँचाते रहे, चौथा यह कि वे अपने को साम्राज्य का अविभाजित अंग माने, अलग ईकाई न बने रहें। इसके बदले बादशाहतकृ सर्वोच्च पद उनके लिये खुले थे और धर्म अथवा जाति भेद के बावजूद पद की समानता के भीतर सबको मान्यता प्राप्त थी।

(•प) गुजरात की विजय

गुजरात का बहुत सैनिक, व्यापारिक तथा सामाजिक महत्व था। हुमायूँ ने इसे जीता लेकिन अपनी मूर्खता के कारण इसे खो दिया। अतः अकबर ने मालवा तथा चित्तौड़ को जीतने के बाद गुजरात को भी जीतने का निष्चय किया। यहाँ का शासक मुजफ्फर तृतीय एक अयोग्य शासक था। इसलिये गुजरात

में अराजकता फैली हुई थी तथा वहाँ की प्रजा भी असन्तुष्ट थी। अकबर ने 1572 ई. में मिर्जा मुहम्मद अतका के नेतृत्व में गुजरात जीतने के लिये सेना भेजी। मुजफ्फर खाँ तत्स्थीय ने बिना विरोध किये मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् अकबर ने गुजरात के मिर्जा को सारनाथ के स्थान पर हराकर सूरत पर अधिकार कर लिया। खने आजम मिर्जा अजीज कोका को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया गया। लेकिन कुछ समय पश्चात् वहाँ मिर्जा ने 20,000 की सेना तैयार कर ली और विद्रोह कर दिया। मिर्जा कोका ने अकबर की सहायता मांगी। अकबर ने फतेहपुर सीकरी से अहमदाबाद तक के 500 मील रास्ते को 11 दिन में तय किया। अहमदाबाद के स्थान पर घमासान युद्ध हुआ। विद्रोहियों को पूर्ण रूप से दबा दिया गया। गुजरात में मुगल शक्ति की धाक जम गई। गुजरात विजय से अकबर को कई लाभ हुए (1) गुजरात मुगल साम्राज्य का भाग बन गया। (2) मुगलों को स्वतंत्र समुद्री मार्ग प्राप्त हो गया। (3) मुगल पुर्तगालियों के सम्पर्क में आये। (4) राजा टोडरमल ने अपना प्रथम भूमि बन्दोबस्त गुजरात में आरम्भ किया।

पूर्वी एवं उत्तरी भारत की विजयें

(प) बंगाल तथा बिहार की विजय — सूर वंश के पतन के पश्चात् बिहार के अफगान सूबेदार सुलेमान किरानी ने अपने आपको स्वतंत्र शासक घोषित किया तथा बंगाल को जीतकर

अपने राज्य का विस्तार कर लिया। अकबर के महत्व को जानते हुए उसने अकबर की अधीनता मान ली। 1572 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का दाउद खां शासन बना। उसने अपने आप को मुगल साम्राज्य से स्वतंत्र घोषित कर दिया तथा पटना के मुगल किले पर अधिकार कर लिया। अतः 1574 ई. में अकबर ने मुनीम खां तथा टोरमल के नेतृत्व में दाउद खां विरुद्ध मुगल सेना भेजी तथा कुछ समय पश्चात् स्वयं भी मुगल सेना से आ मिला। पटना तथा हाजीपुर पर अधिकार कर लेने के पश्चात् दाउद खां ने फिर विद्रोह कर दिया। अकबर ने खानेजहाँ तथा टोडरमल ने नेतृत्व में सेनाएं भेजी। राजमहल के निकट युद्ध में दाउद पकड़ा गया तथा उसका वध कर दिया गया। बंगाल को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया। काबुल पर अधिकार अकबर का सौतेला भाई मिर्जा मुहम्मद हकीम काबुल का शासक था। वह हिन्दुस्तान का मालिक बनना चाहता था इसलिये अपने-अपने कुछ सरदारों से मिलकर अकबर

का राज्य छीनने का असफल प्रयास किया। उसकी साजिशों से तंग आकर अकबर ने 1581 ई. में मिर्जा हकीम की मृत्यु का लाभ उठाते हुए काबुल को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया मानसिंह को वहां का शासक नियुक्त कर दिया।

(पपप) काश्मीर की विजय काश्मीर के शासक यूसूफ खां ने अकबर की अधीनता मान ली लेकिन वह स्वयं अकबर से मिलने नहीं आया इसलिये अकबर उससे सन्तुष्ट न था। तथा उसने काश्मीर को मुगल साम्राज्य में मिलाने का निश्चय किया। 1586 ई. में कासिम खां तथा राजा भगवानदास को काश्मीर विजय के लिये भेजा गया। जिसने यूसूफ खां तथा उसके बेटे याकूब खां को हरा दिया तथा काश्मीर को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया।

पश्चिमी भारत में अब सिन्ध ऐसा प्रदेश था, जिसने अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की थी इसलिए मुल्तान के गवर्नर खानखाना अब्दुरहीम को सिन्ध विजय करने के लिये 1591 ई. में भेजा गया। उस समय सिन्ध का शासक जानोवेग था उसने सहवान के स्थान पर साहसपूर्वक मुगलों का सामना किया लेकिन अन्त में हार गया तथा मुगलों के आगे आत्मसमर्पण कर दिया तथा सहवाग के किले सहित सम्पूर्ण सिन्ध मुगलों के अधिकार में आ गया।

(अ) कन्धार की विजय कन्धार ऊन के व्यापार का एक प्रसिद्ध केन्द्र था तथा काबुल पर अधिकार बनाये रखने के लिये कन्धार को नियन्त्रण में रखना जरूरी था। इसलिए 1590 ई. में अकबर ने कन्धार पर आक्रमण किया लेकिन उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। 1595 ई. में कन्धार बिना किसी युद्ध के मुगलों के अधिकार में आ गया क्योंकि कन्धार के गवर्नर मुजफ्फर हुसैन मिर्जा के ईरान के शाह से अच्छे सम्बन्ध नहीं थे इसलिये उसने अपनी रक्षा के लिये किला स्वेच्छा से मुगलों को सौंप दिया तथा अकबर ने उसे पांच हजार मनसबदार नियुक्त कर दिया और सम्भल की जागीर प्रदान की।

उत्तर पश्चिमी कबीलों का दमन – काबुल पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अकबर ने उत्तर पश्चिम के उपद्रवी कबीलों को कुचलने की ओर ध्यान दिया क्योंकि ये कबीले समस्याएं उत्पन्न करने लगे थे। एक ओर उजबेगों का नेता अब्दुला खां उजबेग अकबर के साम्राज्य के सारे उत्तर-पश्चिमी सूबों पर अधिकार करने की योजनाएं बना रहा था तथा दूसरी ओर यूसूफजाई तथा रोषनाई कबीले उपद्रव मचा रहे थे। इन कबीलों में सबसे शक्तिशाली तथा

भारत का इतिहास

खतरनाक यूसूफजाई कबीला था। 1585 ई. में जैन खां तथा राजा बीरबल के नेतृत्व में सेना भेजी गई जिसका यूसूफजाईयों ने वीरता से सामना किया। मुगलों की भारी हानि हुई। बीरबल समेत 8,000 के लगभग मुगल सैनिक इस लड़ाई में मारे गये। अकबर को यह समाचार सुनकर बहुत दुख हुआ। अकबर ने मुगल साम्राज्य के सम्मान को पुनः स्थापित करने तथा अपनी हार का बदला लेने के लिए राजा मानसिंह तथा टोडरमल के अधीन एक विशाल सेना भेजी। मुगलों ने यूसूफजाईयों को बुरी तरह पराजित किया, तथा खोए हुए सम्मान को पुनः स्थापित किया।

दक्षिण भारत की विजयें

उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अकबर ने दक्षिण भारत की ओर अपना ध्यान किया। उस समय दक्षिण भारत में चार प्रसिद्ध राज्य थे— खानदेश, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा। अकबर ने इन सब रियायतों के पिया राजाओं को यह सन्देश भेजा कि वे उसकी अधीनता स्वीकार कर लें। खानदेश के शासक मीरन अली खां को छोड़ कर पेश सबने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। अतः अकबर ने उनके राज्यों पर अधिकार की योजनाएं बनाई।

(प) अहमदनगर की विजय — जब अहमदनगर के शासक ने अकबर की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया तो 1595 ई. में अकबर ने अब्दुरहीम खानखाना तथा राजकुमार मुराद के नेतृत्व में अहमदनगर पर आक्रमण करने के लिये सेना भेजी। उस समय बहादुर निमाम शाह वहाँ का शासक था। नाबालिग होने के कारण उसकी माता चाँद बीबी ही वहाँ की शासन — बागडोर संभाले हुए थी। जब मुगल कृ सेना ने दुर्ग पर आक्रमण किया तो चाँद बीबी ने सफलतापूर्वक किले की रक्षा की। अन्त में मुगलों को उनके साथ सन्धि करनी पड़ी। 20 मार्च, 1596 ई. को हुई इस सन्धि के अनुसार बहादुर निजाम शाह ने मुगलों की अधीनता स्वीकार करते हुए उन्हें बरार का इलाका दे दिया। दो वर्षों के पश्चात् अहमदनगर के सरदारों ने सन्धि को मानने से इन्कार करते हुए बरार पर पुनः अधिकार के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। अहमदनगर पर पुनः आक्रमण करने के लिये सम्राट ने अब्दुरहीम तथा अली खां को भेजा। दोनों पक्षों में

भयंकर युद्ध हुआ इसमें मुगलों को बहुत हानि उठानी पड़ी। मीरन अली खां भी इस युद्ध में लड़ते हुए मारा गया। परन्तु अन्त में विजय मुगलों की हुई। अकबर दक्षिण विजय के इस प्रगति से सन्तुष्ट न था। 1599 ई. में उसने अब्दुरहीम खानखाना तथा राजकुमार दानियाल को भेजा तथा स्वयं भी दक्षिण की ओर चल पड़ा।

21 अप्रैल 1600 ई. में मुगल सेना ने अहमदनगर के किले को घेरे में ले लिया। चार महीने की घेराबन्दी के पश्चात् 28 अगस्त, 1600 ई. को अहमदनगर के दुर्ग पर गोलाबारी करने से अहमद नगर के 1500 सैनिक मारे गये। अन्त में किले पर मुगलों का अधिकार हो गया। शिषु सुल्तान बहादुर निजाम शाह को बन्दी बनाकर ग्वालियर के किले में भेज दिया गया। परन्तु इससे अहमदनगर का राज्य पूरी तरह से सामप्त नहीं हुआ। अहमदनगर के सरदार एक अन्य बालक के शासन के नाम से मुगलों से संघर्ष करते रहे और अहमद नगर राज्य का अधिकांश भाग मुगल सत्ता से स्वतंत्र रहा।

खानदेश पर विजय – दक्षिण राज्यों में खानदेश पहला राज्य था जिसके फारुकी वंश के शासक मीरन अली खां ने अकबर की अधीनता स्वीकार की थी। जबतक वह जीवित रहा, मुगलों के प्रति वफादार रहा। इस वफादारी को निभाते हुए वह अहमदनगर की सेना के विरुद्ध सूपा के युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी मीरन बहादुर शाह ने पासा पलटते हुए मुगलों की अधीनता मानने से इन्कार कर दिया तथा अपने पिता से की गई मुगलों की सन्धि को टुकरा दिया अभी अहमदनगर से युद्ध चल ही रहा था कि उसने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी इस बार अकबर ने स्वयं खानदेश पर चढ़ाई कर दी। खानदेश की राजधानी बुराहनपुर पर कब्जा करने के पश्चात् अकबर ने वहाँ षक्तिपाली तथा अजेय दुर्ग असीरगढ़ को घेर लिया। छः महीने तक इसकी घेराबन्दी जारी रही। अकबर ने धोखे से मीरन बहादुर शाह को बन्दी बना लिया फिर भी उसके एक अफ्रीकी सेनापति याकूब ने किले से षत्रु का बहादुरी से मुकाबला किया। अन्त में अकबर ने छलकपट का सहारा लेते हुए रिश्वत के रूप में बहुत भारी रकम देकर बहुत से सैनिकों को अपनी तरफ कर लिया। सेनापति याकूब ने यह देखकर निराशा में आत्महत्या कर ली बाकी सैनिकों ने किले के द्वार खोल दिये, इस प्रकार 6 जनवरी 1601 ई. को किले पर मुगलों का कब्जा हो गया। असीरगढ़ की विजय अकबर की 45 वर्षों की निरन्तर विजयों की लम्बी सूची में अन्तिम विजय थी। खानदेश की विजय की याद में अकबर ने राजधानी फतेहपुर सीकरी में प्रसिद्ध बुलन्द दरवाजा (उनसंदक कतूरं) का निर्माण करवाया।

प्रशासनिक सुदृढकरण

साम्राज्य का सूबों में विभाजन

इस प्रकार 1560 ई. से 1602 ई. तक अकबर अपने साम्राज्य विस्तार में लगा रहा। उसने उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के कई प्रदेशों पर विजय प्राप्त की तथा एक विषाल साम्राज्य की स्थापना की। उसका राज्य उत्तर में हिमालय तथा कश्मीर से लेकर दक्षिण में गोदावरी नदी तक तथा पूर्व में बंगाल से लेकर उत्तर- पश्चिम में हिन्दुकुश पर्वत तक फैला हुआ था। उसने अपने समस्त साम्राज्य को 15 प्रान्तों में बांटा, जिनके नाम थे – (1) आगरा (2) इलाहाबाद (3) इलाहाबाद (4) अवध (5) बंगाल (6) बिहार (7) अहमदाबाद (8) दिल्ली (9) लाहौर (10) मुल्तान (11) मालवा (12) काबुल (13) अहमदनगर (14) बरार (15) खानदेश ।

सैन्य प्रशासन

अकबर ने सैन्य प्रशासन को भी एक नया स्वरूप प्रदान किया। उसने सेना को संगठित करने के लिए पूरवर्ती परंपराओं तथा नवीन उपायों का संयुक्त रूप से प्रयोग किया और उसने एक केन्द्रीयकरत सैन्य ढांचे को विकसित करने का प्रयास किया। उसने सैन्य एवं नागरिक अधिकारियों को उनकी योग्यता या राज्य की सेवा के आधार पर मनसब प्रदान किया। मनसब का शाब्दिक अर्थ है पद और भ्रंतजकृ

मनसबदार का तात्पर्य है पद को धारण करने वालों अकबर ने अपनी मनसबदारी व्यवस्था में 66 स्तरों की रचना की अर्थात् दस सैनिकों के नेतृत्व (दहवाषी) से दस हजार सैनिकों (दसहजारी) तक का नेतृत्व करना।

भारत का इतिहास

सभी मनसबदारों को नकद धन या जागीर के रूप में अदायगी की जाती थी। अकबर के शासन काल में जिस सैन्य प्रशासन को विकसित किया गया था उसके उत्तराधिकारियों के शासन के दौरान उसमें कई परिवर्तन किये गये। स्वायत्त सरदारों के प्रति नीतियां रू मुगल साम्राज्य को सुदृढ़ करने के प्रयासों में अकबर करने के प्रयासों में अकबर ने अपना ध्यान स्वायत्त सरदारों की ओर भी आकर्षित किया। सरदार शब्द का प्रयोग उन शासक वंशों के लिए किया गया है जो सम्पूर्ण देश में फैले हुए छोटे-छोटे क्षेत्रों में किसी न किसी रूप में शासन करते थे (इतिहासकारों के बीच इस शब्द के प्रयोग पर आम सहमति है) इन शासकों को मुगलों के साथ संबंधों में एक विशिष्ट प्रकार का दर्जा प्राप्त था। जहां एक ओर वे अपने शासित क्षेत्र पर अपना प्रशासन चलाने के लिए स्वतंत्र थे वहीं पर वे मुगल साम्राज्य के परिप्रेक्ष्य में एक सहायक की स्थिति रखते थे।

अकबर की सफलता इस तथ्य में निहित थी कि वह अपने साम्राज्य के स्थायित्व के लिए इन सरदारों का समर्थन प्राप्त करने में सक्षम रहा और अकबर ने उत्तराधिकारियों ने भी लगभग इसी नीति का अनुसरण किया।

(प) सरदारों की स्वायत्तता का प्रकृति

समकालीन विवरणों में इन सरदारों का उल्लेख राय, राणा, रावत, राजा, मराजवान, कलन्तरान (अंतिम दो नाम फारसी के हैं) आदि के रूप में हुआ है। कभी-कभी जमींदार शब्द का प्रयोग साधारण भूमि स्वामी तथा सरदारों दोनों के लिए हुआ है। मुगल प्रभुत्व के अधीन जमींदार स्वतंत्र न थे जबकि सरदारों को अपने शासित क्षेत्रों में पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त थी तथा ये मुगल शासकों के साथ एक विभिन्न प्रकार का संबंध रखते थे।

(पप) सरदारों के साथ मुगलों का संघर्ष –

लोदियों की पराजय के बाद बाबर के अधीन भारत की केन्द्रीय सत्ता को अफगानों

लोदियों की पराजय के बाद बाबर के अधीन भारत की केन्द्रीय सत्ता को अफगानों तथा स्वायत्त सरदारों के संयुक्त विद्रोहों का सामना करना पड़ा। हुमायूँ को भी उनकी षत्रुता का सामना करना पड़ा।

सरदारों के साथ अकबर का प्रारंभिक संपर्क संघर्षों तथा युद्धों के माध्यम से हुआ। कई मामलों में ये सरदार मुगल एवं अफगान विद्रोहियों के साथ मिल गये। मुगल सत्ता के सुदृढ़ीकरण एवं विजयों की प्रक्रिया में अकबर ने सरदारों का समर्थन प्राप्त किया और कई ने मुगलों की अधीनता को भी स्वीकार किया। अकबर की इन सरदारों के प्रति कोई घोषित औपचारिक नीति न थी। समकालीन स्रोतों में उपलब्ध संदर्भों के आधार पर हमें मुगलों तथा सरदारों के बीच के संबंधों की जानकारी प्राप्त होती है। उनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है

1. विजय के पश्चात् या उनके द्वारा अधीनता स्वीकार करने बाद उनको अपने क्षेत्रों का प्रशासन करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया गया। उनके पास राजस्व एकत्रित करने, व्यवसायिक कर तथा पारगमन कर (पथकर) आदि करों को लगाने के अधिकार थे। राजस्व एकत्रित करने में सरदार मुगल अधिनियमों को अपेक्षा स्थानीय परंपराओं का अनुसरण करते थे।

2. ये स्वायत्त सरदार मुगलों के लिए सैन्य सेवायों भी करते थे। उनको जागीरों एवं मनसब प्रदान किये जाते थे। ए. आर. खा के अनुसार अकबर के शासन के दौरान लगभग 61 राजाओं और सरदारों को मनसब प्रदान किये गये। इसी प्रकार की परंपरा का निर्वाह अन्य मुगल सम्राटों द्वारा भी किया गया।

3. जिन मामलों में सरदारों को मनसबदार नहीं बनाया गया वे भी अक्सर षत्रुओं के विरुद्ध चलाये गये सैनिक अभियानों एवं विद्रोहों का दमन करने में मुगल सेनाओं की मदद करते थे। संपूर्ण मुगल शासन के दौरान इन सरदारों ने न केवल विषाल क्षेत्रों को विजित करने में मदद की अपितु उन्होंने कई स्वायत्त शासकों के विरुद्ध भी मुगलों की सहायता की। 4. सैन्य मदद उपलब्ध कराने के अतिरिक्त अक्सर इन सरदारों को प्रशासन में सूबेदार (गवर्नर), दीवान, बख्शी आदि जैसे महत्वपूर्ण पदों पर भी नियुक्त किया जाता था।

5. अन्य जागीरों के अतिरिक्त उनको अक्सर जागीर के तौर पर उनके अपने क्षेत्रों को भी दिया जाता था। जिन्हें वतन जागीर कहा जाता। ये जागीरें पैतृक एवं अपरिपत्नीय थीं।

6. उनके संबंधों की मुख्य विशेषता यह भी थी कि यदि परिवार के अंदर शासक को लेकर किसी प्रकार का विवाद उठ खड़ा होता तब सरदार के अधिकारों को मान्यता प्रदान करने का अधिकांश मुगल सम्राटों को था। जिन सरदारों ने मुगलों की अधीनस्थता को स्वीकार किया उनको मुगल सम्राटों ने सैनिक सुरक्षा भी प्रदान की।

7. सरदारों से यह आशा की जाती थी कि वे मुगल सम्राट को लगातार नजराना देते रहें जिसको पेशकश कहा गया। इस पेशकश के वास्तविक चरित्र को पहचान पाना कठिन है। उस समय इसको नकदी, तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं जैसे हीरे, सोना एवं हाथियों के रूप में अदा करना होता है।

8. मुगल शाही परिवार तथा सरदारों के बीच वैवाहिक संबंधों को भी कायम किया गया। स्वायत्त सरदारों के विद्रोह

सरदारों द्वारा किये गये बहुत से विद्रोहों के विवरण हमें मिलते हैं। इस प्रकार के विद्रोहों के कारणों के विषय में समकालीन ग्रंथों के अक्सर राजस्व या नजराने की अदायगी न करना बताया है। विद्रोहों की स्थिति में अधिकांशतरु सरदारों को उनके क्षेत्र से बेदखल नहीं किया गया अपितु फिर उन्हें या परिवार के किसी अन्य सदस्य को उस क्षेत्र को सौंप दिया जाता। अगर कुछ अन्य मामलों में किसी सरदार को –उसके क्षेत्र से बेदखल कर दिया जाता तब यह केवल डांट-फटकार के लिए होता था और कुछ समय बाद उसी को या उसके किसी परिवार के सदस्य को सत्ता में पुनः स्थापित कर दिया जाता।

112

सरदारों के प्रति जिस नीति का प्रारंभ अकबर ने किया था वह आगामी मुगल सम्राटों के शासनकाल में भी जारी रही। इन सरदारों को मुगल कुलीनों या मनसबदार के रूप में शामिल करने की नीति साम्राज्य लिए के अति लाभप्रद साबित हुई। मुगल सम्राटों ने सरदारों का समर्थन तब तक नवीन विजयों के लिए उनकी सेवायें प्राप्त की। मुगल कुलीनों के रूप में इस विषाल साम्राज्य के प्रशासन का संचालन करने में इन सरदारों ने महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की। इन सरदारों के साथ मित्रतापूर्ण संबंधों ने साम्राज्य के लिए शांति को सुनिश्चित किया।

भारत का इतिहास

इन नीति से सरदारों को भी लाभ हुआ। अब वे अपने क्षेत्र को अपने पास बनाये रख सकते थे तथा अपनी इच्छानुसार अपने क्षेत्र का प्रशासन चला सकते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य जागीरें तथा मनसब भी प्राप्त किये। कई बार उनको अपने षत्रुओं के तथा विद्रोहियों के विरुद्ध मुगल साम्राज्य से सुरक्षा भी प्राप्त हुई।

इकाई सारांश

हमने इस इकाई में अध्ययन किया कि अकबर काफी कम आयु में सम्राट बन गया था। कम आयु के युवा सम्राट के लिए बैरम खां ने प्रथम चार वर्ष तक संरक्षक के रूप में कार्य किया। मुगल कुलीन वर्ग कई गुटों में विभाजित था और वे अपनी सर्वोच्चता को स्थापित करना चाहते थे। अकबर ने धीरे-धीरे स्थिति को अपने नियंत्रण में कर लिया तथा ऐसे कुलीनों का एक गुट निर्मित किया जो उसके प्रति समर्पित था। इस समय मुगल साम्राज्य का नियंत्रण एक सीमित क्षेत्र तक ही था।

अकबर ने विजयों की नीति का प्रारंभ किया और पूर्वत्र पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण के विषाल क्षेत्रों को मुगल साम्राज्य के अधीन कर लिया गया। यद्यपि दक्षिण में सफलता केवल दक्खन के क्षेत्रों तक सीमित थी। विजयों के साथ सुदृढीकरण की नीति का भी प्रारंभ किया गया। सुदृढीकरण की नीति के परिणामस्वरूप विजित क्षेत्रों को एकीकृत प्रशासनिक व्यवस्था के अंतर्गत रखा गया। जिस सुदृढीकृत साम्राज्य का गठन अकबर द्वारा किया गया था उसे सौ वर्षों से भी अधिक उसके उत्तराधिकारी मुगल सम्राटों द्वारा सुरक्षित रखा गया। औरंगजेब के शासन के दौरान दक्खन के बीजापुर, गोलकुण्डा आदि तथा उत्तर-पूर्व के नये क्षेत्रों को मुगल साम्राज्य में शामिल किया गया। साम्राज्य के प्रसार एवं सुदृढीकरण के लिए स्वायत्त सरदारों की सहायता प्राप्त करना मुगल सम्राटों की महत्वपूर्ण सफलता थी।

अभ्यास-प्रश्न

1. पानीपत के द्वितीय युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालें।
2. राणा प्रताप के मुगलों के विरुद्ध संघर्ष का वर्णन कीजिये।
3. अकबर एक राष्ट्रीय शासक था। इस कथन की विवेचना कीजिये।
4. क्या अकबर मुगल साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था? स्पष्ट कीजिए।

जहाँगीर – मुगल राजनीति में नूरजहाँ की भूमिका (1605–1627)

प्रारम्भिक जीवन

भगवद् अराधना, संतों के संचित आशीर्वाद, अजमेर के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह की पैदल यात्रा तथा फतेहपुर सीकरी के श्रेष्ठ सलीम चिश्ती के आशीर्वाद के पश्चात् अकबर की पत्नी और अमेर की राजकुमारी मरियम उल्लमानी ने 30 अगस्त, 1569 ई. को मुहम्मद सलीम को जन्म दिया। अकबर के अन्य सभी पुत्र युवावस्था में ही चल बसे थे, अतः सलीम का बड़े लाड़-प्यार से पालन-पोषण हुआ। उसकी शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया। राजकुमार को फारसी, तुर्की, अरबी, गणित, हिन्दी, इतिहास, भूगोल तथा अन्य उपयोगी शास्त्रों को सम्यक् ज्ञान देने के लिए अनेक योग्य आचार्य नियुक्त किये गये। जिसमें प्रमुख विद्वान अब्दुरहीम खानखाना का सलीम पर व्यापक प्रभाव पड़ा। सलीम को न केवल सैनिक

शिक्षा की गयी बल्कि 1581 ई. के काबुल अभियान के अवसर पर उससे सेना की एक टुकड़ी का अध्यक्ष बनाकर भी भेजा गया। तत्पश्चात् उसे स्वतन्त्र रूप से सैन्य संचालन के साथ शासन की भी शिक्षा दी गयी।

पन्द्रह वर्ष की आयु में सलीम का पहला विवाह आमेर के राजा भगवानदास की पुत्री और राजा मानसिंह की बहन मानबाई के साथ 13 फरवरी, 1585 ई. में हुआ था। सलीम का सबसे बड़ा लड़का खुसरो इसी की सन्तान था। मानबाई ने 1604 ई. में खुसरों के पितृ-भक्ति विहीन व्यवहार से दुःखी होकर आत्म-हत्या कर ली थी। मानबाई के जीवनकाल में ही सलीम ने रमणियों से विवाह कर लिये थे जिसमें जोधपुर के मोटा राजा उदयसिंह की पुत्री रजत गुसाई उर्फ जोधाबाई का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसकी सन्तान षहजादा म (षाहजहाँ) था। बाद में तो उसके अन्तःपुर में स्त्रियों की संख्या 800 हो गयी थी जहाँगीर के तीसरे पुत्र परवेज का जन्म उसकी एक बेगम साहिब-ए-जमाल से और षहर का जन्म एक रखेल में हुआ था। अल्पायु से ही उसने सुरापान आरम्भ कर दिया था अन्य इंद्रिय-जन्य भोगों का भी वह काफी व्यसनी हो गया था। अपने पिता अकबर के न्तिम दिनों में उसने उसके खिलाफ विद्रोह किया और स्वतन्त्र शासक बनने का प्रयत्न किया। इससे अकबर बहुत दुःखी हुआ और खुसरो को अपना उत्तराधिकारी बनाने पर विचार करने लगा। इससे दरबार में दो दल बन गये— एक सलीम के पक्ष में और दूसरा खुसरों के पक्ष में। खुसरो मानसिंह का भानजा और मिर्जा अजीज कोका का दामाद होने के कारण ये दोनों सलीम के समन और खुसरो के राज्याभिषेक के पक्ष में थे। परन्तु इनके अनुयायी अल्प संख्या में थे। इधर बाप-बेटे में समझौता हो जाने तथा अकबर के अन्य दो पुत्र मुराद व दानियाल की मृत्यु हो जाने पर एकमात्र पुत्र सलीम को ही अकबर द्वारा अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने से खुसरो का पक्ष कमजोर हो गया और अकबर की मृत्यु के पश्चात् सलीम जहाँगीर के नाम से बादशाह बना।

राज्याभिषेक

3 नवम्बर, 1605 ई. को आगरा के किले में जहाँगीर का राज्याभिषेक हुआ और उसने झूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह गाजी की उपाधि ग्रहण की। जहाँगीर ने अपने पक्ष के सरदारों को उच्च पद दिये तथा अधिकांश अधिकारियों को अपने पुराने पदों पर यथावत् रहने दिया। अकबर की परम्परा को कायम रखते हुए जहाँगीर ने अपना शासन उदारता से आरम्भ किया और गद्दी पर बैठते ही उसने निम्न 12 आदेश जारी किये।

(1) तमगा नामक कर जिसमें मीर बहरी (नदी मार्ग कर) तथा अन्य महसूल सम्मिलित थे, समाप्त कर दिये।

(2) सड़कों के किनारे सराय, मस्जिद और कुओं के निर्माण के आदेश दिये।

(3) व्यापारियों की जानकारी और स्वीकृति के बिना उनके सामान की तलाशी न ली जाय।

(4) मृत्यु के पश्चात् किसी मनुष्य की सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारी को सौंप दी जाय और यदि उसका कोई उत्तराधिकारी न हो उसकी सम्पत्ति का प्रयोग सार्वजनिक भवनों के निर्माण में किया जाय।

(5) मद्य तथा अन्य मादक पदार्थों का निर्माण एवं क्रय-विक्रय निषिद्ध कर दिया गया। .

भारत का इतिहास

(6) राजकीय कर्मचारियों को किसी के घर पर बलपूर्वक अधिकार कर लेने की मनाही की गयी।

(7) नाक व कान काटने के दण्ड को अवैध घोषित कर दिया गया।

(8) किसानों की भूमि पर कोई भी जबरदस्ती अधिकार न करे।

(9) राज्य के खर्च से दोनों और असहायों की चिकित्सा के अस्पताल खोले जाये।

(10) बिना बादशाह की आज्ञा के जागीरदार अथवा परगनों के अध्यक्ष विवाह सम्बन्ध न करें।

(11) सप्ताह में दो दिन गुरुवार जब जहाँगीर राज्यारूढ़ हुआ और रविवार जो अकबर का जन्म दिन था तथा वर्ष के कुछ अन्य दिनों में पशु हत्या न की जाया

(12) दान में दी गयी भूमि उसी प्रकार पुराने व्यक्तियों के पास रहे तथा सभी कैदी छोड़ दिये जाँ।

जहाँगीर ने आगरे के किले के षह-बुर्ज से लेकर यमुना नदी के किनारे तक एक सोने की जंजीर भी डलवा दी जिसे खींचकर कोई भी व्यक्ति बादशाह के सोधे न्याय के लिए फरियाद कर सकता था।

अकबर के राज्यकाल के अन्तिम दिनों में जिन राज्य पदाधिकारियों का व्यवहार उसके प्रतिकूल था, उन्हें क्षमा कर दिया और यथावत् बना रहने दिया। उसने कुछ नई नियुक्तियों की जिसमें दो विशेष रूप से योग्य पात्र थे— एक नूरजहाँ का पिता गियासबेग जो दीवान अथवा राज्य कर मंत्री नियुक्त किया गया और उसे इतमादुद्दौला का खिताब दिया, दूसरा, जमानाबेग था जिसे महाबतखाँ अकबर के राज्यकाल के अन्तिम दिनों में जिन राज्य-पदाधिकारियों का व्यवहार उसके प्रतिकूल था, उन्हें क्षमा कर दिया और यथावत् बना रहने दिया। उसने कुछ नई नियुक्तियों की जिसमें दो विशेष रूप से योग्य पात्र थे— एक नूरजहाँ का पिता गियासबेग जो दीवान अथवा राज्य कर मंत्री नियुक्त किया गया और उसे इतमादुद्दौला का खिताब दिया, दूसरा, जमानाबेग था जिसे महाबतखाँ की उपाधि दी गयी तथा 1500 का

मनसबदार बनाया गया था।

खुसरो का विद्रोह (अप्रैल-मई १६०६ ई.)

जहाँगीर के राज्यारोहण के कुछ महीनों के भीतर ही उसके 17 वर्षीय ज्येष्ठ पुत्र खुसरों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अकबर के अन्तिम दिनों में राजा मानसिंह और मिर्जा अजीज कोका ने खुसरों को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न किया था, परन्तु उसमें वे असफल रहे। तब राजा मानसिंह ने खुसरों को लेकर बंगाल जाने की तैयारी की परन्तु जहाँगीर के आश्वासन पर वापस आ गया और खुसरो को जहाँगीर को सौंप दिया। जहाँगीर ने उसे उस समय तो क्षमा कर दिया परन्तु मानसिंह के बंगाल जाते ही खुसरों को आगरे के किले के एक भाग में बन्दी बना लिया और कुछ समय बाद मानसिंह को भी बंगाल की सूबेदारी से पृथक् कर दिया। अपने पिता के इस व्यवहार से तह क्रुद्ध हो उठा और उसने राजसत्ता हथियाने का निष्पत्ति किया। 6 अप्रैल 1606 ई. को अपने 350 अश्वारोहियों के साथ सिकन्दरे

में अकबर के मकबरे को देखने के बहाने वह आगरा के किले से भाग निकला। दिल्ली होता हुआ वह लाहौर की तरफ बढ़ा। इस समय तक उसके समर्थकों की संख्या करीब 12,000 तक हो गई। तरनतारन में खुसरों ने सिक्खों के पाँचवें गुरु, अर्जुन देव के आषीर्वाद भी प्राप्त किया। लाहौर के गवर्नर दिलवरखों ने उसके लिए किले के फाटक न खोले। खुसरों के भागने की सूचना जहाँगीर को कुछ घंटों के पश्चात् ही मिल गयी। उसने तुरन्त एक सेना षहजादे का पीछा करने के लिए भेजी और स्वयं भी लाहौर की तरफ चल दिया। खुसरों ने भैरोबाल के मैदान में षाही सेना का मुकाबला किया, परन्तु उसकी हार हुई और वह भाग खड़ा हुआ। किन्तु चिनाव नदी पार करते समय खुसरों अपने साथियों सहित पकड़ा गया। 1 मई 1606 ई. को हथकड़ी पहनाये खुसरों को बन्दी रूप में पूरे दरबार में बैठे हुए सम्राट के सम्मुख लाया गया। उसके साथियों को –कठोर दण्ड दिया गया और एक मील लम्बी कतार में उनको सूली पर चढ़ा कर मार डाला गया तथा खुसरों को बन्दीगिरह में डालने का आदेश दिया। इस प्रकार एक माह में ही खुसरों का विद्रोह समाप्त हो

गया।

खुसरों के विद्रोह का असर राज्य में अन्यत्र भी हुआ और छोटे–मोटे दूसरे विप्लव भी हुए। बीकानेर का षासक रायसिंह जो पाँच हजारी मनसबदार था और जिसे षाही रमणियों को अपने संरक्षण में पंजाब ले जाने का काम सौपा गया था, उन्हें बीच मथुरा में ही छोड़कर बिना आज्ञा लिये बीकानेर चला गया और वहाँ विद्रोह का का झण्डा खड़ा कर दिया। राजा जगन्नाथ कछवाहा को उसके दमन के लिए भेजा गया। जिसने रायसिंह को हराकर उसे दरबार में उपस्थिति किया। इसी तरह बिहार के संग्राम नामक जागीरदार ने खुसरों के विद्रोह का लाभ उठाकर अराजकता पैदा की तथा कुतुबख़ाँ ने तो स्वयं को खुसरों ही घोषित कर दिया था जिन्हें बिहार के सूबेदार जहाँगीर कुलीख़ाँ ने परास्त कर दिया। परन्तु खुसरों के विद्रोह का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव फारस के षाह पर पड़ा जिसने अवसर पाकर मुगलों के अधीन कन्धार के किले को विजय करने के लिए खुरासान के गवर्नर को उत्तेजित कर आक्रमण करवा दिया किन्तु मुगल किलेदार षाहबेगखों की बहादुरी और जहाँगीर द्वारा समय पर सैनिक सहायता भेज देने पर फारसी सैनिकों के पैर उखड़ गये और वे पुनः खुरासान लौट गये। बादशाह जहाँगीर काबुल तक गया। ग्यारह सप्ताह वहाँ ठहरने के बाद जब वह काबुल से लाहौर वापस आ रहा था, तब मार्ग में उसकी हत्या कर उसके पुत्र खुसरों के राज्याभिषेक करने का एक बार फिर शड्यंत्र रच गया। खुसरों के अतिरिक्त इसमें राज्य के कुछ अन्य सरदार भी सम्मिलित थे परन्तु षहजादा खुर्रम को इसकी सूचना मिल गयी और उसने जहाँगीर को षह सूचना दे दी। जहाँगीर ने इस विषय में गहरी छानबीन की। शड्यन्त्रकारी को कठोर दण्ड दिया और खुसरों को अन्धकार करवा दिया गया। बाद में षाहजादे पर दया करके उसकी आँखों का इलाज कराया गया, परन्तु उसकी एक आँख में थोड़ी सी ही रोषनी आ सकी। इसके पश्चात् खुसरों को किले में बन्दी बना कर ही रखा गया।

खुसरों के विद्रोह का एक परिणाम मुगलों और सिक्खों के सम्बन्धों पर भी पड़ा। खुसरों के लाहौर पहुँचने पर सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुन देव ने न केवल उसे आषीर्वाद दिया बल्कि उसे पाँच हजार रुपये की आर्थिक सहायता भी दी थी। सम्राट को दर्पश्ट में राजद्रोही को सहायता देने के कारण गुरु अपराधी था। किंदवन्ती है कि जहाँगीर ने गुरु अर्जुन पर दो लाख रुपये का दण्ड किया जिसे गुरु ने देने से मना कर दिया। अतः उन्हें मरत्यु दण्ड

भारत का इतिहास

दे दिया गया। सम्राट का यह कार्य अनुचित और विवेकभून्ध था, क्योंकि गुरु अर्जुन ने खुसरों को जो आषीर्वाद और थोड़ा धन दिया था, उसका आधार राजनीतिक न होकर मानवता का था। सिक्खों ने इसे अपने धर्म पर अत्याचार माना और उनके गुरु के वध से मुगलों और सिक्खों के सम्बन्ध खराब हो गये।

नूरजहाँ तथा मुगल राजनीति पर उसका प्रभाव

जहाँगीर के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना जहाँगीर के साथ 1611 ई. में नूरजहाँ का विवाह है। विवाह के पश्चात् यह विख्यात महिला मुगल साम्राज्य में सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली बनी रही। इसके शासन सम्बन्धी मामलों पर असीम प्रभाव का उल्लेख करने से पहले यह अच्छा हो कि इस महिला का जीवन परिचय दिया जाय। नूरजहाँ का बचपन का नाम मेहरुन्निसा था। उसका पिता गियासबेग फारस का रहने वाला था। वह बहुत गरीब था और अपने पिता ख्वाजा मुहम्मद शरीफ को मृत्यु के बाद अपने भाग्य को आजमाने के लिए अपनी गर्भिणी पत्नी, दो लड़कों तथा एक लड़की को लेकर भारत की ओर चल दिया। रास्ते में उसे बहुत कठिनाइयाँ बर्दास्त करनी पड़ी, परन्तु काफिले के मालिक मलिक मसूद ने उसकी काफी सहायता की। कन्धार के निकट उसकी पत्नी अस्मत बेगम ने 1578 ई. में एक और कन्या को जन्म दिया जिसका नाम मेहरुन्निसा रखा गया। गरीबी के कारण इस नवजात शिशु को दम्पति अपने साथ ले जाने में असमर्थ थे। अतः उसे एक पेड़ के नीचे छोड़कर वे आगे बढ़ गये। अभी कुछ दूर ही गये थे कि ममत्व के कारण माँ ने अपनी बच्ची को उठा लाने के लिए पति से प्रार्थना की। कहा जाता है कि जब गियासबेग अपनी बच्ची को लाने के लिए पति से प्रार्थना की। कहा जाता है कि जब गियासबेग अपनी बच्ची को लाने गया तो एक सर्प कुण्डली मारे फन से बच्ची की धूप से रक्षा कर रहा था। शेर मचाकर सर्प को भगाकर वह बच्ची को उठा लाया। अनेक कष्टों का सामना करते हुए वे लाहौर पहुँचे जहाँ उसके एक पुराने मित्र ने गियासबेग को अकबर की सेवा में नियुक्ति दिलवा दी। असाधारण योग्यता का धनी गियासबेग उन्नति करता हुआ काबुल प्रांत के दीवान के पद तक पहुँच गया। इसी बीच मेहरुन्निसा मनोहारी युवती के रूप में विकसित हुई। अनुपम सौंदर्य और सुलभ गुणों के कारण युवराज सलीम उस पर मोहित हो गया। वह उससे विवाह करना चाहता था, परन्तु अकबर को यह सब अच्छा नहीं लगा। अतः मेहरुन्निसा का विवाह 1594 ई. में फारस से आये एक साहसी युवक अलीकुलीबेग से सम्पन्न हुआ, जिसे बाद में एक शेर को मारने के उपलक्ष में सलीम ने शेर अफगन की उपाधि दी। जब जहाँगीर बादशाह बना तो उसने शेर अफगन को बंगाल में बर्दवान की जागीर दी। शेर

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक) अफगन अपनी जागीर से सन्तुष्ट न था और सम्भवतया उसने वहाँ पर हो रहे अफगानों के विद्रोह को दबाने में कोई उत्साह नहीं दिखाया। अतः उस पर राजद्रोही होने का अभियोग लगाया गया और जहाँगीर ने बंगाल के तत्कालीन सुवेदार कुतुबुद्दीन खाँ को उसे दरबार में भेजने की आज्ञा दी। सूबेदार का आदेश मिलने पर शेर अफगन केवल दो व्यक्तियों को लेकर 9 अप्रैल 1607 ई. को कुतुबुद्दीन के शिविर में उपस्थित हुआ। कुतुबुद्दीन खाँ ने उसे बन्दी बनाने का प्रयास किया। इससे कोधित होकर शेर अफगन ने उस पर कटार से घातक प्रहार किया। परन्तु कुतुबुद्दीन के सैनिकों ने शेर अफगन और उसके दो आदमियों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। इसके बाद मेहरुन्निसा और उसकी पुत्री लाडली बेगम को दरबार में लाया गया। विधवा मेहरुन्निसा

को अकबर की विधवा सलीमा बेगम की सेविका के पद पर नियुक्त कर दिया गया। मार्च, 1611 ई. में नौरोज के त्यौहार पर जहाँगीर की दृष्टि उस पर पड़ी और वह उसके सौंदर्य पर आसक्त हो गया। मई 1611 ई. में उसने मेहरुन्निसा से विवाह कर लिया। बाद में उसे झूरमहल की उपाधि दी गई जो बाद में झूरजहाँ में परिवर्तित कर दी गई।

जहाँगीर और नूरजहाँ के सम्बन्धों पर विवाद

जहाँगीर और नूरजहाँ के विवाह को लेकर इतिहासकारों में मतभेद गहरा है। डॉ. बेनीप्रसाद का मत है कि षाहजादा सलीम ने मेहरुन्निसा को कभी नहीं देखा था। अकबर ने इस विवाह सम्बन्ध का निशेध भी नहीं किया था और न जहाँगीर का षेर अफगन के वध में ही कोई हाथ था। जहाँगीर ने मेहरुन्निसा को पहली बार 1611 ई. में देखा था। अपने मत के समर्थन में उन्होंने निम्न प्रमाण प्रस्तुत किये हैं— (1) तत्कालीन किसी भी फारसी ग्रंथ में इस प्रकार का कोई विवरण नहीं मिलता। (2) तत्कालीन यूरोपीय यात्री अथवा धर्म प्रचारकों ने भी इस कथानक से सम्बन्धित कुछ भी

उल्लेख नहीं किया है।

(3) उस समय बहु विवाह प्रथा प्रचलित थी। ऐसी स्थिति में अकबर सलीम को मेहरुन्निस से विवाह करने से क्यों रोकता ?

(4) यदि सलीम का मेहरुन्निसा से प्रेम होता तो अकबर षेर अफगन को सलीम के निजी कर्मचारियों के साथ 1599 ई. में मेवाड़ अभियान के समय नियुक्त न करता और सलीम बादशाह बनने के पश्चात् षेर अफगन के पद में वृद्धि नहीं करता।

(5) राजा मानसिंह को तो खुसरों का पक्ष लेने के कारण बंगाल की सूबेदारी से हटाया गया और उसके स्थान पर कुतुबुद्दीन खॉ को वहाँ का गवर्नर बनाया गया था न कि मेहरुन्निसा को सम्राट के पास भिजवाने के लिए।

(6) षाहजहाँ के समय के भी किसी स्रोत में इस घटना का उल्लेख नहीं है।

(7) नूरजहाँ जैसी श्रेष्ठ चरित्र की स्त्री को यह पता चलने पर कि उसके पूर्व पति की हत्या में जहाँगीर का हाथ है तो वह कभी भी उसके साथ विवाह करने के लिए सहमत नहीं होती!

मेहरुन्निसा को राज दरबार में इसलिए लाया गया था कि उसके पिता और भाई वहीं पर नियुक्त थे। सलीमा बेगम की सेविका के रूप में नियुक्ति भी कोई अपवाद स्वरूप घटना न थी।

इस प्रकार डॉ. बेनीप्रसाद जहाँगीर और नूरजहाँ के पहले की प्रेम की घटना तथा षेर अफगन की हत्या में जहाँगीर का हाथ होने की घटना का खण्डन करते हैं। इसी बात का समर्थन करते हुए डॉ. आर. पी. त्रिपाठी भी जहाँगीर तथा नूरजहाँ के पहले के प्रेम सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करते। डा. एस. आर. शर्मा भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं— डॉ. बेनीप्रसाद ने बड़ी योग्यता के साथ छानबीन ग्राह्य प्रतीत होती है।

इसके विपरीत डॉ. ईश्वरी प्रसाद का मत है कि षहजादा काल में जहाँगीर नूरजहाँ के प्रति आसक्त हाना और उससे विवाह करने के लिए उत्सुक होना सामान्य बात हैं और कदाचित

भारत का इतिहास

षेर अफगन के वध में भी उसका हाथ था। उन्होंने अपने मत के समर्थन में निम्न तर्क दिये हैं—

(1) जहाँगीर के पक्ष में दिये गये डॉ. बेनीप्रसाद के तर्क नकारात्मक हैं। उस जमाने के इतिहासकार अपने विचारों को बादशाह के बारे में प्रकट करने के लिए स्वतन्त्र नहीं थे। (2) केवल सन्देह मात्र के आधार पर षेर अफगन को दण्डित करने के लिए कुतुबुद्दीन को आदेश दिये गये थे। इसी आधार पर उसको जिस आकस्मिकता से बंदी बनाने की कोषिष की गई वह स्वयं सन्देहोत्पादक है।

(3) जहाँगीर ने अपने जीवन की हर छोटी घटना का उल्लेख अपनी आत्मकथा प्तुजुके जहाँगीरी में किया है, यह सन्देहास्पद है। उसने विवाह जैसी महत्वपूर्ण घटना का संकेत तक उसने इसमें नहीं किया है, यह सन्देहास्पद है। उसने विवाह के तीन वर्ष पश्चात् पहली बार नूरजहाँ का उल्लेख किया है।

(4) नूरजहाँ को दरबार में लाकर सलीमा बेगम की संविका के रूप में अन्तःपुर में रखना, जबकि उसके पिता और भाई दोनों राजधानी में मौजूद थे और उसकी आसानी से देखभाल कर सकते थे, विचित्र—सा लगता है। फिर राजद्रोही के सम्बन्धियों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया जाता था।

(5) जहाँगीर ने मेहरुन्निसा से चार वर्ष बाद विवाह इसलिए किया कि एक तो मेहरुन्निसा की

भावनाएँ शान्त हो जाएँ और दूसरा अन्य व्यक्तियों को उस पर सन्देह न रहे।

(6) षेर अफगन की मृत्यु का हाल लिखते हुए नूरजहाँ का उल्लेख तक नहीं करता। (7) प्रसिद्ध डच लेखक डी लायट ने जहाँगीर के षाहजादा काल में नूरजहाँ के प्रति आसक्त होने का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर डॉ. ईश्वरी प्रसाद का यह मानना है कि प्तत्कालीन तथ्यों का अध्ययन करने से यह कहा जा सकता है कि षेर अफगन की मृत्यु की परिस्थितियाँ बहुत ही सन्देहजनक हैं यद्यपि सम्राट को षेर अफगन की मृत्यु के लिए निर्विवाद रूप में दोषी नहीं प्रमाणित किया जा सकता है। हर्दो. ए. एल. श्रीवास्तव का झुकाव भी डा. ईश्वरी प्रसाद की तरफ है। उनका कहना है कि जहाँगीर को षेर अफगन की मृत्यु के लिए दोषी ठहराने के लिए तत्कालीन कोई भी स्पष्ट तथा अकाट्य प्रमाण नहीं मिलते, फिर भी यह स्पष्ट है कि षेर अफगन पर कोई निश्चित अभियोग भी न था। यदि था तो उसे उसके प्रति पूर्णरूपेण अनभिज्ञ रखा गया और अपनी निर्दोशता सिद्ध करने के लिए उसे कोई अवसर भी नहीं दिया गया। उसका अन्त आकस्मिक रूप से सम्पन्न करने की योजना, योजना को फलीभूत करने के लिए प्रयुक्त साधन, जहाँगीर की मृत षेर अफगन के प्रति उदारित घृणा तथा उसका नूरजहाँ के विषय में उल्लेख न करना आदि ये सब सन्देहजनक हैं। डॉ. ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, यदि प्रमाषक्ति की धारणा सत्य है तो षेर अफगन की हत्या का उद्देश्य भी स्पष्ट है।¹⁶ उन्होंने फिर लिखा है, षेविवाह—संस्कार का चार साल तक स्थगित कर देना जनसाधारण की सन्देह—दृष्टि से बचने के लिए अनिवार्य था। इसी कारणवश विवाह के तीन साल बाद ही नूरजहाँ का उल्लेख करने की सावधानी भी बरती गयी।¹⁷

नूरजहाँ का चरित्र

इस विवाह के समय जहाँगीर लगभग 42 वर्ष का तथा नूरजहाँ 34 वर्ष की थी। उसकी सुन्दरता और ताजगी अभी तक ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी। वह शिक्षित और तीक्ष्ण बुद्धि की थी। कविता, संगीत और चित्रकला में उसकी विशेष रुचि थी। वस्त्र, श्रृंगार और आभूषणों का उसे शौक था और उसमें उसने नये-नये ढंग और तरीके निकाले थे। वह अत्यन्त समाजप्रिय एवं उदार हृदय महिला थी। अनाथ लड़कियों के विवाह का खर्च वहन करने तथा प्रतिदिन प्रचुर मात्रा में दान देने का उसने नियम बना रखा था। वह वीर और धैर्यनिष्ठ थी तथा आवेष में आकर अपना संतुलन नहीं बिगाड़ती थी। शासन में उसे रुचि थी और समस्या का हल निकालने की उसमें असाधारण कुशलता थी। वह धार्मिक, सदाचारी और चरित्रवान थी। वह अत्यधिक महत्वाकांक्षिणी महिला थी। अतः सम्राट जहाँगीर के अपने प्रति विशेष लगाव का लाभ कृ उठाकर उसने राजकीय मामलों में हाथ बँटाना आरम्भ किया और धीरे-धीरे शासन की समस्त सत्ता अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया। शासन में उसका प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। यों को दी जाने वाली जागीर व सरदारों को दी जाने वाली उपाधियों पर नूरजहाँ की मोहर अनिवार्य हो गई। उसने जहाँगीर के साथ झरोखा-दर्शन में भाग लेना आरम्भ कर दिया तथा किन्ही-किन्ही सिक्कों पर उसका नाम खुदवाया जाने लगा। अपने विवाह के कुछ वर्षों के भीतर ही नूरजहाँ ने शासन पर अपना पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया और जहाँगीर केवल नाममात्र का शासक रह गया। वह कहा करता था कि एक षेर षराब और आधे सेर कबाब के बदले उसने हिन्दुस्तान का राज्य नूरजहाँ को दे दिया है। ऐसी स्थिति में शासन पर नूरजहाँ का प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक था। षीघ्र ही उसने अपना एक दल संगठित कर लिया तथा राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। इस दल का नाम नूरजहाँ जनता या नूरजहाँ गुट था जिसमें वह स्वयं, उसका पिता इतमादुद्दौला, उसका भाई आसफख़ाँ तथा षहजादा खुर्रम सम्मिलित थे। नूरजहाँ की माता अस्मत बेगम, जो एक सुशिक्षित तथा सन्तुलित विचारों की महिला थी, उसकी प्रधान परामर्षदात्री थी। 1612 ई. में नूरजहाँ के भाई आसफख़ाँ की पुत्री अर्जुमन्द बानू बेगम का खुर्रम के साथ विवाह का उल्लेख करते हुए डॉ. बेनीप्रसाद ने लिखा है कि, इतमादुद्दौला और आसफख़ाँ की युवराज खुर्रम के साथ सौंध का प्रतीक था। अगले दस वर्षों में इन चार परम योग्य व्यक्तियों की मण्डली ने साम्राज्य पर शासन किया जिसको नूरजहाँ का शासन कहा जाता है, वह वास्तव में इन चार व्यक्तियों का शासन था।

नूरजहाँ के प्रभुत्व का प्रभाव

नूरजहाँ के प्रभुत्व को दो भागों में बाँटा गया है। प्रथम 1611 से 1622 ई. तक इस समय उसके माता-पिता जीवित थे जिसके कारण उसकी महत्वाकांक्षा पर बड़ी रोक लगी हुई थी तथा खुर्रम और नूरजहाँ एक थे। द्वितीय 1622 से 1627 ई. तक। इस असें में उसके माता-पिता की मृत्यु हो गयी थी और नूरजहाँ की महत्वाकांक्षाओं को सीमित रखने वाला कोई न रहा। इधन जहाँगीर प्रायः बीमार रहता था जिस कारण नूरजहाँ को शासन में बहुत स्वतन्त्रता मिल गयी थी। यही समय ऐसा था जबकि नूरजहाँ और खुर्रम एक-दूसरे के विरोधी हो गये थे और नूरजहाँ ने खुर्रम के स्थान पर षहरयार को बढ़ाने का निष्पत्ति किया

था।



भारत का इतिहास

षाही सैनिकों का डटकर मुकाबला किया तथा षत्रु के दाँत खट्टे कर दिये । किन्तु औरंगजेब गा

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छल्लै

137

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

138

छल्लै

सड़कों पर फैल गये। यद्यपि अन्दरज्जाक लारी नामक एक बहादुर सरदार ने घायल होने पर भी षत्रु का डटकर मुकाबला किया किन्तु अंत में वह मारा गया और मुगलों का गोलकुण्डा के किले पर अधिकार हो गया। इस भयंकर परिस्थिति में भी अबुलहसन ने बड़े धैर्य से काम लिया। अपने प्रमुख सरदारों के साथ बैठकर उसने भोजन किया, पत्पच्चात आत्मसमर्पण कर दिया। औरंगजेब ने उसे गिरफ्तार कर दौलताबाद के किले में भेज दिया। उसे पचास हजार रूपया वार्षिक पेन्शन दे दी गयी और उसके राज्य को मुगल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार गोलकुण्डा पर अधिकार करने का जो स्वप्न 1656 ई. में अधुरा रह गया था, उसे इकतीस वर्ष बाद औरंगजेब ने पूरा किया।

मराठों से संघर्ष (१६५६ – १७०७ ई.)

दक्षिण में औरंगजेब की तीसरी प्रमुख समस्या मराठों की थी। शिवाजी के नेतृत्व में इस समय मराठे दक्षिण में काफी शक्तिशाली हो गये थे। बीजापुर के अनेक दुर्गों को जीतकर, षाइस्ताख़ाँ पर पूना के किले में आक्रमण कर तथा सूरत को लूटकर शिवाजी ने अपनी शक्ति का अच्छा-खासा परिचय दिया था। यद्यपि पुरन्दर की संधि के द्वारा शिवाजी ने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली थी और वह मुगलों के सहयोगी बन गये थे, परन्तु 1666 ई. में औरंगजेब द्वारा शिवाजी को कैद कर लेने पर वह मुगलों के घोर षत्रु बन गये थे। मिठाई के टोकरे में बैठकर 19 अगस्त, 1666 ई. में वह आगरे से भाग गये थे। तीन वर्ष तक शान्त रहने के बाद 1670 ई. में शिवाजी ने मुगलों पुनः युद्ध शुरू कर दिया था और पुरन्दर की सौंध में खोये इलाकों को पुनः जीत लिया था। अब उन्होंने मुगल प्रदेशों में दूर-दूर तक जोरदार धावे शुरू कर दिये थे। फलस्वरूप औरंगजेब ने क्रुद्ध होकर बहादुरख़ाँ को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। किन्तु पाँच वर्ष तक संघर्ष करने के बाद भी बहादुरख़ाँ कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सका। शिवाजी ने अनेक बार मुगल प्रदेशों पर आक्रमण किये और विभिन्न स्थानों से चौथ वसूल की। 16 जून, 1674 ई. को रायगढ़ में शिवाजी ने अपना राज्याभिषेक करवाया और ष्छत्रपतिष् की उपाधि धारण का एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना की। 1677-78 ई. में कर्नाटक का महान अभियान किया जिसमें शानदार सफलता प्राप्त हुई। लगभग एक वर्ष में ही शिवाजी ने 20 लाख हून वार्षिक आय के प्रदेश को जीत लिया जिसमें जिंजी आदि कुल मिलाकर 100 किले थे। किन्तु निरन्तर संघर्ष के कारण शिवाजी के स्वास्थ्य में गिरावट आती

षिवाजी के बाद उनके बड़े पुत्र षम्भाजी (1680–1689 ई.) छत्रपति बने और उन्होंने अपने पिता की दक्षिण में मुगल प्रदेशों पर आक्रमण की नीति को जारी रखा। इसी समय विद्रोही षहजादे अकबर के दक्षिण में आ जाने पर बादशाह स्वयं भी 1681 ई. के प्रारम्भ में बुरहानपुर पहुँच गया। उसने अपने पुत्र आजम के नेतृत्व में एक षक्तिषाली सेना अकबर का पीछा करने के लिए भेजी और स्वयं ने षम्भाजी पर चारों ओर से आक्रमण किया। सम्राट को षीघ्र ही ज्ञात हो गया कि उसे षम्भाजी से ज्यादा खतरा नहीं है, अतः उसके खिलाफ अपने कुछ सैनिक अधिकारियों को नियुक्त कर वह बीजापुर व गोलकुण्डा को विजय करने में लग गया। 1687 ई. तक इन दोनों राज्यों को जीत लेने के बाद अब सम्राट ने अपना पूरा ध्यान मराठों की ओर लगाया और 11 फरवरी, 1689 ई. को संगमश्वर नामक स्थान पर छत्रपति षम्भाजी को अपने मंत्री कविकलष तथा 25 अफसरों सहित कैद कर लिया गया। औरंगजेब ने षम्भाजी को अपने समस्त दुर्ग और पूरा खजाना मुगलों को सौंप देने पर जीवनदान देने को कहा, परन्तु मराठा नेता द्वारा ऐसा करने के लिए मना कर देने व पैगम्बर की बुराई करने व औरंगजेब की एक लड़की से षादी करने की माँग करने पर उसे कठोर यातनाएँ देने के पश्चात 21 मार्च, 1689 ई. को उसके षरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये। इसके बाद औरंगजेब ने मराठों की राजधानी रायगढ़ पर अधिकार कर लिया और षम्भाजी के सात वर्षीय पुत्र षाहू सहित उसके परिवार को बन्दी बना लिया। 1690 ई. तक ऐसे लगने लगा था कि जिस उद्देश्य के लिए सम्राट दक्षिण आया है, वह पूरा हो गया है और जल्द सम्राट षीघ्र ही उत्तर भारत लौट जाएगा, क्योंकि इस समय तक बौजपुर व गोलकुण्डा को जीतकर मुगल साम्राज्य में मिलाया जा चुका था और मराठों के नेता को पकड़ कर कत्ल कर दिया गया था। ऐसा प्रतीत होता था कि मराठा राज्य सर्वदा के लिए समाप्त हो गया और औरंगजेब दक्षिण विजय पूर्ण हो गयी।

परन्तु औरंगजेब का दुर्भाग्य रहा कि ऐसा नहीं हुआ। बल्कि अब सम्पूर्ण महाराष्ट्र की जनता औरंगजेब के खिलाफ उठ खड़ी हुई और उस युद्ध को आरम्भ किया जो मराठों के इतिहास में मराठा स्वतन्त्रता संग्राम के नाम से विख्यात है। पहले इस संघर्ष का नेतृत्व षम्भाजी के छोटे भाई राजाराम

रू

(1689–1700 ई.) ने किया जो एक साधु का वेष बनाकर जिंजी भाग गया और रामचन्द्र पंत अमात्य को हुकूमतपनाह (सर्वे सर्वा) बनाकर विषालगढ़ में नियुक्त किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि इन दोनों के बीच मुगल सेना बिखर गयी। जैसा डॉ. जदुनाथ सरकार ने लिख है कि अब मराठों का न कोई मालिक था और न कोई केन्द्रीय सरकार थी। अब प्रत्येक मराठा सेनानायक अपने-अपने सिपाहियों सहित अपने-अपने ढंग से देश के विभिन्न भागों पर चढ़ाई करता था, जिससे औरंगजेब की कठिनाईयाँ बहुत बढ़ गयी थीं। अब लड़ाई ने लोकयुद्ध का रूप धारण कर लिया था। औरंगजेब इसका अन्त नहीं कर सकता था क्योंकि अब न तो मराठा सरकार थी, न राज्य की कोई सेना थी, न इसका कोई मुखिया था और न कोई इनका खास दुर्ग था, जिसको जीतने पर इनका अन्त हो जाता। अब यह सैनिक समस्या नहीं थी। अब तो प्रश्न यह था कि बादशाह दक्षिण की जनता से कब तक युद्ध कर सकेगा? 1700 ई. में राजाराम की मृत्यु के बाद उसकी विधवा पत्नी ताराबाई (1700–1707 ई.) ने अपने तीन वर्षीय लड़के षिवाजी द्वितीय के नाम से इस युद्ध का नेतृत्व संभाल लिया और खट्टे कर दिये। इस संघर्ष की प्रकृति का वर्णन करते हुए खाफीखों

भारत का इतिहास

ने लिखा है, १ औरंगजेब ने खूब योजनाएँ बनायीं, संघर्ष किया और अपने जीवन के अन्त तक लड़ता रहा किन्तु मराठों की शक्ति फिर भी दिन प्रतिदिन बढ़ती गयी। भारी लड़ाई करके, षाहजहाँ के संगरहीत धन के खर्च से और लाखों आदमियों का बलिदान करके वह मनहूस (अशुभ) देश में घुसा था। उसने उनके कितने ही बड़े-बड़े किले जीते, घर बरबाद करके उनको जंगल में धकेल दिया तो भी मराठों का साहस बढ़ता ही गया। वे हवा की तरह पूरे दक्षिण में फैल गये, षाही इलाकों में घुसकर लूटते रहे और जहाँ पहुँचे वहाँ विनाश करते रहे। बाद में तो मराठों का हौसला इतना बढ़ गया था कि वे षाही डेरे से दस-बारह कोस तक कारवाँ लूट लेते थे और खजाने को भी लूटने का दुस्साहस करते थे। १ औरंगजेब पूरा परिश्रम करके किसी मराठा किले पर अधिकार करता किन्तु उससे आगे बढ़ने पर मराठा उसे पुनः जीत लेते थे। इस प्रकार औरंगजेब के दक्षिण भारत के 25 वर्षों के युद्ध का अन्तिम परिणाम का तत्कालीन यूरोपीय यात्री मनुची ने वर्णन करते हुए लिखा है, हऔरंगजेब अहमदनगर वापस आ गया और अपने पीछे सूखे पेंड़ और खाली खेत छोड़ आया। उनमें सफल की जगह अब मनुष्यों और पशुओं की हस्त्रियाँ दिखाई देती थीं। हरियाली की जगह अब उजाड़ और बरबादी थी। १ इस समय तक मराठों की स्थिति बहुत मजबूत हो चुकी थी। उनके पास तोपखाना और नियमित सेना की सभी सामग्री थी। जब सम्राट 1706 ई. के प्रारम्भ में गम्भीर बीमार हो जाने पर मराठों के विरुद्ध अभियान को छोड़कर अहमदनगर पहुँचा तो मराठों की एक बहुत बड़ी सेना षाही डेरे से चार मील दूर तक आ पहुँची थी व और अप्रैल, 1706 ई. में बड़ी घमासान लड़ाई के बाद ही वहाँ से हटाई जा सकी थी। इस प्रकार कठिनाइयों और विपत्तियों में फँसे हुए औरंगजेब की 3 मार्च, 1707 ई. में दक्षिण में ही मृत्यु हो गयी। उसे दौलताबाद से चार मील पश्चिम से षेखजैन – उलहक के मजार के पास दफना दिया गया।

दक्षिण नीति के परिणाम

इस प्रकार मराठों के विरुद्ध औरंगजेब पूर्णतरु असफल रहा। यह उसकी दक्षिण नीति की असफलता थी। औरंगजेब ने बाद में यह महसूस किया कि बीजापुर और गोलकुण्डा को जीतना ठीक नहीं था क्योंकि दक्षिण में बीजापुर, गोलकुण्डा और मराठों के बीच शक्ति संतुलन था और बीजापुर गोलकुण्डा मराठों पर अंकुश लगाये हुए थे यह सन्तुलन बीजापुर और गोलकुण्डा के पतन से बिगड़ गया। मराठे अब हवा की तरह दक्षिण में चारों ओर फैल गये और बादशाह उन पर नियन्त्रण न रख सका। औरंगजेब ने मराठों को कुचलने में अपना सब कुछ लुटा दिया, फिर भी वह मराठों के आतंक से मुक्त न हो सका। बाद में मराठों के हौसले और बुलन्द हो गये कि उन्होंने एक शक्ति के रूप में संगठित होकर सम्राट और उसके साम्राज्य दोनों को हो क्षत-विक्षत कर दिया। दक्षिण के दीर्घकालीन युद्धों के कारण षाही सरदार थक गये थे और भयभीत होकर उनमें से अनेक सरदारों ने मराठों के साथ गुप्त समझौते कर लिए थे और लूट के माल का आपस में बँटवारा करते थे। सम्राट के 27वर्ष के दक्षिण—युद्ध में डॉ. जदुनाथ सरकार के अनुसार लगभग एक लाख व्यक्ति प्रति वर्ष मारे गये और लगभग तीन लाख घोड़े, ऊट, खच्चर आदि नष्ट हुए। साम्राज्य की आर्थिक दशा बिल्कुल खराब हो गयी और षाही सरदारों का नैतिक पतन हो गया। बादशाह के लम्बे समय तक उत्तर भारत से अनुपस्थित रहने से उत्तर भारत में भी अव्यवस्था फैल गयी और केन्द्रीय सत्ता का हास हो गया। दक्षिण भारत में तो ऐसी अराजकता फैली कि उसमें जनता को घोर कष्ट हुआ तथा बादशाह का दक्षिण भारत पर स्थायी अधिकार स्थापित करने का

सपना चूर हो गया। मराठों के हौसले इतने बुलन्द हुए कि बादशाह को दक्षिण मिलना तो दूर रहा बाद में उत्तर भारत का राज्य भी

»

—

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

139

भारत का इतिहास. (1200 से 1739 तक)

140

छब्बै

धीरे-धीरे उसके उत्तराधिकारियों के हाथों से निकल गया। औरंगजेब की दक्षिण नीति स्वयं के लिए भी हानिकारक सिद्ध हुई क्योंकि बादशाह ने जो प्रतिष्ठा उत्तर भारत में प्राप्त की थी, वह मराठों के सामने धूल में मिल गयी। दक्षिण मुगल साम्राज्य के लिए नासमर सिद्ध हुआ। इसलिए इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार का ठीक ही कहना है कि हमुगल शासन का वास्तव में नाश हो चुका था, परन्तु सम्राट की उपस्थिति के कारण भ्रमात्मक ढंग प्रशासन की गाड़ी खिंच रही थी। ८

औरंगजेब का मूल्यांकन

औरंगजेब का निजी जीवन एक आदर्श जीवन था। वह कठोर परिश्रमी था और बिना थके हुए घंटों काम करता रहता था। वह न तो शराब पीता था और न ही किसी दूसरे व्यसन में फँसा हुआ था। वाणी एवं स्वभाव पर उसका संयम था तथा अपने धर्म का दृढ़ता से पालन करता था। वह जन्म से विद्या प्रेमी था। फारसी का वह अच्छा विद्वान था तथा तुर्की और हिन्दी भाषा पर उसको अधिकार था। उसका भोजन और वस्त्र बहुत सादे थे और उसने कुरान के नियमों के अनुसार चार से ज्यादा स्त्रियाँ नहीं रखी थी। यदि उसके जीवन में कुछ दोष था तो यह कि वह महत्वाकांक्षी, जिद्दी, शंकालु और धार्मिक विचारों में संकीर्ण था। वह न एक अच्छा पुत्र, न पिता न एक अच्छा मित्र और न एक अच्छा भाई था। वह बिल्कुल स्वेच्छाकारी और दूसरों पर विश्वास न करने वाला व्यक्ति था। औरंगजेब का शंकालु स्वभाव किसी भी व्यक्ति को योग्यता बढ़ने देने के अनुकूल न था। यही वजह थी कि उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी योग्य साबित न हो सके। उसके व्यक्तिगत चरित्र की मुख्य विशेषता धर्मान्धता थी। वह दिन में पांच बार नमाज पढ़ता था, नियमपूर्वक रोजे रखता था, इस्लाम के सभी धार्मिक नियमों का श्रद्धा से पालन करता था तथा जिस धर्म की सत्यता में उसे विश्वास था, उस धर्म को उसने अपनी प्रजा में फैलाने का यथासम्भव प्रयत्न किया था। जिसके कारण उसके राज्य में अनेक हिन्दू विद्रोह हुए।

यद्यपि कुछ मुस्लिम इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि औरंगजेब धर्मान्ध शासक नहीं था। उन्होंने तर्क दिये हैं कि औरंगजेब ने केवल युद्धकाल में ही मन्दिर

भारत का इतिहास

तुड़वाये थे या फिर उन मन्दिरों को तुड़वाया था जो शङ्खन्त्र के केन्द्र बन गये थे या हिन्दुओं ने मस्जिदों के स्थान पर बनवाये थे। इन विद्वान इतिहासकारों ने औरंगजेब द्वारा हिन्दू मंदिरों व मठाधीशों को जागीरें व अनुदान दिये जाने का भी उल्लेख किया है तथा हिन्दुओं को खासकर मराठों को बड़ी संख्या में षाही नौकरी में स्थान दिये जाने की जिक्र किया है। परन्तु ये सब बातें उठ के मुँह में जीरे के समान हैं। हिन्दुओं के खिलाफ दिये गये आदेश, जजिया कर की वापसी इत्यादि बातें और हिन्दुओं की प्रत्येक कौम, यथा— जाट, राजपूत,

सिक्ख, मराठे, सतनामी आदि द्वारा औरंगजेब खिलाफ षस्त्र उठाना अपने आप में पर्याप्त कारण है जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि औरंगजेब एक कर धर्मान्ध बादशाह था। इसका परिणाम यह हुआ कि न तो वह अपनी सम्पूर्ण प्रजा का प्रजापालक बादशाह बन सका और न अपनी प्रजा की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के अनुकूल परिस्थितियों को निर्माण करने वाला योग्य शासक बन सका। साम्राज्य निर्माता की दृष्टि से भी वह असफल रहा, क्योंकि उसके समय से ही उत्तरी और दक्षिण भारत में स्वतन्त्र राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी।

सैनिक और सेनापति के रूप में औरंगजेब निःसन्देह महान था। मराठों को छोड़कर उसे युद्ध में सफलता मिली। वह घनघोर युद्ध में भी अपने आपको जोखिम में डालने में नहीं हिचकता था। शङ्खन्त्र और राजनीतिक चालाकी से षत्रु को जीतने में वह पारंगत था और उसमें निर्णय करने की असाधारण क्षमता थी। प्रबन्धक के रूप में वह सरकार के छोटे-से-छोटे कार्य को भी बड़े ध्यान से देखता था, परन्तु कर्तव्य के सम्बन्ध में उसका विचार बड़ा संकीर्ण था। वह अपने को सुन्नी मुसलमानों का बादशाह समझता था। उसने देश की संस्कृति, स्थापत्य कला, संगीत और चित्रकला के विकास के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। संगीतकार तो निराश होकर हिन्दू राजाओं की राजधानियों में चले गये थे। उसने शिक्षा के प्रचार का कोई प्रचार का कोई प्रयत्न नहीं किया था। वह अपने शासन के अन्तिम 27 वर्षों में शान्ति और सुरक्षा भी स्थापित नहीं कर सका, क्योंकि वह दक्षिण में निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहा जिससे उत्तरी भारत में अनेक विद्रोह उठ खड़े हुए और साम्राज्य में अशान्ति व्याप्त हो गयी। औरंगजेब स्वयं ने अपने एक पत्र में जो उसने अपने पुत्र आजम को लिखा था, स्वीकार किया है कि हमने राज्य का संचालन किंचित भी अच्छा नहीं किया और न मैंने कृशकों के सुख के लिए कोई यत्न किया। इतना मूल्यवान जीवन यों ही बीत गया।¹⁸

कुल मिलाकर औरंगजेब मुगल साम्राज्य के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। प्रो. एस. आर. शर्मा ने लिखा है कि यदि औरंगजेब अपनी शक्ति और बुद्धि ऐसे कामों में व्यतीत नहीं करता, जो उसको और उसके साम्राज्य को नष्ट करने वाले थे तो वह मुगलों के श्राजसिंहासन का अलंकार बन जाता। लेनपूल ने भी लिखा है कि औरंगजेब का जीवन महावैफल्य था, परन्तु उसकी विफलता में भी महत्ता थी। खख और महत्ता केवल उसके ही लिए थी। उसके विषाल साम्राज्य के लिए तो उसकी निशठा केवल अभिषाप सिद्ध हुई।

मुगल साम्राज्य के पतन में औरंगजेब का उत्तरदायित्व

बाबर के समय जिस मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई, अकबर के समय जिसे सिद्धी प्राप्त हुई, जहाँगीर ने जिसे वैभव और शाहजहाँ ने ऐश्वर्य प्रदान किया, वह साम्राज्य औरंगजेब

के समय अपराह्न की ओर ढलने लगा। औरंगजेब की नीतियों से स्पष्ट होने लगा कि अब मुगल साम्राज्य का अन्त निकट आ गया है। यद्यपि जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि औरंगजेब के समय में मुगल साम्राज्य अपने विस्तार की चरम सीमा पर पहुँच गया था, परन्तु यह भी लिखा है कि साम्राज्य का विस्तार उसके अन्त का आरम्भ होना था। लेनपूल ने भी लिखा कि यदि औरंगजेब ने अपनी जैसी ही मानसिक और नैतिक शक्तियों से पूर्ण उत्तराधिकारी भी छोड़ा होता, तब भी यह सन्देह किया जा सकता है कि साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना रोका जा सकता था। बीमारी इतनी बढ़ चुकी थी कि बड़ा आपरेषन भी असफल होता। मुगल साम्राज्य के पतन के लिए औरंगजेब की निम्नलिखित नीतियाँ जिम्मेदार थीं—

(१) औरंगजेब द्वारा शासन का अत्यधिक केन्द्रीकरण

औरंगजेब ने शासन का अत्यधिक केन्द्रीकरण कर रखा था। इसके पीछे उसकी पंकालु प्रवृत्ति थी, वह किसी पर भी विश्वास नहीं करता था। न उसने उत्तरदायित्व को योग्य और वफादार सरदारों और षहजादों में बाँटा था। इससे एक तो उस पर कार्य का भार अधिक बढ़ गया क्योंकि राज्य का छोटे-से-छोटा कार्य भी स्वयं उसे करना पड़ता था और दूसरा वह अपने षहजादों और सरदारों को योग्य न बना सका। फलतः उसके मंत्री और अधिकारी उसके आदेश के पालन करने वाले यन्त्र मात्र रह गये और संकट के समय असहाय स्थिति में स्वयं निर्णय नहीं कर सकें। इससे प्रशासन में दायित्व की भावना ही समाप्त हो गयी। अतः जब तक सम्राट में शारीरिक क्षमता रही, तब तक प्रशासन नियन्त्रित रहा,

किन्तु उसकी वृद्धावस्था और मृत्यु के बाद साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

(२) औरंगजेब की धार्मिक नीतिरू

औरंगजेब एक धर्मान्ध शासक था। भारत को इस्लामी राज्य में परिवर्तित करने की प्रबल इच्छा के कारण उसने गैर-मुसलमानों को इस्लाम धर्म में दीक्षित करने के लिए अनेक प्रयत्न किये थे। इसके अलावा हिन्दुओं के मन्दिरों को विध्वंस करने तथा उन पर जजिया कर लगाने से वह हिन्दुओं का प्रेम व सहयोग पाने से वंचित रह गया था। उसकी धार्मिक असहिष्णुता की नीति हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं थी बल्कि उसे मुसलमानों से भी चिढ़ थी। बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया राज्यों को नष्ट करने के पीछे एक कारण धार्मिक भी था। जजिया, तीर्थयात्रा कर, व्यापारिक कर, हिन्दुओं को सरकारी नौकरियों से हटाना, मन्दिरों का विनाश और हिन्दुओं को जबरदस्ती इस्लाम में दीक्षित करने के प्रयत्न आदि सब कारण थे जिससे हिन्दू औरंगजेब से घृणा करने लगे और विद्रोह होने लगे। जाट, सतनामी और सिक्खों के विद्रोहों का यही कारण था। राजपूतों और मराठों से निरन्तर संघर्ष के लिए भी औरंगजेब की असहिष्णुता की नीति ही उत्तरदायी थी। अकबर ने जिस हिन्दू जनता का प्यार प्राप्त किया था और जहाँगीर और शाहजहाँ ने जिसे कायम रखा था, औरंगजेब ने उसे खो दिया खो दिया था और फिर जिसने हिन्दू जाति, का जिसका भारत में बाहुल्य था, विश्वास खो दिया वह लम्बे समय तक भारत में टिक नहीं सकती थी।

(३) औरंगजेब की दक्षिण नीति

भारत का इतिहास

औरंगजेब की दक्षिण नीति भी मुगल साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुई। बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय से दक्षिण का षक्ति संतुलन बिगड़ गया और मराठों से सीधा संघर्ष शुरू हो गया। यदि औरंगजेब ने इन षिया राज्यों को समाप्त न किया होता तो मराठों पर न केवल उनका दबाव बना रहता बल्कि वे दक्षिण की राजनीति में ही व्यस्त रहते और मुगलों से संघर्ष करने तथा उनकी दुर्बलताओं को समझने का मौका ही न मिलता। इस दृष्टि से औरंगजेब की दक्षिण नीति अव्यवहारिक और

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

तेंचवत

अविवेकपूर्ण साबित हुई। फिर दक्षिण भारत को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में रखने के प्रयत्न में औरंगजेब उत्तरी भारत के प्रशासन की ओर ध्यान न दे सका जो उसके साम्राज्य की याक्ति का आधार था। दक्षिण – भारत में 25 वर्षों तक उसके साम्राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक षक्ति, योग्य अधिकारी, बादशाह स्वयं एवं उसके षहजादे तथा सम्पूर्ण सैनिक षक्ति लगी रही और उत्तर भारत का षासन मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों के हाथों में रहा जिससे कोई भी कार्य ठीक प्रकार से न हो सका और इस प्रकार औरंगजेब ने मराठों को छोड़कर दक्षिण दक्षिण भारत तो खोया ही, उत्तरी भारत को भी खो दिया। इस प्रकार औरंगजेब की दक्षिण नीति मुगल साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण बनी।

(४) औरंगजेब की राजपूत-नीति

औरंगजेब ने बिना कोई ठोस कारण के राजपूतों से संघर्ष मोल लेकर जो कदम मुगल साम्राज्य के पतन के लिए उठाया, वैसा उदाहरण इतिहास में दूसरा नहीं मिलता। जिस राजपूत जाति को अकबर ने बड़ी बुद्धिमत्ता से मुगल साम्राज्य के साथ जोड़ा था और जो थोड़ा ही समय में मुगल साम्राज्य के आधार स्तम्भ बन गये थे, उन्हें औरंगजे ने अपनी मूर्खता के कारण मुगल साम्राज्य का षत्रु बना लिया। राजपूतों का मन अब मुगल साम्राज्य की ईमानदारी से सेवा नहीं की। औरंगजेब उनका उपयोग दक्षिण भारत के युद्धों में नहीं कर सका, जिससे वह मराठों के सामने नहीं टिक सका। इस तरह राजपूत षक्ति को खोकर उसने साम्राज्य के आधार स्तम्भों को गिरा दिया, तब तो मुगल साम्राज्य का पतन होना निश्चित ही था।

(५) औरंगजेब के प्रशासन के अन्य दोष

काम

औरंगजेब विद्वान, बुद्धिमान और चालक था, परन्तु देश की समस्याओं को ठीक-ठीक समझकर उसका समयानुसार हल नहीं निकाल पाया था। फिर उसके कर्तव्य का आदर्ष बड़ा संकीर्ण था और इस्लामी तरीके से ही षासन चलाना चाहता था जिससे सम्पूर्ण बहुसंख्यक हिन्दू जनता का विश्वास उस पर से उठ गया। औरंगजेब ने इस पर तनिक भी

विश्वास नहीं किया कि इस प्रकार की हिन्दू-विरोधी नीति अपनाने से क्या परिणाम होंगे। फिर औरंगजेब ने अपने पुत्रों को शिक्षित बनाकर अपने विस्तृत राज्य की शासन व्यवस्था का भार उन्हें सौंपकर उन्हें योग्य बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उसे भय था कि कहीं उसके पुत्र भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार न करें जैसा कि उसने अपने पिता के साथ किया था। अपने इस भय के कारण वह अपने सभी पुत्र एवं पुत्रियों के प्रति सन्देह रखता था, उन पर कड़ी निगरानी रखता था और उनके चारों ओर गुप्तचर लगा रखे थे। इस तरह योग्य उत्तराधिकार न बनाने का दोशारोपण लगाकर औरंगजेब को मुगल साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है जिसकी वजह से औरंगजेब के बाद कोई योग्य शासक नहीं हुआ और मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। फिर औरंगजेब की यह भूल थी कि उसने संगीत, चित्रकला और दूसरी ललित कलाओं के विकास की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया और न अपने शासन के प्रारम्भिक 25 वर्षों को छोड़कर पेश काल में शान्ति और सुरक्षा – रखकर देश के किसानों की खुशहाली के लिए काम कर सका। सच बात तो यह है कि पिछले 25 वर्षों तक दक्षिण में युद्ध लड़कर उसने दक्षिण को वीरान और तबाह कर दिया और उत्तर भारत का शासन ढीला और अस्त-व्यस्त हो गया। इन सब कारणों से काफी हद तक मुगल साम्राज्य के पतन के लिए औरंगजेब को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

142

अभ्यास—प्रश्न

1. औरंगजेब की राष्ट्र नीति का विवेचन कीजिए।
2. औरंगजेब की दक्षिण नीति उसके लिए प्राणघातक सिद्ध हुई। व्याख्या करें।
3. औरंगजेब की धार्मिक नीति की समीक्षा कीजिए। इसके क्या परिणाम निकले ?

4

षिवाजी.

भारत का इतिहास – (1200 से 1739 तक)

मुगल सम्राट औरंगजेब के काल में, जबकि मुगल साम्राज्य पतनोन्मुख हो रहा था, तब दूसरी ओर दक्षिण में मराठों की शक्ति का उत्कर्ष हो रहा था। इन मराठों ने मुगल साम्राज्य को ध्वस्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। मराठे महाराष्ट्र प्रदेश के आदिवासी थे, जो खेती-बाड़ी से अपनी जीविका चलाते थे। इनमें से उच्च परिवार के कुछ लोग दक्षिण के मुस्लिम राज्यों में नौकर भी थे और उन्हें जागीरें भी मिली हुई थी। मराठा समाज की विशेषता यह थी कि इनमें सामाजिक और आर्थिक समानता थी तथा एक धर्म और सांस्कृतिक के साथ-साथ इनके जीवन का दृष्टिकोण भी एक ही था। वे परिश्रमी, वीर, स्वावलम्बी, उत्साही और स्वाभिमानी थे। इनकी भाषा मराठी व धर्म हिन्दू था। सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत की तरह महाराष्ट्र में भी धार्मिक आन्दोलन चला, जिसने लोगों को जातीयता का नवीन जीवन प्रदान कर उनमें प्रजातन्त्र की ठोस भावना भर दी। इनमें

143

भारत का इतिहास

राष्ट्रीयता लाने के लिए राजनीतिक चेतना और स्वतन्त्रता की भावना की कमी थी। इस अभाव को शिवाजी ने पूरा किया।

—

प्रारम्भिक जीवन शिवाजी के पूर्वज भोंसलावंशीय मराठा थे। इस परिवार का प्रधान पुरुष बालाजी था। बालाजी के दो पुत्र थे— मालोजी और वीठोजी, जो अहमदनगर के सामन्त जाधवराव की नौकरी में थे। कुछ समय बाद जाधवराव ने नाराज होकर मालोजी को नौकरी से हटा दिया, तब मालोजी ने अहमदनगर के सुल्तान की नौकरी कर ली और अपनी योग्यता से दरबार में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। जाधवराव ने अपनी पुत्री जीजाबाई का विवाह मालोजी के पुत्र शाहजी से कर दिया। यही शाहजी ने बीजापुर के सुल्तान की नौकरी कर ली। वह मैसूर के पठार तथा पूर्वी कर्नाटक में एक राज्य स्थापित कर बीजापुर का प्रमुख सामन्त बन गया। शाहजी भोसले की प्रथम पति जीजाबाई के गर्भ से शिवाजी का जन्म हुआ था।

शिवाजी का जन्म 20 अप्रैल, 1627 ई. को पूना के उत्तर में स्थित शिवनेश्वर के दुर्ग में हुआ था। लगभग दस वर्ष की आयु में उसे पूना भेज दिया गया। इसी समय शाहजी ने तुकाबाई मोहिते से विवाह कर लिया। जीजाबाई और शिवाजी को दादा कोंणदेव के संरक्षण में छोड़ दिया। जीजाबाई एक धर्मपरायण स्त्री थी, जिसने शिवाजी के चरित्र का निर्माण किया और दादा कोंणदेव ने हिन्दू धर्म शास्त्रों की दीक्षा दी। शिवाजी को सैनिक शिक्षा भी दी गई जिससे वह एक निपुण सैनिक बन गया और फिर दादा कोंणदेव से शासन प्रबन्ध का ज्ञान भी प्राप्त किया। 12 वर्ष की आयु में शाहजी ने उसे पूना की जागीर दे दी। 1641 में सईबाई निम्बालकर से शिवाजी का विवाह हो गया। शिवाजी का प्रारम्भिक कार्य—क्षेत्र मावल प्रदेश था। शिवाजी ने मालव प्रदेश के परिश्रमी नवयुवकों को एकत्रित कर पूना के आसपास के किलों को छीनना आरम्भ कर दिया था। अहमदनगर और बीजापुर की पतनोन्मुख स्थिति के कारण अब उनमें एक स्वतन्त्र राष्ट्र की इच्छा जागृत हुई। 1647 ई. में दादा कोंणदेव की मृत्यु हो जाने पर शिवाजी अपने लक्ष्य की ओर चल पड़ा।

+

जावली पर विजय — शिवाजी ने सर्वप्रथम 1646 ई. में बीजापुर के तोरण नामक दुर्ग पर अधिकार किया, जहाँ उसे भारी खजाना मिला। इससे शिवाजी ने अपनी सेना बढ़ाई तथा तोरण दुर्ग से 5 मील पूर्व में राजगढ़ नामक दुर्ग बनवाया। चूँकि इस समय बीजापुर सल्तनत कमजोर थी और फिर शिवाजी ने अनेक मन्त्रियों को घूस देकर मिला लिया था, अतः सरकार शिवाजी के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सकी। इसी बीच शिवाजी ने चकन, सिंहगढ़, सुन्दर पुरन्दर, कोंडाका आदि दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इस पर बीजापुर सुल्तान ने शिवाजी के पिता शाहजी को राजद्रोह के आरोप में बन्दी बना लिया। इस समाचार से कुछ समय के लिए शिवाजी की प्रगति रुक गयी। लेकिन शिवाजी ने अपनी कूटनीति से ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी कि बीजापुर के सुल्तान ने शाहजी को मुक्त कर दिया। तत्पश्चात् शिवाजी ने जावली का प्रसिद्ध दुर्ग जीता। जावली पर उस समय चन्द्रराव मोरे का अधिकार था, जिसने बीजापुर के सूबेदार से मिलकर शिवाजी के विस्तार को रोक दिया था। अतः शिवाजी ने घूस देकर 25 जनवरी 1656 ई. को चन्द्रराव का वध कराकर जावली पर अधिकार

कर लिया। जावली की विजय से शिवाजी का हौसला बढ़ गया, क्योंकि अब दक्षिण-पश्चिम में विस्तार का द्वार खुल गया और उसकी सैनिक शक्ति

छब्बै

1

143

--

भारत का इतिहास

(1200 से 1739 तक)

144

छब्बै

भी बढ़ गई। यहाँ शिवाजी के हाथ वह खजाना लग गया जो मोरे सरदारों ने कई पीढ़ियों से जमा कर रखा था। अक्टूबर, 1656 ई. में उसने पूना से 35 मील दक्षिण पूर्व में स्थित सूपा जिले पर अधिकार कर लिया और किले के अधिकारी को जो शिवाजी की सौतेली माँ का भाई था, शाहजी की शरण में जाने को विवश कर दिया।

मुगलों के साथ प्रथम मुठभेड़ —

जिस समय औरंगजेब दक्षिण का सूबेदार था, तब उसने 1657 ई. के आरम्भ में बीजापुर पर आक्रमण किया। शाहजहाँ बीजापुर के मुख्य-मुख्य सरदारों और अफसरों को फुसलाने में लगा हुआ था, अतः शिवाजी ने भी इस शर्त पर कि बीजापुर के जिन किलों व प्रदेशों पर उसने अधिकार कर लिया हैं, उस प्रदेशों का उसे स्वामी मान लिया जाए, अपनी सेवायें देने का प्रस्ताव किया। औरंगजेब ने इसका कोई स्पष्ट उत्तर न देकर गोलमाल जवाब दे दिया। इसलिए औरंगजेब ने बीजापुर के विरुद्ध ज्योंही युद्ध आरम्भ किया, बीजापुर सल्तनत ने शिवाजी को अपनी ओर मिला लिया। अतः जब औरंगजेब कल्याणी का डेरा डाले हुए था, शिवाजी ने मुगल सूबे के दक्षिण-पश्चिम भाग पर आक्रमण कर दिया। इसी समय शिवाजी ने जुन्नार पर आक्रमण कर वहाँ से तीन लाख हून सहित बहुत-सा सामान लूट लिया। यद्यपि औरंगजेब ने मराठा आक्रमणकारियों को खदेड़ने हेतु नसीरी खाँ को भेजा, किन्तु वर्षा आरम्भ हो जाने के कारण कार्यवाही सम्भव नहीं हुई। इसी बीच सम्राट शाहजहाँ की गम्भीर बीमारी के समाचार प्राप्त हुए, अतः औरंगजेब शीघ्र यहाँ से लौटकर भावी उत्तराधिकार संघर्ष की तैयारी करना चाहता था। अतः औरंगजेब से सन्धि कर ली, तब शिवाजी ने मुगलों से क्षमायाचना कर ली। औरंगजेब ऊपरी तौर पर शिवाजी से क्षमा कर उत्तर— भारत की तरफ आ गया।

उत्तर भारत में चल रहे उत्तराधिकार संघर्ष का लाभ उठाते हुए शिवाजी ने कोंकण, थाना कोलाबा, कल्याणी, भिवाण्डो आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। शिवाजी ने पुर्तगाली प्रदेश दमन को भी लूटा, फलस्वरूप पुर्तगालियों ने शिवाजी को वार्षिक कर देना स्वीकार कर

भारत का इतिहास

लिया। कल्याणी में मराठा सेना ने बीजापुर के सूबेदार की अत्यन्त सुन्दर पुत्र वधू का अपहरण कर लिया लेकिन शिवाजी ने उस युवती को ससम्मान बीजापुर भेज दिया।

अफजलख़ाँ की घटना—

शिवाजी ने बीजापुर के अनेक किले और प्रदेश छीनकर अत्यधिक हानि पहुँचाई थी। अतः बीजापुर सल्तनत ने अपने प्रथम श्रेणी के सरदार अफजलख़ाँ को शिवाजी को दबाने के लिए नियुक्त किया। अफजलख़ाँ एक विषाल सेना लेकर सितम्बर, 1659 ई. में बीजापुर से रवाना हुआ तथा पण्डरपुर पहुँचकर उसने बिठोवा मन्दिर की मूर्ती को तोड़ा। तत्पश्चात् उसने बालाजी नायक निम्बालकर से, जिसने शिवाजी का पक्ष लिया था, दो लाख रुपये वसूल किये तथा आसपास के मन्दिर को लूटने एवं अपवित्र करने हेतु अपनी सेना भेजी। जावली के मोरे शिवाजी के षत्रु थे, अतः उसने मोरे सरदारों की सहायता से पूना में शिवाजी पर आक्रमण करने का निष्पत्ति किया। शिवजी जावली के जंगली जिले में ही अपना डेरा लगाये हुए था। अफजलख़ाँ ने शिवाजी पर सीधा हमला करने की बजाए जाल में फँसाने की योजना बनाई और प्रतापगढ़ में अपना डेरा लगाया। उसने कृष्णाजी भास्कर को भेजे शिवाजी से मिलने की इच्छा व्यक्त की कि शिवाजी द्वारा अधीकृत कोंकण प्रदेश और किलों का लौटा देगा। शिवाजी को कृष्णाजी भास्कर से अफजलख़ाँ के कपटपूर्ण विचार की गन्ध मिल गयी थी। अतः शिवाजी ने अपनी सुरक्षा का विश्वास चाहा। अफजलख़ाँ ने उन्हें मनचाहा आश्वासन दिया।

शिवाजी ने निर्भीकता से षत्रु का मुकाबला करने की तैयारी कर ली। शिवाजी ने अपनी चुनी हुई फौजों को आस-पास की झाड़ियों में छिपा दिया और अपने अंगरखे के नीचे कवच और अपनी पगड़ी के नीचे फौलादी टोपी पहन ली। उन्होंने अपने बाँये हाथ में लं और अपनी सीधी बाँह में बिछवा नामक तेज कटार को छिपाकर भेंट के लिए प्रस्थान किया। उनके साथ दो साथी भी थे, जो दो-दो तलवारों और एक-एक ढाल से सुसज्जित थे। शिवाजी के दूत ने अफजलख़ाँ से प्रार्थना की कि वह अपनी सेना को काफी दूर रखें अन्यथा शिवाजी मिलने के लिए नहीं आयेंगे। ऐसा ही किया गया। शिवाजी ने पण्डाल में पहुँचकर झुक कर सलाम किया। अफजलख़ाँ ने आगे बढ़कर शिवाजी को गले लगाया तथा शिवाजी को बाहों में पकड़कर गला घोटने के लिए कुछ झुका और तलवार से शिवाजी पर बगल से प्रहार किया,

—

किन्तु शिवाजी अंगरखे के नीचे कवच पहने हुए था, अतः प्रहार निष्फल गया। शिवाजी सचेत जो थे ही, उसने बघनख से अफजलख़ाँ के पेट की आंतों को बाहर निकाल अपना बिछवा अफजलख़ाँ की कोख में घुसेड़ दिया। अफजलख़ाँ बुरी तरह से घायल होकर दर्द के मारे चिल्लाया। अफजलख़ाँ के एक साथी ने तलवार से शिवाजी के सिर पर प्रहार किया, किन्तु छिपी हुई फौलादी टोपी के कारण इस प्रहार का कोई असर नहीं हुआ। शिवाजी के एक साथी ने अफजलख़ाँ के एक साथी को मार गिराया तथा झाड़ियों में छिपी मराठा सेना बीजापुर सेना पर टूट पड़ी। बीजापुर सेना पराजित हो कर भाग खड़ी हुई शिवाजी ने षत्रु

सेना की सारी सामग्री पर अधिकार कर लिया। यह घटना 10 नवम्बर 1659 ई. को घटी थी। इस विजय से शिवाजी का हौसला बढ़ गया।

तत्पश्चात् शिवाजी ने पहला, वसन्तगढ़, खेलना, पंगा और आस— पास के किलों पर अधिकार कर लिया। किन्तु बीजापुर के सेनानायक सिद्दी जौहर ने शिवाजी को पन्हला दुर्ग में घेर लिया। विषय होकर शिवाजी विषालगढ़ की तरफ चला गया। 13 जुलाई, 1660 ई. को पन्हला का पतन हो गया। इसी समय मुगलों ने शिवाजी से चकन का किला छीन लिया।

षाइस्ता खाँ पर आक्रमण सम्राट औरंगजेब ने शिवाजी की बढ़ती हुई शक्ति से उत्तेजित होकर अपने मामा षाइस्ता खाँ को दक्षिण की सूबेदारी सौंपी और शिवाजी का दमन करने का आदेश दिया। जिस समय शिवाजी पन्हाला दुर्ग में घिरा हुआ था, षाइस्ताखाँ ने चकन के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। षाइस्ताखाँ ने अहमदनगर से पूना तक के सभी दुर्ग पर अधिकार कर 19 मई, 1660 ई. को पूना शहर में प्रवेश किया। षाइस्ताखाँ ने पूना के लालमहल में अपना डेरा डाल दिया। शिवाजी इस महल के चप्पे-चप्पे से परिचित था। अतः रात्रि के समय षाइस्ताखाँ पर आक्रमण की योजना बनाकर अपने 400 सैनिकों के साथ पूना की ओर प्रयाण किया और 5 अप्रैल, 1663 ई. की संध्या के समय पूना पहुँच गया। अर्द्ध रात्रि को शिवाजी के नेतृत्व में मराठा सैनिकों ने षाइस्ताखाँ के महल पर अचानक धावा मार दिया। मुगल सेना में खलबली मच गई। शिवाजी ने षाइस्ताखाँ के चषयन कक्ष में पहुँच कर उस पर प्रहार किया। षाइस्ताखाँ ने खिड़की कूदकर अपने प्राण बचाये, लेकिन उसके दाहिने हाथ का अंगूठा कट गया। रात्रि के अंधकार में मराठों ने भीषण मारकाट मचा दी जिसमें षाइस्ताखाँ के पुत्र सहित अनेक सेवक मारे गये। शिवाजी विद्युत गति से अपने साथियों सहित वहाँ से फरार हो गये। भौचक्के मुगल सैनिक उसका पीछा भी न कर सके। इस विजय से न केवल शिवाजी की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई बल्कि घर-घर में उसकी वीरता और शौर्य की चर्चाएँ होने लगीं। मुगलों के लिए यह भीषण दुर्घटना थी।

से

औरंगजेब इस दुर्घटना के समाचारों से आग-बबूला हो उठा और क्रोध होकर षाइस्ताखाँ को बंगाल भेज दिया तथा शाहजादा मोअज्जम को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त कर दिया। अब मुगल दरबार में शिवाजी की वीरता का वैसा ही आतंक फैल गया जैसाकि अफजलखों की हत्या से बीजपुरियों में फैला था।

सूरत को लूटना— चूँकि मुगलों ने शिवाजी के अनेक दुर्ग छीन लिये थे, अतः उनकी क्षति को पूरा करने के लिए शिवाजी ने 10 जनवरी, 1664 ई. को सूरत पर आक्रमण कर मुगल सूबेदार इनायतखाँ को खदेड़ा और फिर चार दिन तक देश के सर्वाधिक समृद्ध नगर सूरत को बुरी तरह से लूटा। इस लूट में शिवाजी को लगभग एक करोड़ रुपये से भी अधिक प्राप्त हुए। लेकिन शिवाजी ने सूरत में अंग्रेजी फैक्ट्री को नहीं छेड़ा, क्योंकि वह इस समय अंग्रेजों से दुष्मनी मोल लेना नहीं चाहता था। 19 जनवरी को जब शिवाजी को सूचना मिली कि नगर की रक्षा हेतु मुगल सेना आ रही है, तब 20 जनवरी का लूट का माल लेकर शिवाजी सूरत से चंपत होगया। इस पूरे वर्ष में मुगलों ने उस पर कोई आक्रमण नहीं किया।

शाहजादा मोअज्जम ने औरंगाबाद में तथा उसके सहायक जोधपुर के राजा जसवन्त सिंह ने पूना में डेरा लगा दिया। जसवन्त सिंह ने तो एक बार कोंडाणा का दुर्ग लेने का भी असफल प्रयास किया था। खाफीखाँ ने लिखा है कि जसवन्त सिंह हिन्दू होने के कारण इस समय शिवाजी से मिल गया था और सम्राट को इसकी जानकारी थी। किन्तु खाफीखाँ

भारत का इतिहास

ने कटर मुल्ला होने के कारण मुगलों की असफलता में हिन्दू सेनानायकों का दायित्व ही ढूँढा है। वस्तुतः जसवन्त सिंह की स्वामिभक्ति निर्विवाद थी और खाफीखों हा आरेप साम्प्रदायिकता से प्रेरित है। इस घटना के बाद 2 फरवरी, 1664 ई. को शिवाजी के पिता के षाहजी का देहान्त हो गया।

राजा जयसिंह और शिवाजी— सूरत को लँट से औरंगजेब तिलमिला उठा और उसने आमेर के मिर्जा राजा जयसिंह को विषाल और मनचाहा धन देकर शिवाजी का कुचलने के लिये भेजा। राजा जयसिंह एक दूरदर्शी और चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने शिवाजी के राज्य के पूर्वी भाग में, मराठा प्रदेश व बीजापुर के बीच में अपना डेरा लगाया ताकि शिवाजी को बीजापुर से सहायता न मिल सके। इसके साथ ही जयसिंह ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि शिवाजी को कहीं से सहायता न मिल सके। तत्पश्चात् जयसिंह ने महाराष्ट्र और कर्नाटक में शिवाजी के विरोधी जमींदारों को अपनी ओर मिलाया तथा एक सैनिक टुकड़ी मराठा गाँवों को उजाड़ने हेतु भेज दी। इस समय शिवाजी पुरन्दर के दुर्ग में था, अतः पुरन्दर में शिवाजी को घेरने के लिए जयसिंह आगे बढ़ा और 24 अप्रैल, 1665 ई. को वज्रगढ़ दुर्ग पर अधिकार कर लिया। जयसिंह ने एक सैनिक दस्ता राजगढ़, सिंहगढ़ और रोहिड़ा क्षेत्रों को बर्बाद करने के लिए भेजा, जिसने इन गाँवों को लूटकर आग लगा दी। इधर जयसिंह ने पुरन्दर का दुर्ग घेर लिया और पुरन्दर के नीचे माची दुर्ग के पाँच बुर्ज व बाड़ा छीन लिया जिससे पुरन्दर दुर्ग के बचने की सम्भावना समाप्त हो गयी, अतः शिवाजी ने सन्धि करने का निष्पत्ति किया। किन्तु जयसिंह ने शिवाजी को पहले बिना शर्त समर्पण करने को कहा, साथ ही उसने शिवाजी को सुरक्षा का आश्वासन भी दिया। 24 जून, 1665 ई. को शिवाजी जयसिंह के शिविर में पहुँचा। जयसिंह ने शिवाजी को गले लगाकर स्वागत किया तथा पुरन्दर पर आक्रमण करने का आदेश दिया। जयसिंह और शिवाजी के बीच विचार-विमर्श के बाद दोनों में एक सन्धि हो गयी, जिसे पुरन्दर की सन्धि कहते हैं। सन्धि के अंतर्गत — (1) अपने कुल 35 दुर्गों में से 23 दुर्ग शिवाजी ने मुगलों को समर्पित कर दिये और 12 दुर्ग शिवाजी के पास इस शर्त पर रहने दिया कि वह मुगल सम्राट के प्रति स्वामिभक्त रहेगा। (2) शिवाजी को मुगल दरबार में दपस्थित होने से मुक्त रखा गया, किन्तु उसके पुत्र शम्भाजी का 5,000 अश्वारोहियों से साथ सम्राट की सेवा में उपस्थित रहना होगा, जिसके बदले में उसे जागीर दे दी जायेगी। (3) यदि सम्राट शिवाजी को कोंकण व बालाघाट के कुछ प्रदेश दे देगा तो शिवाजी 13 वार्षिक किष्टों सम्राट को 40 लाख हूण देगा। (5) दक्षिण के युद्धों में शिवाजी मुगलों की सहायता करेगा।

शिवाजी के विरुद्ध यह जयसिंह की अभूतपूर्व सफलता थी। जयसिंह ने बीजापुर के विरुद्ध शिवाजी के सहयोग का आश्वासन प्राप्त कर बीजापुर और शिवाजी की सम्भावित एकता सदा के लिए समाप्त कर दी। इधर औरंगजेब ने भी एक षाही आदेश द्वारा, शिवाजी को बिना मुगलों की सहायता से कोंकण व बालाघाट के प्रदेश जीतने का अधिकार दे दिया। यह षाही आदेश औरंगजेब को कूटनीतिक चाल थी, क्योंकि शिवाजी द्वारा इन क्षेत्रों पर अधिकार करने से शिवाजी और बीजापुर के सुल्तान के बीच शत्रुता रहेगी और इन प्रदेशों में उलझ जाने से शिवाजी को मुगलों को तंग करने का अवसर ही नहीं मिलेगा। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है, शयहाँ पर हमें जयसिंह की नीति का चतुराई स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उसने शिवाजी और बीजापुर के सुल्तान के बीच निरंतर झगड़े का बीज बो दिया। पुरन्दर की सन्धि की सूचना से औरंगजेब को असीमित खुशी हुई। उससे न केवल जयसिंह की मनसब में

वृद्धि की बल्कि उसके पुत्र कुंवर कीरतसिंह को 2,500 जात व 2,000 सवारों का मनसब प्रदान कर दिया।

इसके बाद जयसिंह ने 1666 ई. में शिवाजी के सहयोग से बीजापुर पर आक्रमण किया तथा शिवाजी को पन्हाला का घेरा डालने भेजा। किन्तु बीजापुरियों की सतर्कता के कारण उन्हें सफलता नहीं मिली।

शिवाजी की सप्रेम भेंट— जयसिंह ने सोचा कि उसके लौट जाने के बाद कहीं शिवाजी, बीजापुर से मेल-मिलाप न कर लें, इसलिए उसने शिवाजी को अगर चलकर सम्राट से भेंट करने को कहा। जयसिंह ने शिवाजी को विश्वास दिलाया कि वहाँ उसका याथोचित सम्मान किया जायेगा और सम्भवतः दक्षिण की सूबेदारी भी उसे दे दी जायें। शिवाजी ने बड़ी अनिच्छा से जयसिंह के प्रस्ताव को तब स्वीकार किया जबकि जयसिंह और उसके पुत्र रामसिंह ने उसे सुरक्षा का वचन दिया। जाने से पूर्व अपनी माता जीजाबाई का शासन संचालित करने हेतु संरक्षक बनाया। मार्च 1666 ई. में अपने पुत्र शलीमाजी व कुछ सेनानायकों को लेकर शिवाजी आगरा की तरफ रवाना हुए और मई 1666 ई. में आगरा पहुँचे। दीवाने खास में शिवाजी और औरंगजेब को भेंट हुई। शिवाजी ने सोने की मुहरें व रुपये सम्राट को नजर किये। सम्राट ने शिवाजी को पाँच हजारी मनसबदारों की पंक्ति में खड़ा किया, जो तृतीय श्रेणी के मनसबदार थे। अतः शिवाजी कुद्ध होकर भरे दरबार में सम्राट को अपशब्द कहते हुए बिना अनुमति वहाँ से रवाना हो गये।

यद्यपि औरंगजेब ने उसे शांत करने हेतु खिलअत भेजी लेकिन शिवाजी ने उसे स्वीकार नहीं किया। अन्त में शिवाजी को राजा जयसिंह के निवास पर ले जाया गया। शिवाजी इसके बाद मुगल दाबार में नहीं गये।

आगरा से पलायन— औरंगजेब ने शिवाजी को बंदी बनाकर मार डालने का निष्पत्ति किया, किन्तु जयसिंह और कुंवर रामसिंह ने शिवाजी को सुरक्षा का वचन दिया था, अतः औरंगजेब संह कार्य बड़ी चालाकी से करना चाहता था। औरंगजेब ने शिवाजी के निवास स्थान प्जयपुर भवन के बाहर सेना तैनात कर तोपें लगवा दीं। इस प्रकार शिवाजी को बन्दी अना लिया गया। लेकिन शिवाजी भी कम चालाक नहीं थे, उन्होंने बीमार होने का बहाना बनाकर ब्राह्मणों व गरीबों को मिठाई आदि दान करने हेतु रोजाना वहाँ से मिठाई व फलों के टोकरे भेजने लगा। अगस्त 1666 ई. में एक दिन दो शिवाजी और शम्भाजी बैठ गये और अन्य टोकरों के साथ वे बाहर निकल गये। शिवाजी और शम्भाजी आगरा नगर से 6 मील दूर एक गाँव में पहुँचे जहाँ उनका एक सेवक नीराजी रावजी घोड़े लिए खड़ा था। संन्यासियों का वेष धारण कर शिवाजी व शम्भाजी मथुरा आये, जहाँ एक मराठा परिवार के पास शम्भाजी को छोड़ स्वयं प्रयाग, काशी, गोंडवाना आदि होते हुए 22 सितम्बर, 1666 ई. को राजगढ़ पहुँच गये। जब औरंगजेब को इसकी सूचना मिली, वह भौंचक्का होकर रह गया और शिवाजी को ढूँढने हेतु सेन भी भेजी, लेकिन उसे कोई सफलता नहीं मिली। औरंगजेब का अनुमान था कि कुंवर रामसिंह की असावधानी अथवा सहयोग से शिवाजी भाग निकलने में सफल हुआ है। अतः औरंगजेब ने क्रुद्ध होकर रामसिंह को शाही सेवा से अलग कर दिया। जब इसकी सूचना दक्षिण में जयसिंह के पास पहुँची तो उसे बड़ा दुःख हुआ। बीजापुर में उसकी असफलता के कारण सम्राट नाराज था ही अतः जयसिंह को दक्षिण से हटाकर शाहजादे मोअज्जम की नियुक्ति कर दी। जयसिंह को इन घटनाओं से बड़ा आघात पहुँचा और लौटते

भारत का इतिहास

समय बुरहानपुर में उसकी मृत्यु हो गयी। शिवाजी के भाग निकलने का औरंगजेब को जीवन भर दुःख रहा।

मुगल-मराठा सन्धि (1667 ई.)- यद्यपि शाहजादा मोअज्जम अपने सहायक जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह के साथ दक्षिण गया, लेकिन एक तरफ तो स्वयं मोअज्जम आराम पसन्द व्यक्ति था और दूसरी ओर जसवन्तसिंह भी अब शिवाजी से सहानुभूति रखने लगा था। इसीलिये वे शिवाजी के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सके। इसी समय उत्तर-पश्चिम सीमान्त जातियों का विद्रोह उठ खड़ा हुआ, जिससे वहाँ एक सेना भेजनी पड़ी और इधर दक्षिण में शाही अधिकारियों में मतभेद आरम्भ हो गये, इसलिए जसवन्तसिंह के सुझाव पर सम्राट ने मराठों से सन्धि करने की आज्ञा दे दी। 1667 ई. में मुगलों व मराठों के बीच सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार शिवाजी को अपने राज्य का स्वतंत्र शासक मान लिया गया और शम्भाजी को पाँच हजार मनसब प्रदान कर दिया। इस सन्धि के बाद 1667-69 ई. में शिवाजी ने अपने प्रशासन का पुर्नगठन किया।

मुगल-मराठा युद्ध की पुनरावृत्ति- मुगल-मराठा सन्धि के बाद भी औरंगजेब शिवाजी को दुबारा अपने जाल में फँसाने का प्रयत्न करने लगा। फलतः दोनों में पुनः मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया। जब दक्षिण के सूबेदार ने आर्थिक संकट के कारण अपने कुछ सैनिकों को नौकरी से हटाया, तब शिवाजी ने उन सैनिकों को अपनी सेना में भर्ती कर लिया और जब औरंगजेब ने शिवाजी की एक जागीर कुर्क करनी चाही, तब शिवाजी ने सम्राट की सेवा से अपनी सेना को वापिस बुला लिया और इस प्रकार 1670 ई. में दोनों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध फिर टूट गये। शिवाजी ने अब मुगल प्रदेशों पर धावे मारने आरम्भ कर दिये तथा पुरन्दर की सन्धि के अन्तर्गत मुगलों को सौंपे गये दुर्गों पर पुनः अधिकार कर लिया। इस समय चूँकि शाहजादा मोअज्जम और दिलेरखों के बीच झगड़ा चल रहा था, इसका लाभ उठाते हुए शिवाजी ने अहमदनगर, जुन्नार और परेण्डा के 51 गाँवों को लूटा तथा बक्टूर 1670 ई. में सूरत को दुबारा लूटा व सूरत की तीन दिन की लूट में शिवाजी को लगभग 132 लाख की सम्पत्ति प्राप्त हुई।

सूरत को दूसरी बार लूटने के बाद शिवाजी ने बरार, बगलाना और खानदेश पर विजय प्राप्त की और जहाँ से भी गुजरे वहाँ से चौथ वसूल की। यद्यपि औरंगजेब ने शिवाजी को नियन्त्रण में लेने हेतु रु महाबतखों को भेजा, किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली। तत्पश्चात् औरंगजेब ने बहादुरखों को भेजा, किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली तत्पश्चात् औरंगजेब ने बहादुरखा और दिलेरखों को भेजा जिन्होंने यद्यपि सलहेर दुर्ग का अधिकार भी कर लिया, किन्तु कुछ ही समय में शिवाजी ने यह दुर्ग पुनः छीन लिया। बहादुरखों व दिलेरखों को शिवाजी विस्तार को रोकने में विफलता ही हाथ लगी। 1673 ई. में

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

147

.रु

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

सातारा रू कृ

148

छब्बै

बीजापुर का पन्हाला दुर्ग भी शिवाजी के अधिकार में आ गया। यद्यपि बीजापुर के सुल्तान ने कहलोलखाँ को भेजा, लेकिन उन्हें पन्हाला दुर्ग वापिस न मिल सका।।

शिवाजी का राज्याभिषेक – यद्यपि शिवाजी अपने राज्य के स्वतन्त्र शासक थे, लेकिन बीजापुर का सुल्तान उन्हें एक विद्रोही, मुगल सम्राट उन्हें अनियमित राज्याधिकारी और मराठा की पदवी धारण करना चाहता था ताकि दूसरी सरकारें उनके साथ समानता का व्यवहार करें, उसने के आदेशों व सन्धियों को कानूनी मान्यता दें और जो मराठा परिवार उन्हें अपने ही हीन अथवा अपने बराबर का समझते रहे हैं उनमें उनकी प्रतिष्ठा बढ़ जाय। अतः शिवाजी ने हिन्दू शास्त्रानुसार अपना राज्याभिषेक करवाने हेतु काशी के विख्यात पंडित विश्वेश्वर जी को बुलाया। क्षत्रिय राजाओं की राज्याभिषेक विधि जानने के लिए बड़े-बड़े विद्वान् आमेर और उदयपुर भेजे गये। भारत के विभिन्न प्रान्तों से द्विन ब्राह्मण निमन्त्रित किये गये। रायगढ़ में लगभग 11,000 ब्राह्मण एकत्रित हुए तथा उनके स्त्री बच्चे मिलाकर उनकी संख्या 50,000 हो गयी। 15 जून, 1674 ई. को शिवाजी ने अपने कुल देवता की पूजा और विद्वानों, ब्राह्मणों की चरण वन्दना की। दूसरे दिन सोने के आठ घड़ों में पवित्र नदियों का पानी भरकर शिवाजी, उनकी रानी व युवराज शम्भाजी पर डाला गया। फिर सोलह सधवा ब्राह्मणियों ने सोने की थालियों में पंच प्रदीप लेकर उनकी आरती उतारी। तत्पश्चात् शिवाजी राजसी लाल वस्त्र व बहुमूल्य आभूषण धारण कर सुसज्जित सिंहासन भवन में गये और वेद मंत्रों, मंगलगान तथा बाघ के वादन के साथ सिंहासन पर बैठे। गागभट नामक ब्राह्म ने उनके ऊपर राजकीय छत्र लगाकर षष्ठ्रपति की उपाधि से विभूषित किया।

शिवाजी का राज्याभिषेक उत्सव चार महीने तक चला और सभी आगन्तुकों का सत्कार मिठाइयों आदि से होता रहा। इस अवसर पर शिवाजी ने सप्त धातु का तुलादान किया और एक लाख हूण ब्राह्मणों को दान में दिये। उन्होंने ब्राह्मणों विद्वानों, सरदारों सैनिकों और गरीबों को भी लाखों रुपये दान व उपहारमें दिये। लेकिन इस उत्सव के कुछ दिनों बाद शिवाजी की माता जीजाबाई का देहान्त हो गया, जिससे शिवाजी को बड़ा दुःख हुआ। इस अवसर पर भी शिवाजी ने खून दान दिया। निष्चलपुरी गोस्वामी नामक एक तान्त्रिक ने बताया कि शिवाजी का राज्याभिषेक अशुभ मुहूर्त में होने के कारण राज्याभिषेक के दिन से बारह दिन के अन्दर जीजाबाई का देहान्त हुआ है। अतः शिवाजी ने इस तान्त्रिक की सलाह से 4 अक्टूबर 1674 ई. को तान्त्रिक विधि से अपना दूसरा राज्याभिषेक उत्सव मनाया। इन दोनों समारोहों में लगभग 50 लाख रुपये व्यय हुए।

कर्नाटक पर आक्रमण— राज्याभिषेक समारोहों के कारण शिवाजी का राजकोश खाली हो गया और उन्हें धन की आवश्यकता आ पड़ी। अतः मुगल सेनापति बहादुरखाँ के शिविर पर आक्रमण कर एक करोड़ रुपये व दो सौ अच्छे घोड़े लूट लिये और अपनी सेना का बेट चुका दिया। तत्पश्चात् बगलाना व खानदेश में मुगल हाकिम को पराजित कर अनेक शहरों को लूट

भारत का इतिहास

लिया। फरवरी 1675 ई. में उसने कोल्हापुर पर आक्रमण किया। बहादूरखॉ ने शिवाजी के विरुद्ध बीजापुर से सन्धि करने का प्रयास किया, लेकिन कुछ भी परिणाम नहीं निकला। शिवाजी ने बीजापुर, गोलकुण्डा च हैदराबाद शहर पर आक्रमण किया जिसमें भी उसे अच्छा माल हाथ लगा।

कर्नाटक का प्रदेश अत्यन्त ही समृद्ध था। अतः इसके कुछ प्रदेशों पर बीजापुर और कुछ प्रदेशों पर गोलकुण्डा ने कब्जा कर लिया था। शिवाजी इस समृद्ध प्रदेश को अपने राज्य में मिलाना चाहता था, जिसका उसे बहाना भी मिल गया। शिवाजी का सौतेला भाई व्यंकोजी, जो बीजापुर का एक आसामी था, मार्च 1675 ई. में तंजौर का शासक बन गया। वह शिवाजी की सफलताओं को देखकर जलता था। उसने अपने पक्षिपाली मन्त्री रघुनाथ पन्त हनुमन्ते से झगड़ा कर नौकरी से निकाल दिया। रघुनाथ पन्त गोलकुण्डा के प्रधानमंत्री मदन से जा मिला और उसने शिवाजी व गोलकुण्डा की संयुक्त सेना द्वारा कर्नाटक पर आक्रमण की योजना बनाई। शिवाजी ने आक्रमण की तैयारी कर दो, किन्तु प्रकट यह किया कि वह अपने भाई से पिता की सम्पत्ति का हिस्सा लेने जा रहा है। पूर्ण तैयारी के बाद जनवरी, 1677 ई. में वह हैदराबाद की ओर रवाना हुआ। प्रधानमंत्री मदन ने उसका भव्य स्वागत किया। गोलकुण्डा के सुल्तान ने भी आगे बढ़कर शिवाजी को गले लगाया और अपनी बगल में ही शाही मसनद पर बैठाया। दक्षिण पर आक्रमण के सम्बन्ध में दोनों के बीच एक समझौता हुआ। तत्पश्चात् शिवाजी ने बीजापुर के जिंजी दुर्ग पर भी अधिकार कर उसे कर्नाटक की राजधानी बना दिया। जुलाई 1678 ई. में उसने वेलूर दुर्ग पर अधिकार कर लिया। तुंगभद्रा से कावेरी तक का कर्नाटक का समुद्री प्रदेश शिवाजी के अधिकार

}

में आ गया। इन प्रदेशों में नागरिक शासन में सुधार कर सुरक्षा हेतु रक्षा दल तैनात किये और शानदार विजय के साथ के साथ स्वदेश लौट आया।

शिवाजी ने अपने भाई व्यंकोजी को भी पराजित कर उसके अनेक प्रदेश छीन लिए। लेकिन बाद में दोनों भाइयों में समझौता हो गया। व्यंकोजी के सारे प्रदेश लौटा दिये गये और व्यंकोजी ने बीजापुर की राजभक्ति छोड़कर शिवाजी की अधीनता स्वीकार कर ली।

शिवाजी के अन्तिम दिन और मष्ट्यु— शिवाजी के अन्तिक दिनों में उनका ज्येष्ठ पुत्र शम्भाजी दुराचारी हो गया, इससे वे बड़े दुःखी और चिंतित हुए। शिवाजी ने उसे उपदेश और चेतावनी भी दी, लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। अतः 1678 ई. में उसे पन्हाला के दुर्ग में कैद कर लिया। यहाँ पर शम्भाजी मुगल सेनापति दिलेरखॉ से साँठ गाँड कर दिसम्बर 1680 ई. में अपनी पत्नी सहित भाग निकला और मुगल शिविर में पहुँच गया। औरंगजेब ने इसे शिवाजी को कोई चाल समझी और दिलेरखॉ को शम्भाजी पर कड़ी दृष्टि रखने का निर्देश दिया। तत्पश्चात् शम्भाजी व दिलेरखान ने मिलकर बीजापुर पर आक्रमण किया। बीजापुर के मन्त्री सिद्दी मसूद ने शिवाजी से सहायता माँगी। अतः शिवाजी ने बीजापुर का घेरा डालने वाली मुगल सेना पर आक्रमण

(1) इसे मुख्य प्रधान भी कहा जाता था। उस प राज्य के सभी मामलों की देखभाल व प्रजाहित

का उत्तरदायित्व था। राज्य के सभी अधिकारियों पर उसी का नियंत्रण होता था। सभी राजकीय आदेशों व सन्देशों पर राजा की मुहर के नीचे अपनी मुहर लगाता था। राजा की अनुपस्थिति में वह राजा की ओर से शासन कार्य करता था।

(2) अमात्य – सम्पूर्ण राज्य अथवा किसी विशेष जिले के आय-व्यय प्रलेखों की जाँच कर उन

पर अपने हस्ताक्षर करता था।

(3) मन्त्री— यह राजा के दैनिक कार्यों की डायरी रखता था, राजा से मिलने वालों की सूची रखता था तथा राजा के खाने-पीने की चीजों पर सतर्क दृष्टि रखता था, ताकि कोई गुप्त शङ्क्यन्त्र द्वारा राजा की हत्या न कर दे। इसे वाकियानवीस भी कहते थे।

(4) सचिव – यह सभी राजकीय पत्रों की भाषा-षैली देखता था और परगनों के हिसाब की जाँच

भी करता था। इसे पुरुनवीस भी कहते थे।

(5) सुमन्त – विदेशों से सम्बन्ध व सन्धिविग्रह के सम्बन्ध में राजा को सलाह देने तथा विदेशी राजदूतों पर सतर्क दर्शक रखते हुए गुप्तचरों द्वारा दूसरे राज्यों की गुप्त सूचनाएँ मँगवाना इसी का काम था। इसी का काम था। इसे दबीर (विदेशी मंत्री) भी कहते थे।

(6) सेनापति— सैनिकों की भर्ती उनका संगठन व अनुशासन और युद्ध क्षेत्र में सेना की तैनाती

करना इसी का काम था। इसे सरै—नौबत भी कहते थे।

(7) पण्डित राव— शुभ मुहूर्त व धार्मिक कार्यों की तिथि निश्चित करना, पापाचार व धर्म-भ्रष्टता के लिए दण्ड देना, ब्राह्मणों में दान बँटवाना, धर्म व जाति सम्बन्धी झगड़ों को निपटाना तथा प्रजा के आचरण को सुधारना इसी का काम था।

(8) न्यायाधीश— राज्य का सबसे बड़ा न्यायकर्ता होने के कारण सभी सैनिक व असैनिक न्याय करना और भूमि अधिकार एवं गाँव की मुखियागिरी आदि के निर्णयों पर अमल कराना इसी

का काम था।

पण्डितराव व न्यायाधीश को छोड़कर सभी मंत्रियों को समय-समय पर सेना का नेतृत्व भी करना पड़ता था। सभी राजकीय पत्रों फरमानों व सन्धि पत्रों पर राजा व पेशवा की मुहर के नीचे अमात्य, मन्त्री सचिव और सुमन्त इन चारों के हस्ताक्षर होते थे।

स्थानीय प्रशासन— शिवाजी का सम्पूर्ण राज्य चार प्रान्तों में विभक्त था और प्रत्येक प्रान्त वायसराय या सूबेदार के अधीन था। एक प्रान्त में अनेक परगने होते थे और प्रत्येक परगना सम्भवतः एक सैनिक अधिकारी के अधीन रखा गया था। प्रत्येक परगना कई भौजोह में

भारत का इतिहास

विभक्त था, जो प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। सम्भवतः प्रत्येक षोडश एक मुखिया के अधीन होता था और वहाँ पंचायती शासन की पद्धति प्रचलित रही होगी।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छात्र

149

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

150

छात्र

सैनिक प्रशासन— शिवाजी का सैनिक प्रशासन श्रेष्ठ था। शिवाजी की मृत्यु के समय उनकी सेना

- में 45,000 पागा, 60,000 सिलेदार घुड़सवार और एक लाख मालवे सैनिक थे। उनकी घुड़साल में 32,000 घोड़े थे। उनके हाथियों की संख्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं, कोई 125 तो कोई 300 बताता है। सेना का सबसे महत्वपूर्ण भाग राजकीय अश्वारोहियों का प्रसिद्ध पागा होता था। इस भाग के सैनिक को बरगीर कहते थे, जिन्हें घोड़े व हथियार राज्य की ओर से मिलते थे। पच्चीस साधारण बरगीर पर एक हवलदार, पाँच हवलदारों पर एक-एक जमादार और दस मजादों अर्थात् 1,250 बरगीरों पर एक हजारी होता था पागा में सर्वोच्च पर पाँच हजारी होता था। तथा इस सम्पूर्ण पागा अश्व-सेना पर सैर-नौबत होता था। पच्चीस घुड़सवारों के लिए एक भिष्ती व एक नालबन्दी भी होता था। सिलेदार अपने घोड़े व हथियार अपने पास से खरीदते थे। ये पागा अश्व-सेना से निम्न श्रेणी के होते थे तथा अश्व-सेना के सेनापति के नियन्त्रण में रहते थे। सेना में पैदल सैनिकों का भी विषेश महत्व था। नौ पैदल सिपाहियों पर एक नायक, दस नायकों के ऊपर एक हवलदार, दो या तीन हवलदारों पर एक जुमलादार और दस जुमलादारों पर एक हजारी होता था। पैदल सैनिक विभाग में सर्वोच्च पद सात हजारी था। सात हजारियों पर रसरै- नौबत होता था। इसके अतिरिक्त दो हजार मावले प्यादा शिवाजी के अंग-रक्षक थे।

मराठा सेना की नीति यह थी कि वह विदेशी राज्यों पर आक्रमण करने तथा रसद आदि एकत्र करने हेतु वर्षा में आठ महीने बाहर रहती थी। वर्षा के चारमहीने सेना छावनी में व्यतीत करती थी और दशहरे के बाद राजा द्वारा निर्दिष्ट राज्य पर आक्रमण करने निकलती थी। प्रयाण के पूर्व सैनिक एवं अधिकारियों के पास रहने वाली वस्तुएँ अधिक पाई जाती वे राज्य में जमा कर ली जाती थी। सेना अपने ष साथ बहुत कम सामान रखती थी। स्त्रियाँ फौज के साथ नहीं जा सकती थी।

राजस्व प्रशासन— शिवाजी के राजस्व का मुख्य साधन भूमि- कर था। भूमि-कर व्यवस्था क्षेत्रामिति के निश्चित सिद्धान्त के द्वारा किये गये बन्दोबस्त पर निर्भर थी। पैमाइश के बाद प्रत्येक गाँव का क्षेत्रफल ष्यौरेवार रखा जाता था और प्रत्येक बीघे की उपज का अनुमान

लगाया जाता था। उपज का 33 प्रतिशत भाग राज्य ले लेता था, किन्तु कालान्तर में जब अन्य सभी प्रकार के कर हटा दिये गये थे, तब भूमि-कर उपज का 40 प्रतिशत निर्धारित कर दिया गया। नये किसानों को बीज और पशुओं की सहायता दी जाती थी, जिसका मूल्य सरकार कुछ किष्टों में वसूल कर लेती थी। भूमि-कर नकद अथवा अन्न के रूप में सरकारी हाकिम वसूल करते थे। दुर्भिक्ष के समय किसानों को तकाबीण दिया जाता था। शिवाजी जागीरदारी प्रथा के विरुद्ध थे, अतः जहाँ तक सम्भव होता अपने हाकिमों को जागीर के बदले नकद वेतन ही देते थे ताकि कोई जमींदार किसानों पर राजनीतिक वर्चस्व स्थापित न कर ले। भूमि-कर प्रणाली भी रैय्यतवाड़ी थी, जिससे राज्य और किसानों के बीच सीधा सम्बन्ध रहता था। भूमि कर के अतिरिक्त सम्भवतः आयात कर, निर्यात कर तथा चुंगी कर भी रहे होंगे, किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित जानकारी नहीं है। आय का एक अन्य मुख्य साधन चोथ भी था। यह पड़ोस के दुर्बल राज्यों अथवा विजित प्रदेशों से

वसूल की जाती थी, जो उन राज्यों की आय का चौथा भाग होता था। था जिन राज्यों से चौथ

वसूल की जाती थी, जो उन राज्यों की आय का चौथा भाग होता था। जिन राज्यों से चौथ वसूल की जाती थी, उनकी रक्षा का दायित्व मराठे अपने ऊपर लेते थे। कुछ इतिहासकारों का इस सम्बन्ध में मतभेद है, उनका कहना है कि शिवाजी चौथ वसूल करने के लिए हर साल उन राज्यों पर आक्रमण करते थे। आय का दूसरा मुख्य साधन सरदरमुखी था। महाराष्ट्र के समस्त देशमुख शिवाजी को अपना सरदरमुख मानकर अपनी आय का दसवाँ भाग अदा करते थे।

‘44

न्याय व्यवस्था – शिवाजी को न्याय प्रणाली का आधार प्राचीन न्याय पद्धति थी। गाँवों में न्याय का काम पंचायतें करती थी। पटेल नामक राज्याधिकारी फौजदारी मुकदमों का निर्णय करता था। फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के मुकदमों की अपील न्यायाधीश के पास होती थी। चूँकि कानून व न्याय प्रणाली न तो लिखित थी और न निश्चित थी, इसलिए हिन्दू स्मृतियों के आधार पर ही न्याय प्रदान किया जाता था।

इस प्रकार शिवाजी को प्रशासनिक व्यवस्था सुसंगठित थी। शिवाजी शासन के बड़े-बड़े पद वंशानुगत न कर केवल योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ करते थे। प्रशासन में हिन्दू व मुसलमानों का भेदभाव नहीं था। राज्य सेवा के बदले भूमि न देकर वेतन दिया जाता था। शिवाजी अपनी प्रजा को बिना किसी भेदभाव के सभी को समान रूप से उन्नति का अवसर देता था। शिवाजी का शासन प्रजा कल्याणकारी और पक्षपात व भ्रष्टाचार से रहित था।

शिवाजी की धार्मिक नीति यद्यपि शिवाजी कट्टर हिन्दू थे तथापि दूसरे धर्मों का सम्मान करते थे। उन्होंने मुसलमानों को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दे रखी थी और वह स्वयं पीरों व मस्जिदों का आदर करते थे। हिन्दू मन्दिरों के साथ-साथ मुसलमान फकीरों व पीरों को भी आर्थिक सहायता देते थे। उन्होंने बाबा याकूत के लिए दरगाह बनवा कर दी थी। यदि आक्रमण के समय उनके आदमियों को कुरान हाथ लग जाती तो वे अपने मुसलमान साथियों को पढ़ने के लिए देते थे। वे कुरान का हिन्दू धर्म ग्रन्थों के समान ही आदर करते थे। उन्होंने अपने सैनिकों को कठोर आदेश दे रखा था कि वे किसी महिला को अपमानित न करें, महिला चाहे

भारत का इतिहास

हिन्दू हो या मुसलमाना खाफीख़ाँ जो शिवाजी का कटर षत्रु था, उसने भी अपने ग्रन्थ में शिवाजी की धार्मिक सहिष्णुता तथा हमले में मिली मुस्लिम महिलाओं के प्रति किये गये सम्मानपूर्ण व्यवहार की प्रशंसा की है। राजकीय नियुक्तियों में भी कोई भेदभाव नहीं था।

शिवाजी स्वयं धर्मपरायण व्यक्ति थे और वेदाध्ययन के लिए प्रोत्साहन देते थे। जो ब्राह्मण एक वेद में पारंगत होता था उसे प्रति वर्ष एक मन चावल राज्य की ओर से दिया जाता था। यद्यपि शिवाजी के गुरु सन्त रामदास थे, जिनके प्रति शिवाजी की असीम श्रद्धा थी, फिर भी शिवाजी की राज्य नीति या शासन प्रणाली पर इस सन्त का कोई प्रभाव नहीं था। कहा जाता है कि अपने गुरु को प्रतिदिन भिक्षा मांगने के लिये जाता देखकर शिवाजी ने अपना सारा राज्य गुरु को भेंट कर दिया। गुरु ने भेंट स्वीकार कर अपने प्रतिनिधि के रूप में शासन करने के लिए वह राज्य पुनः शिवाजी को लौटा दिया और आदेश दिया कि वह अपने स्वशासन का उत्तदायी सर्वशक्तिमान भगवान को माने। शिवाजी ने गुरु आदेश को शिरोधार्य कर गुरु के वस्त्रों के गेरुआ रंग को अपने राजकीय झण्डे का रंग अपना लिया था।

}

शिवाजी का मूल्यांकन – शिवाजी पिता का आदर करने वाले, माता के प्रति भक्ति-भाव रखने वाले, पत्नियों के प्रति सम-प्रेम रखने वाले तथा मित्रों के प्रति दयालु एवं उदार थे। यद्यपि उन्हें नियमित शिक्षा तो प्राप्त नहीं हुई, फिर भी वे उच्च कोटि के विद्वान् थे। उनमें असाधारण प्रतिभा थी, अत्यधिक व्यावहारिक ज्ञान था और सूक्ष्म विवेक शक्ति थी। वे पक्के धर्मात्मा व कटर हिन्दू थे, किन्तु असहिष्णु नहीं वे प्रत्येक धर्म में सच्चाई ढूँढते थे। वे सैनिक और प्रशासनिक दोनों कार्यों में दक्ष थे। मध्ययुगीन शासकों में शिवाजी पहले शासक थे जिन्होंने नौ सेना के महत्व को अनुभव पर सामुद्रिक बेड़े व व्यापारिक जहाजों का निर्माण करवाया। उन्होंने अपनी अच्छी शासन व्यवस्था द्वारा प्रजा कल्याण की ओर अधिक-से-अधिक ध्यान दिया। शिवाजी की प्रेरणा से फारसी के स्थान पर मराठी राजभाषा बनी तथा संस्कृत कोश का निर्माण हुआ। वे उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ भी थे। जिस समय शक्तिशाली मुगल साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था, तब अपने स्वराज्य की रक्षा हेतु मुगल साम्राज्य पर प्रहार किया और साम्राज्य की जड़ों को खोदकर रख दिया। उन्होंने न केवल दक्षिण के मुस्लिम राज्यों से बल्कि पुर्तगालियों से भी टक्कर ली। मराठा जाति में उन्होंने नवजीवन का संचार किया।

कुछ इतिहासकारों ने शिवाजी को एक प्लुटेरा व विश्वासघाती कहा है। यह सच है कि उनका राजनीति में प्रवेश एक लुटेरे सरदार के रूप में हुआ था, लेकिन उसने कभी असहाय प्रजा को नहीं लूटा व जिन राज्यों से युद्ध चलता था उन राज्यों को ही युद्ध के दौरान लूटता था और इस लूट के धन का प्रयोग राष्ट्रीय आवश्यकताओं के लिए करता था। अतः उसे लुटेरा कहना न्यायसंगत न होगा। सर देसाई का कहना है कि शिवाजी भारत में षहिन्दू स्वराज्य स्थापित करना चाहता था।

अपने इस मत के समर्थन में तर्क देते हुए वे कहते थे कि शिवाजी ने 1645 ई. में दादाजी नरसप्रभु को षहिन्दवी स्वराज्य की योजना के सम्बन्ध में लिखा था। शिवाजी का आगरा जाने का उद्देश्य भी उत्तरी भारत की स्थिति का अध्ययन कर उत्तर भारत को मुगलों के पंजे से मुक्त कराना था और उन्होंने हिन्दू से मुसलमान बने युवकों को पुनः हिन्दू समाज में प्रतिष्ठित किया। वे हमेशा राजपूत राजाओं से मेल करने का प्रयत्न करते थे। किन्तु डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने इन तर्कों का खण्डन किया है और निश्कर्ष निकाला है कि शिवाजी

ने कभी भी भारत में हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा नहीं की। शिवाजी मुगल साम्राज्य का तख्ता पलटने की कोई ठोस योजना नहीं बनाई थी। इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि शिवाजी भारत में हिन्दू साम्राज्य करना चाहते थे।

ने

शिवाजी की सफलता के कारण शिवाजी ने सफलता पूर्वक मुगलों, जंजीरा के सिद्धियों, बीजापुर और पुर्तगालियों की सबल शक्तियों का सामना किया और एक स्वतन्त्र मराठा राज्य स्थापित किया। उनकी इस सफलता के कारण अधोलिखित

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बे

151

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बे

१. महाराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति— महाराष्ट्र प्रदेश सुरक्षा के प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न था। यहाँ की पर्वतीय श्रृंखलाओं में अनेक अभेद्य पर्वतीय दुर्ग थे जहाँ से मराठे सफलता से आक्रमणकारियों का विरोध कर उन्हें पीछे धकेल सकते थे। महाराष्ट्र का ऊबड़-खाबड़ पठारी प्रदेश, दुर्गम घाटियाँ और अमेय दुर्गा की रंखलाएँ शिवाजी की सुरक्षा और उनकी छापामार युद्धपद्धति के लिये सबसे अधिक उपयुक्त थे। छापामार युद्ध पद्धति के द्वारा मराठा सैनिक भुमल शिविरों पर अचानक धावा मारकर उनकी युद्ध सामग्री को लूटकर भाग जाते थे। मुगलों को हमेशा छिपे हुए मराठा सैनिकों का भय बना रहता था।

२. महाराष्ट्र की एकता राष्ट्रीय भावना— शिवाजी ने महाराष्ट्र में हिन्दुओं की नवीन प्रज्ज्वलित भावना का लाभ उठाया और महाराष्ट्र के लोगों में एकता, संगठन त्याग, राजनीतिक जागृति, स्वतन्त्र हिन्दू राज्य स्थापित करने का, हिन्दू धर्म और संस्करति की रक्षा करने का श्रेष्ठ आदर्श और उच्च लक्ष्य रखा था। इससे शिवाजी को समूचे महाराष्ट्र का समर्थन व शक्ति प्राप्त हो गई। वे जनता की स्वतन्त्रता की आकांक्षाओं के प्रतीक और प्रतिनिधि गये।

३. दक्षिण भारत के मुसलमान हिन्दू राज्य के संस्थापक और हिन्दुत्व के संरक्षक होने पर भी शिवाजी ने धार्मिक उदारता और सहिष्णुता की नीति अपनायी थी। उन्होंने मुस्लिम मसजिदों व मकबरों का विध्वंस नहीं किया। मुसलमानों का बलपूर्वक धर्म परिवर्तन नहीं किया। उन पर धार्मिक अत्याचार नहीं किये। उनका शोषण नहीं किया। कुरान का अपमान नहीं किया और मुस्लिम स्त्रियों को कभी अपमानित नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने मुस्लिम सन्तों, फकीरों और पीरों के प्रति सम्मान व्यक्त किया और उनको राजकीय अनुदान दिये। इसलिए दक्षिण के मुसलमान भी शिवाजी से असन्तुष्ट नहीं थे। वे भी शिवाजी के प्रति बड़ा सम्मान और आदर रखते थे।

भारत का इतिहास

४. मराठों का अदम्य उत्साह और दश्व संकल्प— शिवाजी ने सम्पूर्ण महाराष्ट्र में भी स्वाधीनता का लक्ष्य रखा और उन्होंने अपनी विस्मयकारी उपलब्धियों से, मराठों में यह विश्वास और जागरति उत्पन्न की थी कि वे विदेशियों और विधर्मियों से अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने की अटूट क्षमता रखते हैं। शिवाजी ने अपने उदाहरण से प्रमाणित कर दिया कि वे अपनी सुरक्षा स्वयं कर सकते हैं। वे कला और साहित्य का संरक्षण और उत्कर्ष कर सकते हैं। फलतः इन नवीन उपलब्धियों के लिए मराठे दृढ़ –संकल्पी हो गये थे।

५. दक्षिण भारत की पतनोन्मुखी सल्तनतें— बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्य के सरदारों और अमीरों की गुटबन्दियों, गहरे पारस्परिक मतभेदों गृह कलह, दरबार की दुर्बलता और प्रशासन की षिथिलता ने भी शिवाजी के उत्कर्ष में बड़ा योगदान दिया। अपनी निर्बलता के कारण ये सल्तनतें शिवाजी को दबाने में विफल रही। औरंगजेब की आक्रामक नीति के कारण बीजापुर को तो कई बार शिवाजी से सहायता लेने के लिए विवश होना पड़ा था। गोलकुण्डा ने भी शिवाजी के कर्नाटक अभियान में सहयोग की नीति अपनाई थी। इस प्रकार बीजापुर और गोलकुण्डा के सहायक और समर्थक बन जाने से शिवाजी के राज्य – विस्तार का मार्ग प्रशस्त हो गया।

६. औरंगजेब की दूषित नीतियाँ— औरंगजेब की धार्मिक कटरता और संकीर्णता तथा अन्य दूषित नीतियाँ भी शिवाजी के उत्कर्ष में सहायक सिद्ध हुईं। औरंगजेब की धर्मान्धता के कारण उत्तरीभारत में जाटों,

सिक्खों और सतनामियों के विद्रोह हुए राजपूतों के साथ भी औरंगजेब को दीर्घकाल तक संघर्ष करना पड़ा। इनको कुचलने में औरंगजेब और उसकी सेना फँसी रही। इसलिए वह शिवाजी और मराठों के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग नहीं कर सका। औरंगजेब ने अपनी संकीर्ण नीतियों के कारण राजपूतों को अपना प्रबल षत्रु बना लिया। मुगल सेना की अनुशासनहीनता और आन्तरिक दुर्बलता शिवाजी के लिए वरदान प्रमाणित हुई। अनेक सैनिक अभियानों और युद्धों के अवसर पर मुगल अमीरों, सेनानायकों और सूबेदारों में पारस्परिक झगड़े और मतभेद उभर आते थे जिसके कारण वे संगठित होकर शिवाजी पर हमला नहीं कर पाते थे। इसके अलावा मुगल सैनिक दक्षिण में युद्ध करते-करते थक गये थे। वे उत्तरी भारत में अपने घर लौट जाने के लिए उत्सुक थे।

७. मुगल षिविरों की दुर्दशा— मुगल सैनिकों में चरित्रहीन स्त्रियों, नर्तकियों, दासियों और विलास एवं व्यसन की सामग्री का बाहुल्य था। दक्षिण में मुगल सैनिक षिविर और छावनियाँ उत्तर भारत की विषाल दुकानें बन गयी थी, जहाँ उत्तरी भारत की सभी सामग्री सरलता से उपलब्ध हो जाती थी। वस्तुतः

152

मुगल सैनिक छावनी एक चलता-फिरता षहर होता था। इसके विपरीत मराठा सैनिक षिविर अत्यन्त सादा होता था, जहाँ महिलाएँ व विलासिता की सामग्री कठोरता से निषिद्ध थी। मराठा सैनिक कठोर जीवन और सैनिक अनुशासन के अभ्यस्त थे। परन्तु मुगल सैनिक अनुशासहीन और आराम-तल थे। वे राजकीय ठाठ के साथ चलते थे। ऐसी निर्बल, षिथिल,

अनुषासहीन, विलासी और पतनोन्मुखी सेना शिवाजी की संगठित और अनुषासनबद्ध सेना के सामने टिक नहीं सकी।

4

८. शिवाजी का व्यक्तित्व और चरित्र— शिवाजी की सफलता का श्रेय उसके स्वयं के बहुमुखी व्यक्तित्व श्रेष्ठ चरित्र और उत्कृष्ट आदर्शों को है। वह जन्मजात नेता थे। उनमें नेतृत्व के विलक्षण गुण थे शिवाजी ने अपने अनुयायियों में एकता और संगठन के लिए अपूर्व प्रेरणा दी और उनको अपने कुशल नेतृत्व में व्यवस्थित और एकजुट किया। उन्होंने मराठों में अनुषासन और आत्मविश्वास, त्याग और बलिदान की राजभक्ति और राष्ट्र-प्रेम की प्रबल भावना जागृत की।

शिवाजी में वीर, साहसी सेनानायक के गुण थे। उसने अपने सैनिकों को कठोर अनुषासन में प्रशिक्षित और नियंत्रित किया और उनमें अपूर्व साहस, धैर्य परिश्रम और विजय की भावना कूट-कूट कर भर दी। उसने ऐसी युद्ध - प्रणाली और नीति को अपनाया जो महाराष्ट्र की भौगोलिक परिस्थिति और मराठा सैनिकों के अनुकूल थी। उन्होंने अपने षत्रुओं की स्थिति को देखकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने साधनों के अनुकूल अपनी रणनीति निर्धारित की। अपने इन विशिष्ट गुणों के कारण शिवाजी अपने लक्ष्य में सफल हो गये।

अभ्यास-प्रश्न

1. मराठा राष्ट्र के निर्माता के रूप में शिवाजी का मूल्यांकन कीजिये ।
2. शिवाजी के उद्देश्यों का उल्लेख कीजिये । उनको पूरा करने में उन्हें कहाँ तक सफलता मिली?
3. शिवाजी की शासन व्यवस्था की विवेचना कीजिये ।
4. शिवाजी की सफलता के लिये उत्तरदायी कारणों का विवेचन कीजिये।

शिवाजी के उत्तराधिकारी

षम्भाजी (1680-89 ई.) — शिवाजी ने अपने जीवन में सात विवाह किये थे, जिनसे दो पुत्र और पाँच पुत्रियों का जन्म हुआ था। शिवाजी का ज्येष्ठ पुत्र षम्भाजी था, किन्तु उसके दुराचार के कारण शिवाजी ने उसे पन्हाला के दुर्ग में नजरबन्द कर रखा था। शिवाजी का दूसरा पुत्र राजाराम था, जो शिवाजी की मृत्यु के समय केवल दस वर्ष का था। शिवाजी की मृत्यु के बाद उसकी तीसरी पत्नी सोयराबाई ने अप्रैल, 1680 ई. में अपने पुत्र राजाराम का रायगढ़ में राज्याभिषेक कर दिया। किन्तु षम्भाजी ने पन्हाला के किलेदार की हत्या कर किले पर अधिकार कर लिया और प्रधान सेनापति हम्मीरराव मोहिते को अपनी तरफ मिला लिया। तत्पश्चात् उसने रायगढ़ किले पर अधिकार कर राजाराम तथा सोयराबाई को जेल में — डाल दिया और 30 जनवरी 1681 ई. को विधिपूर्वक अपना राज्याभिषेक उत्सव मनाया।

षम्भाजी अत्यन्त क्रूर और विलासी था, जिससे वह शीघ्र ही जनता में अप्रिय हो गया, इसलिए उसकी हत्या का शङ्खत्रं रचा गया। षम्भाजी को इसकी भनक मिल गई और उसने अपनी सौतेली माँ सोयरा बाई तथा अनेक सरदारों को मरवा डाला। फलतः उसके सामन्त और

भारत का इतिहास

अधिकारी उसके विरुद्ध हो गये। षम्भाजी को अपने पिता के सेवकों पर से विश्वास उठ गया था, अतः उसने कन्नौज के महान् विद्वान् कवि कलष को बुलाकर अपना सलाहकार नियुक्त किया। विदेशी होने के कारण मराठा सरदार कवि कलष से घृणा करते थे। अतः शासन में असन्तोश और अपान्ति उत्पन्न हो गयी।

1681 ई. में सम्राट औरंगजेब का विद्रोही षाहजादा अकबर अपने पिता से भारत का सिंहासन छीनने में षम्भाजी का सहयोग प्राप्त करने हेतु दक्षिण आया। षम्भाजी ने उसे रायगढ़ से 25 मील दूर नौगना में ठहराया और 23 नवम्बर 1681 ई. को उससे मिला। किन्तु षम्भाजी को संदेह था कि यह औरंगजेब का कोई शङ्कन्त है। फिर षम्भाजी के दुर्बल चरित्र और घरेलू कठिनायों के कारण भी वह अकबर को सहायता देने में असमर्थ था। अतः षम्भाजी ने षहजादे की सुख-सुविधा का तो पूरा प्रबन्ध किया किन्तु उसे सहायता देने में कोई रुचि नहीं दिखाई। इसी बीच सम्राट भी अकबर का पीछा करता हुआ दक्षिण की तरफ आ गया था। अतः निराश होकर 1681 ई. में अकबर ने ईरान में जाकर शरण ली। षम्भाजी की पराजय और गिरफ्तारी— जिस समय औरंगजेब बीजापुर और गोलकुण्डा में उलझा हुआ था, तब एक सेना षम्भाजी के विरुद्ध भेज दी। मुगलों व मराठों के बीच भीषण युद्ध हुआ जिसमें मराठों ने औरंगाबाद से बुरहानपुर तक के मुगल प्रदेश को रौंद डाला। किन्तु बीजापुर और गोलकुण्डा का पतन होते ही औरंगजेब ने अपनी सारी शक्ति षम्भाजी के विरुद्ध लगा दी। षम्भाजी का प्रधान सेनापति हम्मीरराव माहिते मारा गया और मुगलों ने मराठों को घेर लिया। षम्भाजी और कवि कलष ने वहाँ से भागकर संगमेश्वर के डेरे पर आक्रमण कर दिया। फरवरी 1689 ई. में हल्की-सी मुठभेड़ के बाद षम्भाजी और कवि कलष बन्दी बनाकर औरंगजेब के डेरे पर लाये गये।

जिस समय षम्भाजी षाही डेरे पर लाये गये उस समय वे विदूषकों के कपड़े पहने हुए थे, सिर पर मूखों की-सी लम्बी टोपी पहने थे जिसके पीछे घण्टियाँ लटक रही थी। षम्भाजी और कवि कलष की तरफ सम्राट ने देखा और उन्हें कोठरियों में बन्द कर दिया गया। दूसरे दिन सम्राट ने षम्भाजी से उसके जीवन-दान के बदले सम्पूर्ण किले व खजाना मुगलों को सौंप देने की माँग की। किन्तु षम्भाजी ने बड़े तिरस्कारपूर्ण ढंग से इस माँग को ठुकरा दिया। अतः षम्भाजी की घोर शारीरिक यातनाएँ दी गईं। इस पर षम्भाजी ने सम्राट और उसके पैगम्बरों को धिक्कारा व गालियाँ दी और सम्राट से कहलवाया कि यदि वह मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध चाहता है तो अपनी लड़की का विवाह उससे (षम्भाजी) कर दे। इस सन्देश से औरंगजेब तिलमिलाया और उसने षम्भाजी व उसके मन्त्री कवि कलष को सता सताकर मार डालने की आज्ञा दे दी उसी रात को षम्भाजी की आँखें फोड़ दी गईं, दूसरे दिन कवि कलष की जीभ काट दी गई। इस प्रकार पन्द्रह दिन तक घोर यातना देने के बाद 21 मार्च 1689 ई. को उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े

करके कुत्तों को डाल दिये गये तथा उनके सिरों में भूसा भरकर मुख्य नगरों में ढोल पीट-पीटकर घुमाया

गया।

षम्भाजी का मूल्यांकन — षम्भाजी एक वीर सैनिक था, किन्तु अच्छा शासक अथवा राजनीतिज्ञ नहीं था। उसने विरोध को शान्त करने, मनुष्य के गुणों को पहचानने और अपने साथियों से मिलकर चलने के

गुण भी नहीं थे। वह आरम्भ से ही क्रूर और विलासी था। अपने पिता के समय के योग्य मंत्रियों व अधिकारियों से भी झगड़ना शुरू कर दिया और ऐसे लोगों को भी सन्देह की दृष्टि से देखने लगा जो

उसके पिता के राज्य को समृद्ध बनाने में अपूर्व योगदान दे चुके थे। विद्रोही शाहजादे अकबर से मिलकर भी सम्राट के विरुद्ध कोई मोर्चा नहीं बना सका। अतः वह अपने जीवन में बिल्कुल असफल रहा। किन्तु उसकी क्रूरतापूर्ण मृत्यु से उसके पापों का प्रायश्चित्त हो गया। अपनी मृत्यु के समय उसने जिसे अदम्य साहस का परिचय दिया, वह मराठा जाति को एक नई प्रेरणा देने वाला सिद्ध हुआ। सम्पूर्ण मराठा जाति अपने राजा की क्रूरतापूर्ण हत्या का बदला लेने के लिए उठ खड़ी हुई।

मराठों का स्वाधीनता संग्राम (१६८६-१७०७ ई.)

राजाराम — षम्भाजी की गिरफ्तारी के समय शिवाजी का द्वितीय पुत्र उन्नीस वर्ष का हो चुका था, अतः 19 फरवरी 1689 ई. को उसे राजा घोषित कर दिया गया और मराठों ने राजाराम के नेतृत्व में मुगलों के विरुद्ध अपना स्वाधीनता संग्राम छोड़ दिया। राजाराम ने अपने राज्यारोहण के बाद उन सभी उच्च पदाधिकारियों को मुक्त कर दिया जिन्हें षम्भाजी ने अन्यायपूर्वक गिरफ्तार कर लिया था। तत्पश्चात् उसने अपनी राजधानी की रक्षा की तैयारियाँ आरम्भ कर दी, जिसे जुल्फिकारखाँ ने घेर रखा था। षम्भाजी की विधवा येसूबाई ने राजाराम को विषालगढ़ चले जाने की सलाह दी और स्वयं रायगढ़ के घेरे का मुकाबला करने को डट गई। इस वीरांगना से उत्साह और प्रेरणा पाकर मराठा सरदारों ने मुगल प्रदेशों पर अभूतपूर्व धावा बोला और उन्हें लूटना व जलाना आरम्भ कर दिया। उन्होंने रायगढ़ पर जुल्फिकारखाँ की सहायता हेतु आने वाली नई सेना को भी रोक दिया। किन्तु सूर्य जी पिसाल नामक मराठा अधिकारी ने विश्वासघात कर 13 नवम्बर, 1689 ई. को मुगलों के लिए किले का दरवाजा खोल दिया। जुल्फिकारखाँ येसूबाई, उसके छोटे पुत्र शाहू तथा अन्य प्रतिष्ठित मराठा सरदारों को गिरफ्तार कर उन्हें मुगल शिविर में ले आया। उधन औरंगजेब ने मराठों के अन्य दुर्गा पर अधिकार कर लिया। किन्तु उसकी यह सफलता अस्थायी सिद्ध हुई, क्योंकि अब मराठों का स्वाधीनता संग्राम, लोक-युद्ध में परिवर्तित हो चुका था। अपने राष्ट्रीय विनाश को देखकर मराठों में ऐसा उत्साह आया कि उन्होंने औरंगजेब के सारे मंसूबों पर पानी फेरकर मराठों की खोई हुई स्वतन्त्रता को बचा लिया।

राजाराम विषालगढ़ में भी अधिक नहीं ठहर सका, क्योंकि मुगल सेना उसका पीछा करती हुई यहाँ भी आ पहुँची थी। अतः राजाराम अपने परिवार और दरबार के साथ जिंजी भाग गया, जो कुछ ही समय में मराठों की राजधानी बन गई। यहीं से मराठा सैनिक टुकड़ियाँ मुगलों पर हमला करने भेजी गयी, जिन्होंने मुगलों को एक जगह इकट्ठा नहीं होने दिया और खूब परेशान किया। उसी बीच जुल्फिकारखाँ ने जिंजी का घेरा डाल दिया, जो लगभग आठ वर्ष तक चलता रहा। राजाराम यहाँ से भी बचकर निकल भागा और महाराष्ट्र की तरफ आ गया। किन्तु जिंजी में लड़ाई चलती रही। शांताजी घोरपड़े व धनाजी यादव ने औरंगजेब के शिविर को घेर कर उसे अनेक बार लूटा। महाराष्ट्र को घेरकर उसे जीतने की इच्छा रखने वाला औरंगजेब स्वयं मराठों से घिर गया। मराठा सरदारों ने जगह-जगह मुगल सेना पर आक्रमण कर उन्हें तितर-बितर कर दिया और उनकी रसद लूट ली। अब मराठों के समक्ष सम्मान अथवा असम्मान का प्रश्न नहीं था, बल्कि महाराष्ट्र प्रदेश से मुगलों को निकाल बाहर करना लक्ष्य था। अब महाराष्ट्र की प्रत्येक व्यक्ति सैनिक था, प्रत्येक घर

भारत का इतिहास

उनका रक्षा स्थल था और प्रत्येक गाँव उनका दुर्ग था। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि, मुगल साम्राज्य और दक्षिण की देशी जनता के बीच इस बात की होड़ थी कि किसके साधन अधिक हैं और किसमें कष्ट सहते हुए डटे रहने की अधिक शक्ति है। ८

राजाराम जिंजी से भागकर पुनः विषालगढ़ आ गया और सतारा में अपना दरबार स्थापित किया। कुछ दिनों बाद मुगलों ने सतारा छीन लिया। लेकिन आगे चलकर 1704 ई. में मराठों ने इसे वापिस ले लिया। राजाराम ने अपने सारे राज्य का दौरा कर अपने किलेदारों व सेनानायकों को प्रोत्साहित किया, जिससे मराठों में एक नया जोश पैदा हो गया और उन्हें विश्वास हो गया कि वे शक्तिशाली मुगलों को खदेड़ देंगे। 1699 ई. में वह सूरत लूटने के लिए रवाना हुआ, लेकिन मुगल सेना ने उसे लौटने के लिए बाध

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छात्र

कर दिया। इस समय राजाराम बीमार पड़ गया। चूँकि इस समय सतारा का घेरा पड़ा था, अतः उसे पालकी में सिंहास ले जाया गया, जहाँ 13 मार्च 1700 ई. को तीस वर्ष की अल्पायु में उसकी मृत्यु हो गयी। यद्यपि राजा ने अपने पिता के समान योग्यता और रणकौशल नहीं था, लेकिन उसे शान्ताजी बघनाजी जैसे योद्धा मिल गये, जो उसकी योजना और नीति को कार्यान्वित कर सकते थे। राजाराम अपने मंत्रियों का पूरा-पूरा विश्वास करता था और यही कारण था कि उसने विरासत में मिली परिस्थितियों को पूर्णतः बदल दिया था। शम्भाजी की गिरफ्तारी के बाद औरंगजेब ने समझा था कि उसने मराठा शक्ति को कुचल दिया। किन्तु राजाराम के नेतृत्व में मराठों ने मुगलों की नाक में दम कर दिया।

&

ताराबाई प्रभुत्व— राजाराम की मृत्यु के बाद उसकी विधवा रानी ताराबाई ने विलक्षण संगठन शक्ति का परिचय दिया। खाफी खॉ ने लिखा है कि, जब राजाराम अपनी विधवाओं और छोटे बच्चों को छोड़कर मर गया तो उस समय लोगों ने सोचा कि दक्षिण में मराठा शक्ति का अन्त आ गया है। किन्तु उसकी (राजाराम की) बड़ी पत्नी ताराबाई ने अपने तीन वर्ष के बालक को सिंहासन पर बैठाया और सरकार की बागडोर अपने हाथ में ले ली। उसके शाही प्रदेशों को उजाड़ने के लिए कठोर कार्यवाही की और सिरोंज तक दक्षिण के छरू सूबों और मन्दसौर तथा मालवा के सूबों को लूटमार करने के लिये अपनी सेनाएँ भेज दीं। उसने अपने अधिकारियों का हृदय जीत लिया। यद्यपि औरंगजेब अपने जीवन के अन्त तक संघर्ष करता रहा, योजनाएँ बनाता रहा, चढ़ाईयों और घेरे डालता रहा, फिर भी दिन-प्रतिदिन मराठों की शक्ति बढ़ती गई। ९

इस समय पन्हाला और विषालगढ़ के दरद किले मराठों की राजधानी बने हुए थे, अतः औरंगजेब ने पन्हाला को जीतने के लिये अपनी सेना भेज दी। औरंगजेब ने एक-एक करके मराठों के अनेक दुर्ग पर अधिकार कर लिया। लेकिन उसने वे सभी दुर्ग युद्ध में जीतकर नहीं बल्कि घूस देकर या लालच देकर प्राप्त किये थे। लेकिन मराठे भी औरंगजेब के शिविर को निरन्तर घेरकर उसकी प्रत्येक वस्तु लूट ले गये। औरंगजेब ने जिन मराठा दुर्ग पर अधिकार किया था, वे सभी धीरे-धीरे वापिस उसके हाथ से निकल गये। ताराबाई के नेतृत्व में मराठा शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि औरंगजेब को अब अपने बचाव में लगना पड़ा। सम्राट

के अन्तिम वर्ष में तो मराठों ने महाराष्ट्र को पार कर मालवा और गुजरात तक लम्बे-लम्बे छापे मारे। उन्होंने पश्चिमी समुद्र तट के बुरहानपुर, सूरत, भड़ौच और दूसरे समृद्ध नगरों को लूटा और दक्षिण कर्नाटक में अपना राज्य स्थापित किया। मराठों की इन सफलताओं के समाचार सुन-सुनकर औरंगजेब अपनी पगड़ी फेंकता, होंठ काटता और तिलमिला कर सिर धुनता, लेकिन वह असहाय था, क्योंकि मराठा शक्ति उसके लिये विशैला नासूर बन चुकी थी। इन विफलताओं का भाग लेकर फरवरी, 1707 ई. में औरंगजेब इस लोक से विदा हुआ। शिवाजी ने जिस मराठा जाति को संगठित किया था वह औरंगजेब की प्रतिष्ठा एवं प्राणान्त का कारण सिद्ध हुई। ताराबाई ने बड़ी योग्यता से मराठा स्वतन्त्रता संग्राम का संचालन किया और दक्षिण में मुगलों की जो दुर्दशा हुई वह ताराबाई के नेतृत्व का परिणाम थी।

छत्रपति शाहू (1707-1749 ई.)— नवम्बर, 1689 ई. में रायगढ़ का पतन हो जाने पर शंभाजी की विधवा येशूबाई, उसका छोटा पुत्र तथा मराठा राजवंश के कई अन्य सदस्य गिरफ्तार कर मुगल शिविर में आये गये थे। शाहू उस समय केवल 7 वर्ष का था और साढ़े सतरह वर्ष उसने मुगलों की कैद में व्यतीत किये। औरंगजेब की तीव्र इच्छा थी कि शाहू को मुसलमान बना दिया जाय, किन्तु उसने अपनी पुत्री जीनतुन्निसा, जो शाहू की देखरेख करती थी, के कहने से यह विचार त्याग दिया। शाहू ने भुगल शिविर में मराठी लिखना पढ़ना, हिन्दी बोलना, घोड़े पर चढ़ना, शिकार खेलना और तलवार चलाना सीख लिया था।

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में उत्तराधिकार संघर्ष छिड़ गया। मुख्य संघर्ष छिड़ गया मुख्य संघर्ष उत्तर में स्थित शाहजादा मोअज्जम और दक्षिण में तैनात शाहजादा आजम के बीच था। जब आजम दक्षिण भारत से उत्तर के लिए रवाना हुआ तब अपने साथ शाहू और उसके परिवार को भी लेता गया। नर्मदा नदी पार करने के बाद मुगल सेनापति जुल्फिकारख़ाँ ने सुझाव दिया कि शाहू को मुक्त कर दिया जाय, किन्तु उसकी माता, पत्नियों व सौतेले भाई को बन्धक के रूप में

मुगल शिविर में रखा जाय। शाहू को मुक्त करने के दो उद्देश्य थे— प्रथम तो यह शाहू के महाराष्ट्र पहुँचते ही शाहू और ताराबाई में उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ जायेगा। दूसरा यह कि गरह-युद्ध में उलझ जाने के कारण मराठा दक्षिण भारत में मुगलों को हानि नहीं पहुँचा सकेंगे। मई, 1707 ई. में शाहू अपने मुखी भर साथियों के साथ महाराष्ट्र की तरफ रवाना हो गया। महाराष्ट्र पहुँचते-पहुँचते उसके पास एक अच्छी सेना हो गयी।

रु

जब ताराबाई को शाहू के आगमन की सूचना मिली तो ताराबाई ने घोशणा कर दी कि शाहू छली और कपटी है और उसका उस राज्य पर कोई अधिकार नहीं है जिसे उसके पिता शंभाजी ने नष्ट कर दिया था। उसने कहा कि वर्तमान राज्य का निर्माण तो उसके पति राजाराम ने किया है, इसलिए इस राज्य का शासक उसका पुत्र शिवाजी द्वितीय है। ताराबाई ने शाहू की प्रगति को रोकने हेतु धनाजी जादव के नेतृत्व में एक सेना भेज दी। अतः अब शाहू को भी अपनी चाची से युद्ध के लिए तैयार होना पड़ा। नवम्बर, 1707 ई. में खेड नामक स्थान पर युद्ध हुआ जिसमें ताराबाई का प्रतिनिधि परसराम पन्त पराजित होकर भाग खड़ा हुआ। शाहू ने धनाजी जादव को अपने अपने पक्ष में मिला लिया, इसलिए उसने युद्ध भाग

भारत का इतिहास

नहीं लिया। ताराबाई के अनेक प्रमुख अधिकारी षाहू से आ मिले। सतारा के निकट ताराबाई की सेना पुनरु परास्त हुई। सतारा पहुँच कर षाहू ने 22 जनवरी 1708 ई. को अपना राज्याभिषेक किया। ताराबाई और उसके पुत्र ने पन्हाला में षरण ली, किन्तु षाहू ने पन्हाला पर भी अधिकार कर लिया, अतः ताराबाई को मलवान की ओर भागना पड़ा, किन्तु वह षीघ्र ही लौटकर पन्हाला में बस गयी। यहाँ से उसे षाहू के सेनापति चन्द्रसेन व अन्य प्रमुख सरदारों का सहयोग मिल गया। अतः ताराबाई ने अपनी षक्ति संगठित कर कोल्हापुर को अपनी नयी राजधानी बनाया।

षाहू अन्तिम मराठा छत्रपति था, जिसने राजा के अधिकारों का प्रयोग किया था, क्योंकि इसके बाद छत्रपति की वास्तविक षक्ति पेषवाओं ने ग्रहण कर ली। षाहू आरामपसन्द व्यक्ति होने के कारण न तो उसने षासन प्रबन्ध में रुचि ली और न कभी युद्ध में भाग लिया। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे पेषवा मराठा राज्य के सर्वेसर्वा बन गये।

पेषवाओं का उत्थान — प्रो. एच. एन. सिन्हा ने 1707 ई. में महाराष्ट्र की राजनैतिक स्थिति और षाहू की कठिनाइयों को पेषवाओं के उत्थान के प्रमुख कारण बताये हैं। इस आधार पर पेषवाओं के उत्थान के निम्न कारण थे—

(1) षाहू के राज्यारोहण के साथ महाराष्ट्र की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त गम्भीर थी। मुगल-मराठा संघर्षों के कारण प्रदेश बर्बाद हो चुका था, चारों ओर अव्यवस्था फैल चुकी थी। और षिवाजी की षासन पद्धति लुप्त हो चुकी थी। प्रमुख मराठा सरदारों ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति हेतु ताराबाई अथवा षाहू का पक्ष ग्रहण कर लिया था। आरामपसन्द षाहू के लिए इन उलझी हुई समस्याओं को सुलझाना सम्भव नहीं था। अतः चितपावन ब्राह्मण परिवार के महत्वाकांक्षी सरदारों को आगे आने का अवसर मिला। इस परिवार के सदस्य ही नवीन पेषवा बने जिन्होंने अपनी योग्यता एवं कुषलता से इन समस्याओं को सुलझा कर मराठा राज्य को षक्तिषाली बनाया।

(2) षाहू ताराबाई की षक्ति समाप्त करना चाहता था, किन्तु मराठा सरदारों को भय था कि ताराबाई की षक्ति समाप्त होने के बाद षाहू को उनकी सेवाओं की आवष्यकता नहीं रहेगी जिससे वे अपनी स्वार्थ सिद्धि नहीं कर पायेंगे। इस प्रकार जब महाराष्ट्र में स्वार्थ संकीर्णता, धन-लोलुपता और अवसरवादिता का बोलबाला था, पेषवाओं ने उनके सामने षहिन्दू पद पादषाहीष का महान् उद्देश्य रखकर सेवा, परिश्रम और बलिदान का आदर्ष प्रस्तुत किया। फलतः मराठा सरदारों ने पेषवाओं का नेतृत्व स्वीकार कर लिया।

(3) षाहू अभी तक महाराष्ट्र का सर्वोच्च षासक के रूप में प्रतिस्थापित नहीं हुआ था, क्योंकि ताराबाई तथा उसका पुत्र षिवाजी द्वितीय और राजाराम की दूसरी पत्नी राजसबाई व उसका पुत्र षम्भाजी द्वितीय उसके प्रतिद्वन्द्वी विद्यमान थे। अतः षाहू को ऐसे व्यक्ति की सेवाओं की आवष्यकता थी जो महाराष्ट्र में षाहू की सर्वोच्च सत्ता स्थापित कर सके, षान्ति और व्यवस्था स्थापित कर सके और प्रषासन को संगठित कर सके। पेषवाओं ने षाहू की इस इच्छा को पूरा कर दिखाया, अतः उनका उत्कर्ष होता

गया।

५१.

(4) मराठा स्वन्त्रता संघर्ष काल में मराठा सरदारों ने अपनी शक्ति से मुगलों से अनेकों जागीरे छीनकर उन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। अब वे मराठा सरदार अपने अधिकारों वकू

- विपेशाधिकारों को छोड़ने को तैयार नहीं थे। अतः शाहू को ऐसे कुशल राजनीतिज्ञ की आवश्यकता थी जो इन मराठा सरदारों के अधिकारों व विपेशाधिकारों को छीने बिना उन्हें केन्द्रीय सत्ता के अधीन कर प्रदेश में राजनैतिक एकता स्थापित कर सके और मराठा सरदारों की धन-पिपासा शान्त करने हेतु महाराष्ट्र

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

के बाहर उनके लिए पथक् प्रभाववर्ती क्षेत्र निर्धारित कर सके। पेशवाओं ने यह कार्य कर दिखाया, अतः पेशवाओं का नेतृत्व स्वीकार कर लिया गया।

(5) शिवाजी के काल में पेशवा का पद प्रमुख था। किन्तु राजाराम के शासनकाल में हुकूमतपनाह और प्रतिनिधि नामक दो अधिकारियों ने अष्ट प्रधान की सारी शक्तियाँ अपने हाथ में ले ली थी। ताराबाई के शासनकाल में हुकूमतपनाह की गिरफ्तारी तथा शाहू के हाथों प्रतिनिधि की पराजय ने दोनों की प्रतिष्ठा समाप्त कर दी। अतः शाहू के काल में पेशवाओं को आगे आने का अवसर मिल गया।

इस प्रकार पेशवाओं का उत्थान उनकी श्रेष्ठ सेवाओं के कारण हुआ। उनकी सेवाओं से प्रभावित होकर आरामपसन्द एवं विलासी शाहू ने स्वेच्छा से छत्रपति के अधिकार उन्हें सौंप दिये। शाहू के प्रथम तीन पेशवा योग्य प्रबन्धक, साहसी सेनानायक तथा विश्व परिस्थितियों में जूझने वाले और मराठा शक्ति को सर्वोच्च बनाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा सिद्ध हुए। अपनी योग्यता से पेशवा में वह कर दिखया, जो समय की पुकार थी। वे पहले अष्ट प्रधान की शक्ति से ऊपर उठे और बाद में छत्रपति की शक्ति से भी ऊपर उठ गये। सत्ता का हस्तान्तरण इतना चुपचाप और सारू रूप से हुआ कि तत्कालीन लोगों को इसकी पर्याप्त जानकारी भी न मिल सकी।

पेशवा बालाजी विश्वनाथ (१७१३-१७२० ई.)

पेशवा घराने के संस्थापक बालाजी विश्वनाथ का जन्म कोंकण प्रदेश के श्रीवर्धन गाँव के श्चितपावन ब्राह्मणों के भट्ट परिवार में 1600 ई. के लगभग हुआ था। इस गाँव के सिद्दी मुसलमानों से कलह हो जाने के कारण उन्हें अपने परिवार सहित महाराष्ट्र में आना पड़ा और कुछ समय बाद उन्होंने मराठा सेनानायक धनाजी जादव की नौकरी कर ली और धनाजी की और से पूना और दौतलाबाद का सरसूबेदार भी रहा। खेड़ के युद्ध में बालाजी विश्वनाथ के अनुराध पर ही धनाजी ने शाहू का पक्ष ग्रहण किया था। तत्पश्चात् वह स्वयं भी शाहू की सेवा में आ गया। शाहू ने बालाजी को अल्पायु अमात्य अम्बुराव हनुमन्ते का मुतालिक नियुक्त किया। जून, 1708 ई. में धनाजी की मृत्यु के बाद शाहू ने धनाजी के पुत्र चन्द्रसेन को सेनापति नियुक्त कर दिया। किन्तु चन्द्रसेन ताराबाई का समर्थक माना जाता था, अतः शाहू ने बालाजी को सेनाकाते के पद पर नियुक्त कर दिया ताकि सैनिक संगठन के साथ वह चन्द्रसेन की कार्यवाहियों पर निगाह रख सके। इससे चन्द्रसेन बालाजी से चिढ़ गया और जब शाहू ने इन दोनों को विद्रोही मराठा सरदार दाभाजी थोरट के विरुद्ध भेजा

भारत का इतिहास

तब मार्ग में ही दोनों में झड़प हो गयी और बालाजी को भागकर प्राण बचाने पड़े। इस पर षाहू ने हैबतराव निम्बालकर को भेजा, जिसने चन्द्रसेन को पराजित किया। पराजित चन्द्रसेन ताराबाई से जा मिला और उसकी प्रेरणा से हैबतराव भी ताराबाई के पक्ष में चला गया। ऐसे कठिन समय में, जबकि राजकोश रिक्त था, षाहू के आदेश से बालाजी ने धन उधार लेकर एक षक्तिषाली सेना संगठित कर ली।

कान्होजी आंग्रे मराठा जल सेना का प्रधान था और पश्चिमी घाट का सर्वाधिक षक्तिषाली सामन्त था। उसने जंजीरा के सोदियों पुर्तगालियों और अंग्रेजों पर कई बार महत्वपूर्ण विजयें प्राप्त की थी। यद्यपि आरम्भ में उसके षाहू की नाममात्र की अधीनता मान ली थी, किन्तु चन्द्रसेन के पक्ष बदलने पर वह भी ताराबाई का समर्थक बन गया। अतः षाहू ने अपने पेशवा बहिरोपन्त पिंगले को उसके विरुद्ध भेजा। लेकिन कान्होजी ने पेशवा को परास्त कर कैद कर लिया और षाहू की राजधानी सतारा पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगा। ऐसी संकटापन्न स्थिति में षाहू ने जेलखाने में बन्द पुराने अनुभवी प्रतिनिधि परसराम पन्त को पेशवा का पद ग्रहण करने का अनुरोध किया किन्तु वृद्ध प्रतिनिधि ने इस पद हेतु स्वामिभक्त बालाजी विश्वनाथ का नाम सुझाया। अतः 16 नवम्बर, 1713 ई. को बालाजी विश्वनाथ को नया पेशवा नियुक्त कर दिया गया और कान्होजी के विरुद्ध जाने का आदेश दिया। बालाजी ने षस्त्र बल की अपेक्षा कूटनीति से काम लिया। उसने कान्होजी से व्यक्तिगत मुलाकात की और षाहु के नेतृत्व में महाराष्ट्र की एकता की आवश्यकता पर बल दिया। फलतः कान्होजी ने षाहू की अधीनता स्वीकार कर ली। यह बालाजी की षानदार सफलता थी।

ताराबाई को प्रभावहीन बनाना — षाहू ताराबाई की सत्ता को समाप्त करना चाहता था, किन्तु अपने सरदारों का पर्याप्त सहयोग न मिलने तथा अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण वह अपनी चाची के विरुद्ध कठोर कार्यवाही न कर सका। 1708 ई. में उसने ताराबाई से समझौता करने का भी असफल प्रयास किया। इसी वर्ष जब मुगल सम्राट बहादुरषाह दक्षिण की तरफ आया तब षाहू ने दक्षिण के छः सूबों से चौथ

व सरदेषमुखी वसूल करने के अधिकार की माँग की। अतः बहादुरषाह ने कहलवाया कि पहले दोनों आपस में तय कर ले कि इसका वास्तविक अधिकारी कौन है। फलतः षाहू और ताराबाई के बीच पुनः तनाव बढ़ गया। इधर 1713 ई. में जब मराठों का घोर षत्रु निजाम—उल—मुल्क दक्षिण का सूबेदार नियुक्त होकर आया, तब चन्द्रसेन की सलाह से ताराबाई ने षाहू के विरुद्ध निजाम से सहयोग माँगने का विचार किया। यह बात रामचन्द्र पन्त को अच्छी नहीं लगी, क्योंकि इससे महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता पुनः खतरे में पड़ सकती थी। अतः उसने ताराबाई को सत्ताच्युत करने को शड्यन्त्र रचा, जिसमें बालाजी विश्वनाथ ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। जुलाई 1714 ई. में रामचन्द्र पन्त ने ताराबाई और षिवाजी द्वितीय को बन्दी बना लिया और उसके स्थान पर राजाराम की दूसरी पत्नी राजसबाई व उसके पुत्र षम्भाजी को सत्तारुढ़ कर दिया। इस प्रकार षाहू को अपने कंठर षत्रु से मुक्ति मिल गयी। ताराबाई के पतन के बाद चन्द्रसेन निजाम की सेवा में चला गया।

विद्रोही मराठा सरदारों का दमन— षाहु के राज्यारोहण के बाद भी अनेक मराठा सरदार स्वतन्त्र रूप से लूटमार कर अपनी व्यक्तिगत महात्वाकांक्षा की पूर्ति कर रहे थे और षाहू की केन्द्रीय सत्ता की खुलकर अवमानना कर रहे थे। ऐसे सरदारों में कृष्णराव खटावकर, दाभाजी थोरट और उदाजी चौहान मुख्य थे। बालाजी विश्वनाथ ने सर्वप्रथम कृष्णराव खटावकर को पराजित कर मार डाला। 1718 ई. में उसने दाभाजी थेस्ट पर हमला कर उसे

बन्दी बना लिया और जब उदाजी चौहान के विरुद्ध कार्यवाही की तो वह भाग कर निजाम की षरण में चला गया। इस प्रकार बालाजी ने षाहू को घरेलू संकट से मुक्ति दिलवाकर उसकी सत्ता को सबल बनाया।

1

सैय्यद बन्धुओं से समझौता — मुगल सम्राट बहादुरषाह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जहाँदारषाह दिल्ली के तख्त पर आसीन हुआ। किन्तु 1713 ई. में सैय्यद भाइयों सैय्यद अब्दुल्लाखाँ और से श्यद हुसैन अलीखाँ के सहयोग से फरुखसियर, जहाँ दारषाह को हटाकर मुगल बादषाह बना। अतः दरबार में सैय्यद भाइयों का वर्चस्व बढ़ गया, जिसे फरुखसियर सहन न कर सका और सैय्यद भाइयों को समाप्त करने की योजना बनायी। फरुखसियर ने हुसैन अली को सूबेदार बनाकर दक्षिण में भेज दिया और उसे मराठों का दमन करने का आदेश दिया दूसरी ओर उसने षाहू को गुप्त संदेश भिजवा दिया कि नये सूबेदार को समाप्त कर दे। हुसैन अली को दक्षिण में मराठों के विरुद्ध सफलता नहीं मिली। हुसैन अली को फरुखसियर की गुप्त योजना का पता चल गया। उधर दिल्ली में भी उसके बड़े भाई अब्दुल्लाखाँ की स्थिति संकटमय हो गयी। अतः उसने हुसैन अली को दिल्ली बुलवाया। हुसैनअली ने षंकरजी मल्हार के माध्यम से बालाजी विश्वनाथ से समझौता कर लिया, जिसके अनुसार मुगलों ने षाहू को वे सभी प्रदेश और किले, जो षिवाजी के ष्वराज्य में षामिल थे, लौटाने का वचन दिया, षाहू को दक्षिण के छः सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार देने का वचन दिया, षाहू की माता, पत्नी भाई आदि. जो मुगलों की कैद में थे, उन्हें मुक्त करने का वचन दिया और षाहू ने मुगल सम्राट को 10 लाख रुपया वार्षिक गेंद देने तथा सम्राट की सेवा में 15,000 मराठा घुड़सवार रखने का वादा किया।

इस सन्धि के द्वारा बालाजी ने न केवल षाहू की, बल्कि अपने देश की महत्वपूर्ण सेवा की। महाराष्ट्र में षाहू की स्थिति सर्वोच्च हो गयी। और दक्षिण की षासन व्यवस्था में पहली बार मराठे, मुगलों के साझीदार बन गये। हुसैनअली के साथ बालाजी को दिल्ली जाने और मुगलों की केन्द्रीय सत्ता के वास्तविक स्वरूप को देखने का अवसर मिला, जिससे प्रेरित होकर उत्तर भारत में मराठा प्रभाव बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

. पेषवा की दिल्ली यात्रा— सम्राट फरुखसियर ने मराठों के साथ सम्पन्न सन्धि को स्वीकार नहीं किया। अतः सैयद हुसैन अली, बालाजी के नेतृत्व में 15,000 मराठा सैनिकों को लेकर दिल्ली आ धमका हुसैन अली ने अपने भाई के साथ मिलकर सम्राट फरुखसियर को अपमानित किया और फिर उसे अन्धा कर मार दिया। फरुखसियर के स्थान पर रफी—उद—दाराजात को सम्राट बनाया गया। नये सम्राट ने बालाजी को तीन फरमान दिये थे— (1) तंजोर, त्रिचनापल्ली और मैसूर राज्यों सहित दक्षिण के छः सूबों से चौथ वसूल करने का अधिकार (2) दक्षिण के सूबों से सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार, तथा (3) षिवाजी के ष्वराज्य पर षाहू के अधिकार को मान्यता। षाहू के परिवार के सभी सदस्यों को रिहा कर दिया गया। बालाजी षाहू के परिवार को लेकर जुलाई, 1719 ई. में सतारा पहुँचा, जहाँ भव्य दरबार में षाहू ने बालाजी का हार्दिक स्वागत किया।

167

बालाजी विश्वनाथ की यह दिल्ली यात्रा अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। दक्षिण के मराठा जिन मुगलों से आतंकित थे, उनकी सत्ता का खोखलापन उन्हें स्पष्ट हो गया। मुगल

भारत का इतिहास

सरदारों की स्वार्थलिप्सा, दलबन्दी और शङ्क्यन्त्रों से मराठों को विश्वास हो गया मुगल साम्राज्य अब मृतप्रायः हो रहा है। अतः लौटने के बाद बालाजी ने उत्तर भारत में मराठा शक्ति के प्रसार की योजना बनाई, परन्तु योजना को कार्यान्वित करने से पूर्व ही 3 अप्रैल, 1720 को बालाजी की मृत्यु हो गयी।

मूल्यांकन – बालाजी विश्वनाथ एक साधारण सेवक से पेशवा बनाया गया था। महाराष्ट्र की विशम परिस्थितियों में भी पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने देश को समृद्ध और शक्तिशाली बनाया। वह अपने समय का एक योग्य कूटनीतिज्ञ था। उसने शाहू की शक्ति को न केवल सर्वोच्च बनाया अपितु मुगलों से उसके अधिकार को कानूनी मान्यता भी प्रदान कराई। उसने अपने कार्यों से पेशवा पद के सम्मान और प्रभाव में इतनी वृद्धि कर दी कि आगे चलकर पेशवा छत्रपति से भी अधिक शक्तिशाली हो गया। उसने मराठा सरदारों के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया कि मुगल साम्राज्य के भग्नावशेषों पर मराठा साम्राज्य की भव्य इमारत खड़ी की जा सकती थी। इसके लिये उसने मराठा महासंघ की नींव रखी, जिसके अन्तर्गत शाहू के स्वामिभक्त सामन्तों को न केवल उनकी पुरानी जागीरों में स्थायी किया गया बल्कि उन्हें नई जागीरें व सुविधाएँ भी प्रदान की गईं। ये मराठा सरदार अपने-अपने क्षेत्र में लगभग स्वतन्त्र होते थे तथा अपने क्षेत्र से चौथ व सरदरमुखी वसूल कर अपने हिस्से की निश्चित राशि निकाल कर पेश धन शाहू के कोश में जमा करा देते थे। धीरे-धीरे ये मराठा सरदार इतने शक्तिशाली हो गये कि स्वयं पेशवा भी उन्हें नियंत्रण में रखने में कठिनाई अनुभव करने लगा। संक्षेप में, बालाजी विश्वनाथ ने वे सभी उपकरण व सामग्री एकत्रित कर दीं, जो मराठों के राष्ट्रीय गौरव और साम्राज्य विस्तार के लिए आवश्यक थी।

पेशवा बाजीराव प्रथम (१७२०–१७४० ई.)

बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु के बाद शाहू ने उसके बीस वर्षीय पुत्र बाजीराव को अपना पेशवा नियुक्त किया। बाजीराव एक साहसी सैनिक, रणकुशल सेनानायक तथा कूटनीति में दक्ष था। छापामार युद्ध में तो वह दक्ष था। यद्यपि बालाजी विश्वनाथ ने तात्कालिक समस्याओं को हल किया था, किन्तु वह उनका स्थायी समाधान नहीं कर पाया था। अनेक मराठा सरदार व कोल्हापुर का शम्भाजी अभी भी शाहू के विरुद्ध शङ्क्यन्त्र रच रहे थे तथा निजाम-उल-मुल्क दक्षिण में हैदराबाद का स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की योजना बना रहा था। इसके अतिरिक्त शाहू को सरकार की आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं थीं। परन्तु बाजीराव ने बड़े धैर्य, साहस और लगन से इन समस्याओं का सामना किया। वह साम्राज्यवादी नीति का पोषक था और दुर्बल मुगल साम्राज्य पर प्रहार कर मराठा वर्चस्व स्थापित करना चाहता था। उसने कहा कि, 'हमें इस जर्जर वक्ष के तने पर आक्रमण करना चाहिये, शाखाएँ तो स्वयं ही गिर जायेंगी। यदि हम अपने संघर्ष को आगे बढ़ायें तो मराठा ध्वज कृष्णा से अटक तक फहरायेगा परन्तु उसके मार्ग में मुख्य तीन अवरोध थे जिन्हें हटाये बना आगे बढ़ना सम्भव नहीं था। ये तीन अवरोध थे— (1) दक्षिण हैदराबाद का निजाम (2) कोल्हापुर का शम्भाजी द्वितीय और (3) सेनापति त्रिम्बकराव दाभाड़े।

निजाम से संघर्ष— जैसाकि पहले बताया जा चुका है कि मुगल दरबार में सैय्यद बन्धुओं का वर्चस्व कायम हो गया था। निजाम-उल-मुल्क सैय्यदों का विरोधी था, अतः नई सरकार के साथ उसकी निभ नहीं सकी, अतः वह दिल्ली से दक्षिण लौट आया। लेकिन सैय्यदों के कहने पर दक्षिण के तत्कालीन सूबेदार आलिम अली ने निजाम का विरोध किया, किन्तु वह निजाम से परास्त होकर मारा गया। निजाम ने दक्षिण के छः सूबों पर अधिकार कर लिया। केन्द्र में सैय्यदों के पतन के बाद निजाम ने 1719 ई. की मुगल-मराठा सन्धि

को मानने से इन्कार कर मराठों को दक्षिण के छः सूबों से चौथ व सरदेसमुखी. देने से मना कर दिया। इस पर छापामारों मराठा सैनिकों ने उसे इतना परेषान किया कि 1721 ई. में उसने बीदर की चौथ व दक्षिण के छः सूबों से सरदेसमुखी देना स्वीकार कर लिया। कुछ समय बाद मुगल सम्राट मुहम्मदशाह ने निजाम को दिल्ली बुलाकर वजीर का पद दक्षिण के छः सूबों के अतिरिक्त मालवा और गुजरात की सूबेदारी भी दी। लेकिन दिल्ली में सम्राट

eky oko x t j k r d h l w a k j h N h u y h A v a % v c fut le us n f { k k e a v i u k L o r } j k T ; L F k i r d j u s d k f u ' p ; f d ; k A m l d h b l ; k u k u s m l s e j k B l e d k c y c f r } U h c u k f n ; k A

fut le , d l q k d w u l f r K r F k ? k s " k M i a d k j h F k A m l d s v i u h v k o ' ; d r k d s l e ; r k e a y & e j k B k l f u k d k i k y u d j u s d k o p u n s f n ; k f d U q o g a n ; l s b l l f u k l s b l l f u k d k i k y u d j u k u g h a p k r k F k A v r % m l u s e j k B k l a k i f r f = E d j k o o ' k e h k h f j r h d s l g ; k l s i s o k c k t h j o d s f o #) " k M i } j p u k ' k q f d ; k A 1726 b Z e a c c k t h j o d u k z d v f k k u i j x ; k g u k F k r c m l u s ' k g w k s c f r f e k J h r j k o l s o f a x r H a d j b l c k r d s f y , j k h d j f y ; k f d e j k B k v f a d k j h m l d s j k T ; g d j k c k n e a c o k u d j j a p k o l j n s e f k h o g H b r k j g k A b l d s c k n m l u s ' k e h k h f j r h d k s m d l k k f d o g n f { k k d s l w a l s p k v k s l j n s e f k h d h e k x d j s l ! ' k e h k h f j r h u s t c e k x d h r k s f u t k x u s ' k g w d k s p k o l j n s e f k h n a s l s b l d k j d j f n ; k A y f d u T ; k g h ' k g w d k s f u t l e d h p k y l e > e a v k o z R k g h f u t l e u s ' k e h k h f j r h d s l g ; k l s ' k g w d s f o :) ; q N M f n ; k A 1728 b Z e a s o k c k t h j o u s i k y [k a u l e d L F k u i j f u t l e d k s p k j k a v k s l s ? s d j f c u k ; q y M a f u k d j u s d k s c l e d j f n ; k A e k p Z 1728 b Z e a n k a k e a e h k k p d h l f u k g l x ; h j f t l e a f u t l e u s ' k g w d k e g j k ' V d k , d e k = ' k l d L o r d k j d j m l s p k o l j n s e f k h n a s d k o p u f n ; k v k s H k o " ; e a ' k e h k h d k l k F k u n a s d k H h o p u f n ; k A i k y [k a e a ; g c k t h j o d h ' k u n k j l b i d r F k d w u l f r d f o t ; F k A

1736 b Z r d e j k B k u s e k y o k e a h h y w e k j d j u k v k j E k d j f n ; k F k A v r % e a y l e a / u s 1737 b Z e a f u t l e d k s f n Y y h c g k d j e j k B l e d k n e u d j u s d k d l e l k s k A f u t l e , d f o ' k y ' k g h l a k o l o k e r k s [k u k y d j e j k B l e d s f o #) x ; k A y f d u H k s k y d s f u d V c k t h j o u s m l s v p k u d ? s d j l f u k d s f y ; s f o o ' k d j f n ; k A t u o j h 1738 b Z d k n k e k e d s c h p n j p Z j k d h l f u k g l x ; h j f t l d s v u b k j f u t l e u s l E w k e y o k j u c a k r F k p E y d s c h p d k { k v k s ; q d s g t k z s d s 50 y k k # i ; s e j k B l e d k n a s d k o p u f n ; k A b l f o t ; d s c k n c k t h j o H k j r h j k t u l f r e a , d e g R o i w k Z k a l e > k t k u s y x k A

षम्भाजी द्वितीय को परास्त करना— कोल्हापुर का राजा षम्भाजी द्वितीय आरम्भ से ही षाहू की बढ़ती हुई शक्ति से ईर्ष्या करता था। इसीलिए वह सरलता से निजाम के बहकावे में आ गया और उसने षाहू से शिवाजी के आधे पञ्चराज्य की माँग की तथा दक्षिण की चौथ व सरदेषमुखी में अपने हिस्से की माँग की। 1726 ई. में उसने निजाम के साथ मिलकर षाहू के राज्य पर आक्रमण किया, किन्तु पालखेद में निजाम की पराजय से षम्भाजी अकेला पड़ गया। अब उसने ऊदाजी चौहान जैसे विद्रोही मराठा सरदारों के सहयोग से षाहू का विरोध आरम्भ किया अतः 1730 ई. में बाजीराव ने वार्ना नदी के निकट षम्भाजी को परास्त किया। अप्रैल, 1731 ई. में दोनों में सन्धि हो गई, जिसके अनुसार कर्नाटक व कोंकण के प्रदेश षाहू व षम्भाजी के बीच विभाजित कर दिये और षम्भाजी ने महाराष्ट्र में षाहू की सर्वोच्चता स्वीकार कर ली। इस सन्धि के बाद षम्भाजी ने षाहू का कभी विरोध नहीं किया तथा शिवाजी के वंशजों की मैत्री से मराठों की एकता पुष्ट हो गई। अब बाजीराव उत्तर की ओर प्रसार कर सकता था।

सेनापति दाभाड़े की पराजय— मराठी सेनापति त्रिम्बकराव दाभाड़े बाजीराव की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा और शक्ति से अत्यधिक जलता था और इसलिये वह कभी-कभी षाहू की भी अवज्ञा कर बैठता था। पेशवा बाजीराव के लिए यह असहनीय था और इसलिये दोनों में संघर्ष अवश्यम्भावी था। बालाजी विश्वनाथ के समय षाहू ने गुजरात से चौथ व सरदेषमुखी वसूल करने का अधिकार दाभाड़े परिवार को तथा मालवा पेशवा को दे रखा था। बाजीराव ने सुझाव दिया कि दाभाड़े परिवार को तथा मालवा पेशवा को दे रखा था। बाजीराव ने सुझाव दिया कि दाभाड़े अपनी गुजरात की आधी आय पेशवा को दे और पेशवा मालवा की आधी आय दाभाड़े को देगा। लेकिन दाभाड़े ने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया तब पेशवा ने बलपूर्वक अपनी व्यवस्था लागू करने का निर्णय लिया। इधर निजाम अपनी पालखेद की पराजय भूला नहीं था, अतः उसने त्रिम्बकराव को उकसाया और योजना बनाई कि त्रिम्बकराव, ऊदाजी चौहान व निजाम की संयुक्त सेना बाजीराव पर आक्रमण करे। इसकी सूचना मिलते ही बाजीराव ने इन तीनों के मिलने से पूर्व ही दाभाड़े की शक्ति समाप्त करने का निष्पत्ति किया और अप्रैल 1731 ई. में दाभाड़े के निकट दाभाड़े को बुरी तरह परास्त किया। उस युद्ध में दाभाड़े मारा गया। अब महाराष्ट्र में बाजीराव का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा। षाहू ने त्रिम्बकराव के पुत्र यशवन्तराव को नया सेनापति बनाया, लेकिन वह नितान्त अयोग्य और विलासी निकला। अतः सेनापति के समस्त अधिकार पेशवा के हाथ में आ गये और दाभाड़े परिवार धीरे-धीरे प्रभावहीन हो गया।

मराठों का उत्तर भारत में प्रसार— 1727 ई. तक गुजरात पर मराठों का काफी प्रभाव स्थापित हो चुका था तथा मुगल सूबेदारों ने मराठों को चौथ व सरदेषमुखी देना स्वीकार कर लिया था। त्रिम्बकराव की मृत्यु के बाद मुगल सूबेदारों ने मराठों को चौथ व सरदेषमुखी देना स्वीकार कर लिया था। त्रिम्बकराव की मृत्यु

के बाद मुगल सूबेदार अभयसिंह ने गुजरात को मराठा प्रभाव से मुक्त करने का प्रयास किया, किन्तु दाभाड़े के अधिकार पिलाजी गायकवाड़ ने उसके प्रयासों को विफल कर दिया। इस पर अभयसिंह ने धोखे से पिलाजी गायकवाड़ ने उसके प्रयासों को विफल कर दिया। इस पर अभयसिंह ने धोखे से पिलाजी की हत्या करवा दी। क्रुद्ध मराठों ने भीषण आक्रमण

कर गुजरात को रौंद डाला। 1735 ई. तक सम्पूर्ण गुजरात मुगलों के हाथ से निकल गया और गुजरात में मराठा— सत्ता स्थापित हो गई।

जयपुर के सवाई जयसिंह मुगल सम्राट की ओर से मालवा के सूबेदार थे 1722 ई. बाजीराव ने मालवा पर पहली बार आक्रमण किया और 1724 ई. में उसने मालवा से चौथ की माँग की, लेकिन मुगल सम्राट ने इस माँग को

इस माँग को ठुकरा दिया। फलतः मालवा पर मराठों के निरन्तर आक्रमण होने लगे। अन्त में जनवरी, 1738 ई. में दुरईसराय की सन्धि द्वारा बाजीराव को सम्पूर्ण मालवा और नर्बदा व चम्बल के बीच का क्षेत्र प्रदान करने और सम्राट से इसकी संपुष्टि कराने का वादा किया। इस प्रकार मालवा पर भी मराठी का वर्चस्व स्थापित हो गया।

बुन्देलखण्ड में मुगल सूबेदारों का बड़ा आतंक था। अतः 1728 ई. में बुन्देलखण्ड शासक छत्रसाल ने मुगल सूबेदार मुहम्मद बंगष के विरुद्ध बाजीराव से सहायता माँगी। 1729 ई. में बाजीराव स्वयं सेना लेकर गया और मुहम्मद बंगष को पराजित किया। उस सहायता बदले छत्रसाल ने बाजीराव को अपना एक—तिहाई राज्य जिसकी वार्षिक आय 33 लाख रुपया थी, दिया। मराठों को कालपी व झाँसी के क्षेत्र मिल जाने से अब वे दोआब तथा आगरा से सीधे सम्पर्क में आ गये। उन्हें अब उत्तर में अपना प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिल गया।

अब मराठों ने दोआब, राजस्थान और दिल्ली के निकट मुगल क्षेत्रों पर धावे मारने शुरू कर दिये। अतः 1736 ई. में मुगल सम्राट ने चम्बल के दक्षिणी की आय के पाँच प्रतिशत मराठों को देना स्वीकार कर लिया। लेकिन बाजीराव ने अवध, बंगाल, बनारस, गया और इलाहाबाद जैसे नगरों की माँग की, जो मुगल सम्राट ने ठुकरा दी। अतः 1734 ई. में बाजीराव ने अवध पर आक्रमण कर दिया, लेकिन अवध के सूबेदार सादत अली ने एक छोटी—सी मराठा टुकड़ी को पराजित कर दिया इससे बाजीराव अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और वह चम्बल तक के प्रदेशों से कर वसूल करता हुआ दिल्ली के निकट आ धमका। मुगल दरबार में आतंक छा गया। बाजीराव के विरुद्ध जो सेना भेजी गई वह भी परास्त हो गयी। इसी समय सादत अली बाजीराव को घेरने के लिए आगे बढ़ा, लेकिन बाजीराव तेजी से वापस लौटा और मुगल सेना को चीरता हुआ राजस्थान के रेगिस्तान में जा घुसा। बाजीराव के इस साहसिक अभियान से आतंकित होकर मुगल सम्राट ने मालवा के अतिरिक्त 13 लाख रुपये बाजीराव को देना स्वीकार कर लिया।

राजस्थान में मराठा— प्रदेश— शिवाजी के समय से मराठों और राजपूत राजाओं के बीच अच्छे सम्बन्ध चले आ रहे थे। पेशवा बाजीराव ने इन सम्बन्धों को और सुदृढ़ बनाया। संयोगवश जयपुर का शासक सवाई जयसिंह मराठों के सहयोग से हिन्दू शक्ति के पुनरुत्थान का समर्थक था। अतः उसने मराठों को पूरा—पूरा सहयोग दिया। लेकिन सवाई जयसिंह ने अपने आपसी झगड़े के कारण बूंदी के शासक बुद्धसिंह को गद्दी से हटाकर अपने विश्वासपात्र दलेलसिंह को गद्दी पर बैठा दिया, तब बुद्ध सिंह की रानी ने मराठों से सहायता प्राप्त की, जिसके फलस्वरूप राजस्थान में पहली बार मराठों का हस्तक्षेप हुआ। 1736 ई. में स्वयं पेशवा बाजीराव उदयपुर आया। आपसी बातचीत के बाद उदयपुर के महाराणा ने

भारत का इतिहास

मराठों को चौध देना स्वीकार कर लिया। अजमेर के निकट बाजीराव ने सवाई जयसिंह से भेंट की। जयसिंह ने भुगल दरबार से बाजीराव को सुविधाएँ दिलवाने का आश्वासन देकर वापिस लौटा दिया। इसके बाद मराठा निरन्तर राजस्थान के राज्यों से चौध वसूल करने का प्रयास करते रहे

कोंकण में स्थिति दरढ़ करना— कोंकण प्रदेश के जजीरा क्षेत्र में सीद्दी, गोआ में पुर्तगाली और बम्बई में अंग्रेज प्रभावशाली थे। 1729 ई. में कान्होजी आंग्रे की मरत्यु के बाद उसके पुत्र मानाजी व

षम्भाजी में उत्तराधिकार संघर्ष आरम्भ हो गया जिससे सीद्दियों को षक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया। 1733 ई. में स्वयं बाजीराव कोंकण गया और 1734 ई. में सीद्दियों व मराठों में सुलह हो गयी। किन्तु षीघ्र ही दोनों में पुनः युद्ध हो गया। अन्त में बाजीराव के भाई चिमनाजी ने 1736 ई. में सीद्दियों को परास्त कर सन्धि के लिये विवष किया। सीद्दियों ने कोकण प्रदेश पर मराठों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। चूँकि पुर्तगालियों ने मराठों के विरुद्ध सीद्दियों को मदद दी थी, अतः 1737 ई. में बाजीराव ने पुर्तगालियों पर आक्रमण कर लिया, इससे पुर्तगाली घबरा गये और मराठों से सन्धि कर ली, जिसके अनुसार पुर्तगालियों ने 340 गाँव, 8 नगर, 20 बन्दरगाह और थाना व बसीन मराठों को सौप दिये। पुर्तगालियों की पराजय से अंग्रेज भी डर गये और उन्होंने भी मराठों से सन्धि कर ली। इस प्रकार पष्चिमी तट पर मराठों का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

बाजीराव के अन्तिम दिन— बुन्देलखण्ड के षासक राजा छत्रसाल ने बाजीराव को मस्तानी नामक एक सुन्दर युवती भेंट स्वरूप दी थी। मस्तानी अद्वितीय सुन्दरी, अत्यन्त ही व्यवहारकुषल और श्रेष्ठ संगीतज्ञा होने के साथ-साथ साहसी एवं निपुण घुड़सवार थी। बाजीराव उसके प्रेम में इतना आसक्त हो गया कि वह अपनी पत्नी काषीबाई को भी भूल गया। फलतः पेषवा परिवार के सभी सदस्य बाजीराव से नाराज हो गये। जब पेषवा पूना से बाहर गया हुआ था, तब मस्तानी को महल में नजरबन्द कर दिया गया। इससे बाजीराव को गहरा सदमा पहुँचा और वह बीमार पड़ गया और थोड़े दिन बाद ही 40 वर्ष की अल्पायु

में 28 अप्रैल, 1740 को उसकी मष्त्यु हो गयी। बाजीराव की मष्त्यु बीमारी से अधिक प्रेम वियोग के कारण हुई थी।

मूल्यांकन— बाजीराव अपने समय का महान कूटनीतिज्ञ, संगठनकर्ता और सेनापति था। उसने

मुगल सम्राट के श्रेष्ठ सेनानायक निजाम को दो बार बिना लड़े ही समर्पण के लिए बाध्य किया और और उत्तर भारत की विजय का महान् लक्ष्य रखकर न केवल मराठा षक्ति को दृढ़ किया बल्कि मराठों के वर्चस्व को उत्तर की ओर भी फैलाने का प्रयास किया। प्रो. एच. एन. सिन्हा ने लिखा है, षक बार फिर आधुनिक भारत के इतिहास में बाजीराव ने नवीन आषाओं का संचार किया, गिरी हुई हिन्दू जाति के समक्ष महान् भावनाएँ प्रस्तुत की और एक बार फिर उसने आन्तरिक झगड़ों को समाप्त करने का प्रयत्न किया। ष वस्तुतः बाजीराव ने पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य की कमजोरियों को भाँप कर यह पूर्वानुमान लगा लिया था कि इससे भारतीय राजनीति में एक षून्यता उत्पन्न होगी और इस षून्यता को मराठा षक्ति भर

सकती है। इस प्रकार बाजीराव ने मराठों को अखिल भारतीय शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया।

पेशवा बालाजी बाजीराव (१७४०—१७६१ ई.)

के

बाजीराव की मम्रत्यु

बाद उसके 19 वर्षीय पुत्र बालाजी (जो नानों के नाम से जाना जाता था) को पेशवा के पद पर नियुक्त किया गया। पेशा बनते ही बालाजी बाजीराव को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कोंकण में तुलाजी आग्रिया बालाजी से असन्तुष्ट था। नागपुर का रघुजी भोंसले स्वयं पेशवा बनना चाहता था। वह शाहू की पत्नी की बहिन का पति था। जब उसे पेशवा पद नहीं मिला तो वह नये पेशवा का विरोधी बन गया। निजाम और उसके उत्तराधिकारी बाजीराव के साथ किये गये वायदों को पूरा करने को तैयार नहीं थे तथा कर्नाटक को लेकर सदैव पेशवा से झगड़ा करने को तैयार रहते थे। राजपूत शासक भी मराठों के विरुद्ध होने लग गये सिन्धिया व होल्कर में मतभेद आरम्भ हो चुके थे। बड़ौदा का गायकवाड भी पेशवा से अप्रसन्न था। इसके अतिरिक्त मराठा राज्य की आर्थिक स्थिति भी षोचनीय बनी हुई थी और शाहू के अत्यधिक वृद्ध होने के कारण उसे उत्तराधिकारी की भी समस्या थी, क्योंकि शाहू के कोई पुत्र न था। इस प्रकार बालाजी को आरम्भ से ही आन्तरिक एवं बाह्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

आर्थिक समस्या का समाधान — बालाजी बाजीराव को सर्वप्रथम राज्य की षोचनीय आर्थिक स्थिति की तरफ ध्यान देना पड़ा। बाजीराव के सैनिक अभियानों से राजकोश खाली हो चुका था। स्वयं बाजीराव. — लगभग 14 लाख रुपये का कर्जा छोड़ गया था। अतः बालाजी ने इसका समाधान कर्नाटक में ढूँढा। उसने अपने एक अधिकारी मुरारी राव घोरपदे को त्रिचनापल्ली तथा अर्काट से वसूलियाँ करने को नियुक्त किया। उसके बाद उसने महादजी पुरन्दरे से लेकर बाबूजी नायक का कर्ज चुकाया। अपनी वित्तीय स्थिति बसीन सहित पुर्तगालियों से छीने गये सभी इलाके एवं गुजरात

को सुधारने के लिए पेशवा ने शाहू से

•

भारत का इतिहास

को छोड़कर नर्मदा के उत्तर के सम्पूर्ण क्षेत्र में वसूलियाँ करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इससे उसे आय का नया स्रोत प्राप्त हो गया, जिससे उसकी आर्थिक स्थिति में काफी सुधार आ गया और वह अन्य समस्याओं को हल करने के लिए अग्रसर हो पाया।

अंग्रे बन्धुओं की समस्या— 1739 ई. में षम्भाजी आग्रिया की मृत्यु के बाद उसके दो पुत्रों—तुलाजी व मानाजी— के बीच उत्तराधिकारी — संघर्ष शुरू हो गया। पेशवा ने तुलाजी के विरुद्ध मानाजी का पक्ष लिया। किन्तु तुलाजी अपने विरोधियों के लिए अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध हुआ। इस पर पेशवा ने अंग्रेजों से नौ— सैनिक सहायता लेकर तुलाजी की शक्ति का अन्त किया और मानाजी की सत्ता स्थापित की। फलस्वरूप मानाजी पेशवा के प्रति वफादार हो गया। परन्तु पेशवा ने अंग्रेजों से सहयोग लेकर भारी भूल की, क्योंकि इस सहयोग के बदले अंग्रेजों को समूचा खनकोट का क्षेत्र देना पड़ा, जिससे मराठा नौ— सैनिक शक्ति को गहरा आघात पहुँचा।

मालवा पर अधिकार— यद्यपि 1738 ई. में दुरई सराय की सन्धि द्वारा निजाम ने मुगल साम्राज्य के वजीर की हैसियत से मालवा का प्रान्त पेशवा बाजीराव को दे दिया था, किन्तु मुगल सम्राट द्वारा इस सन्धि की संपुष्टि न करने के कारण यह सन्धि कार्यान्वित नहीं हुई थी। अतः बालाजी ने कूटनीति तथा षस्त्रनीति दोनों का सहारा लिया। एक ओर तो उसने जयपुर के शासक सवाई जयसिंह के माध्यम से कूटनीतिक वार्ता आरम्भ की और दूसरी ओर वह स्वयं एक शक्तिशाली सेना के साथ मालवा में जा घुसा तथा नर्मदा के तटवर्ती गढ़ एवं मंडला पर अधिकार कर लिया। इस पर सवाई जयसिंह ने बीच में पड़कर 1741 ई. में मुगल सम्राट से संधि करवा दी, जिससे मालवा पर पेशवा का कानूनी अधिकार हो गया। इसके बदले में पेशवा ने मुगल सम्राट की सेवा में स्थायी रूप से 500 सैनिक और आवश्यकता पड़ने पर 4,000 सैनिक भेजने का वायदा किया। मुगलों की राजनीति में मराठों का यह प्रत्यक्ष प्रवेश था, जिसके परिणाम अन्ततोगत्वा विनाशकारी सिद्ध हुए।

कर्नाटक का प्रभुत्व— पेशवा बाजीराव को कर्नाटक में कोई रुचि नहीं थी, जबकि उसके पुत्र बालाजी बाजीराव के लिये कर्नाटक एक जबरदस्त आकर्षण था। इसका मुख्य कारण यह था कि शाहू ने बालाजी के विरोधी मराठा सरदार रघुजी भोंसले को कर्नाटक विजय का काम सौंप दिया था। 1739 ई. में रघुजी ने कर्नाटक पर आक्रमण किया और शानदार सफलताएँ प्राप्त की। उसने कर्नाटक के नवाब दोस्त अली को परास्त करके मार डाला और उसके दामाद चाँदा साहब को बन्दी बनाकर सतारा ले आया। इससे रघुजी भोंसले की प्रतिष्ठा काफी बढ़ गई जिसे पेशवा बालाजी बाजीराव सहन न कर सका। अतः अब पेशवा कर्नाटक में अपना प्रभुत्व कायम करने को उत्सुक हो उठा। 1743 ई. में निजाम ने कर्नाटक पर आक्रमण करके रघुजी की सफलताओं पर पानी फेर दिया। इस पर 1745 ई. में शाहू ने पेशवा के एक अन्य विरोधी सरदार बाबूजी नायक को कर्नाटक अभियान का काम सौंपा, किन्तु बाबूजी कर्नाटक में बुरी तरह असफल रहा। 1746 ई. में पेशवा ने अपने चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ को कर्नाटक अभियान पर भेजा। सदाशिवराव भाऊ एक पराक्रमी सेनानायक था। उसने समूचे पश्चिमी कर्नाटक को छत्रपति के आधीन कर लिया। इस प्रकार बालाजी ने अपने पिता से भिन्न नीति अपनाई। वह उत्तर भारत की भाँति कर्नाटक को भी अपने नियन्त्रण में रखना चाहता था।

बंगाल, बिहार व उड़ीसा पर प्रभुत्व—नागपुर का रघुजी भोंसले काफी शक्तिशाली सरदार था। वह पेशवा और छत्रपति दोनों की परवाह नहीं करता था। उसने सम्पूर्ण गाँडवाना प्रदेश पर

अधिकार कर रखा था तथा कर्नाटक में भी षानदार सफलताएँ प्राप्त की थी। 1742 ई. में रघुजी ने बंगाल और उड़ीसा में अपना प्रभाव बढ़ाया। रघुजी के प्रतिनिधि भास्कर पंत ने बंगाल में अनेक स्थानों को लूटा तथा नवाब अलीवर्दीखॉ को परास्त किया। किन्तु 1744 ई. में अलीवर्दीखॉ ने छल कपट से भास्कर पंत और 2.2 अन्य मराठा सेनानायकों को मौत के घाट उतार दिया।

रघुजी भोंसले व पेशवा बालाजी बाजीराव के बीच पुरु से ही अनबन चल रही थी। अब भास्कर पंत ने बंगाल में लूटमार को तो नवाब अलीवर्दीखॉ ने पेशवा से सहायता की याचना की। इसी समय मुगल सम्राट ने भी पेशवा से अनुरोध किया कि वह बंगाल में रघुजी की कार्यवाहियों को रोक। अतः पेशवा एक षक्तिषाली सेना लेकर बंगाल की तरफ आया और उसने कई स्थानों पर रघुजी को परास्त किया। रघुजी ने षाहू से इसकी षिकायत की। षाहू ने पेशवा और रघुजी के बीच सुलह करा दी और दोनों के अधिकार क्षेत्रों का बँटवारा कर दिया। अतः विवष होकर पेशवा को बंगाल से हटना पड़ा। इसके बाद

भास्कर पंत मारा गया। जिससे क्रुद्ध होकर रघुजी ने 1747 ई. से 1751 ई. के मध्य बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अनेक सफल अभियान किये अन्त में 1751 ई. में अलीवर्दीखॉ को रघुजी से सन्धि करनी पड़ी। सन्धि के अनुसार उड़ीसा का सूबा मराठों को सौंप दिया गया तथा बंगाल व बिहार की चौथ के रूप में 12 लाख रुपया वार्षिक रघुजी को देने कांवायदा करना पड़ा। इस सन्धि से बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर मराठों का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

निजाम और उसके उत्तराधिकारी मुगल साम्राज्य के वजीर की हैसियत से निजाम ने पेशवा बाजीराव को मालवा सौंपने का वायदा किया था। किन्तु पेशवा बाजीराव की मरत्यु के बाद निजाम ने मुगल सम्राट से इसकी सम्मुश्ति नहीं करायी। कुछ दिनों बाद निजाम के पुत्र नासिरजंग ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उसके विद्रोह को दबाने के लिये निजाम को पेशवा से सहायता की याचना करनी पड़ी और इस सहायता के बदले उसने पेशवा को 15 लाख रुपये नकद दिये। इसके अतिरिक्त उसने मालवा के साथ-साथ सम्राट से 50 लाख रुपये दिलवाने का भी आश्वासन दिया किन्तु जब रघुजी ने कर्नाटक पर आक्रमण किया तो निजाम मराठों से पुनः नाराज हो गया, क्योंकि वह कर्नाटक को अपना सूबा मानता था। 1743 ई. में निजाम ने कर्नाटक से मराठों को खदेड़ दिया।

1748 ई. में निजाम की मरत्यु हो गयी। मत्यु से पूर्व उसने अपने पुत्र को मराठों से षत्रुता मोल न लेने की सलाह दी थी। किन्तु उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी नासिरजंग से फांसीसियों की सहायता से मराठों के प्रभाव को नष्ट करने का निष्चय किया। कुछ दिनों बाद ही स्थानीय पठानों ने नासिरजंग का वध कर दिया और मुजप्फरजंग को नया निजाम बनाया। जनवरी, 1751 ई. में वह भी मारा गया और फांसीसी सेनानायक बुसी की सहायता से सलाबतजंग नया निजाम बना। उसके समय में मराठा हैदराबाद के क्षेत्रों पर निरन्तर धावे मारते रहे और धीरे-धीरे मराठों ने असीरगढ़, बुरहानपुर, दौलताबाद तथा उसके समीपवर्ती इलाकों पर अधिकार कर लिया। निजाम सलाबतजंग को भयभीत होकर मराठों को दो लाख रुपये वार्षिक लगान की भूमि देने का वायदा करना पड़ा।

मप्त्यु हो

भारत का इतिहास

राजपूतों व जाटों के साथ सम्बन्ध 1743 ई. में जयपुर के शासक सवाई जयसिंह की मृत्यु गई और उसके पुत्रों – ईश्वरीसिंह व माधोसिंह में उत्तराधिकारी संघर्ष आरम्भ हो गया। ईश्वरीसिंह ने मराठा सरदार सिन्धिया व होल्कर की सहायता ली तथा 1745 ई. में उसने माधोसिंह परास्त किया। इसी समय जयप्पा सिन्धिया और मल्हारराव होल्कर के बीच गम्भीर मतभेद पैदा हो गये। उधर माधोसिंह ने पेशवा से सहायता की याचना की। इस समय पेशवा को षाहू का कर्जा चुकाने के लिए धन की सख्त आवश्यकता थी। अतः स्वयं पेशवा जयपुर की ओर आया और उसने ईश्वरीसिंह और माधोसिंह से समझौता करवा दिया। ईश्वरीसिंह ने अपने भाई को अपने राज्य के चार जिले देना स्वीकार कर लिया और पेशवा को लगभग 3 लाख रुपये भेट में मिले। अब मराठों निरन्तर ईश्वरीसिंह को चौथ चुकाने के नाम पर परेशान करने लगे। 1750 ई. में मराठों ने चौथवसूल करने के नाम पर जयपुर पर आक्रमण कर दिया। इस पर ईश्वरीसिंह ने भयभीत होकर आत्महत्या कर ली तथा मराठों ने माधोसिंह को जयपुर की गद्दी पर बैठा दिया। माधोसिंह ने मराठों को चौथ के कुछ रोकड़ चुकाये तथा कुछ देने का वादा किया। फिर भी मराठा निरन्तर धन की माँग करते रहे। इससे माधोसिंह क्रुद्ध हो उठा और उसने धोखे से हजारों मराठों का कत्ल करवा दिया। इस घटना से राजपूतों और मराठों के सम्बन्ध बिगड़ गये।

इसी प्रकार जोधपुर राज्य के उत्तराधिकारी के प्रश्न पर भी राजपूतों और मराठों में जबरदस्त झगड़ा उत्पन्न हो गया। जून, 1749 ई. में महाराजा अभयसिंह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र रामसिंह जोधपुर का शासक बना परन्तु नवम्बर, 1750 ई. में उसके चाचा बख्तसिंह ने उसे परास्त कर जोधपुर की गद्दी हथिया ली। रामसिंह ने जयप्पा सिन्धिया की सहायता से जून, 1752 ई. में बख्तसिंह पर आक्रमण किया, परन्तु परास्त हुआ सितम्बर, 1752 ई. में बख्तसिंह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र विजयसिंह जोधपुर का शासक बना। सितम्बर, 1754 ई. में रामसिंह ने जयप्पा सिन्धिया की सहायता से मेड़ता के निकट विजयसिंह को परास्त किया और मराठों ने मारवाड़ को खूब लूटा। उससे क्रुद्ध होकर विजयसिंह ने धोखे से जयप्पा सिन्धिया का कत्ल करा दिया। इस पर सिन्धिया परिवार ने विजयसिंह को इतना अधिक परेशान किया कि फरवरी, 1756 ई. में उसे मराठों के साथ अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी, अजमेर का दुर्ग और सूबा मराठों को सौंपना पड़ा और मराठों को 50 लाख रुपये देने का भी वादा करना पड़ा। किन्तु विजयसिंह ने इस सन्धि का पूरी तरह पालन नहीं किया, जिससे 1760 ई. तक विजयसिंह का मराठों से झगड़ा चलता

रहा। इस घटना से भी राजपूतों और मराठों के सम्बन्ध बिगड़ गये। फस्वरूप पानीपत के तीसरे राजपूतों ने मराठों की कोई सहायता नहीं की।

कृसूरजमल जाट भरत पुर का शासक था। जब मुगल सम्राट और उसके वजीर सफदरजंग में संघर्ष आरम्भ हो गया, तो सूरजमल जाट ने सफदरजंग का साथ दिया, जिससे मुगल सम्राट इससे नाराज हो गया। सूरजमल जाट आगरा के सूबे में अपने हितों का विस्तार करना चाहता था किन्तु जब मराठों को आगरा और अजमेर से सरदेषमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त हुआ तो मराठों व सूरजमल में तनाव बढ़ गया। में उधन नये वजीर गाजीउद्दीन ने मराठों को सूरजमल के प्रसिद्ध दुर्ग कुम्हेर को घेर लिया। इस युद्ध मल्हारराव का एकमात्र पुत्र खाण्डेराव मारा गया जिससे क्रुद्ध होकर मराठों ने जाटों को भीषण क्षति पहुँचाई और अन्त में सूरजमल ने मराठों को 30 लाख रुपये देने का वचन देकर पीछा

छुड़ाया। इस घटना से जाटों को भी मराठों से घृणा हो गयी और पानीपत के युद्ध में उन्होंने मराठों का साथ नहीं दिया।

षाहू के उत्तराधिकार का प्रश्न— षाहू अत्यधिक वृद्ध हो चुका था तथा उसके कोई सन्तान न होने के कारण उसके उत्तराधिकार की उसे काफी चिन्ता थी। प्रारम्भ में षाहू ने भोंसले परिवार के किसी सुयोग्य लड़के को गोद लेने का विचार किया। जब ताराबाई को पता चला तो उसने षाहू से कहलवाया कि उसके पुत्र शिवाजी द्वितीय का लड़का अभी जीवित है तथा राजसबाई व शम्भाजी द्वितीय के भय से उसने उसे छिपा रखा है। ताराबाई ने उस लड़के को गोद लेने की प्रार्थना की। उधर कोल्हपुर का शासक शम्भाजी द्वितीय भी अपने आपको षाहू का उत्तराधिकारी समझता था। षाहू ने ताराबाई द्वारा प्रस्तुत लड़के रामराजा को अपना उत्तराधिकारी बना लिया। 25 दिसम्बर, 1749 ई. को षाह की मृत्यु हो गयी और रामराजा नया छत्रपति बना। ताराबाई का रामराजा पर कठोर नियंत्रण था तथा ताराबाई ने रामराजा के माध्यम से मराठा राज्य का शासन सूत्र सँभालने का प्रयास किया। किन्तु जब रामराजा ने ताराबाई के नियन्त्रण से मुक्त होने का प्रयास किया तो ताराबाई ने यह कहना शुरू कर दिया कि रामराजा उसका वंशज ही नहीं है अपितु एक छली है। इससे मराठा सरदारों में घोर असन्तोश फैल गया। अतः पेशवा ने रामराजा को पूना बुलाया तथा सभी प्रमुख मराठा सरदारों के समक्ष रामराजा से एक समझौता किया जिसे संगोला का समझौता कहते हैं। इस समझौते के अनुसार छत्रपति सतारा में रहने लगा। अब सतारा के स्थान पर पूना मराठा राज्य का प्रमुख केन्द्र बन गया। रामराजा ने बिना किसी विरोध के पेशवा को व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। इससे ताराबाई और अधिक कुपित हो गयी। सतारा आते ही उसने रामराजा को कैद कर लिया और पेशवा से निपटने के लिए उमाबाई दाभाड़े की सहायता ली। दाभाड़े के प्रतिनिधि दाभाजी गायकवाड़ ने अपनी सेना सहित पेशवा के केन्द्र पर अभियान की योजना बनाई, परन्तु बालाजी बाजीराव ने छल से दाभाजी को पकड़ लिया और उसे अपनी माँगे स्वीकार करने को बाध्य किया। ताराबाई ने अब पेशवा का विरोध करना निरर्थक समझा। अतः उसने पेशवा के साथ समझौता कर लिया। उस समझौते के अनुसार सतारा दुर्ग और रामराजा के परिवार का नियन्त्रण ताराबाई को सौंप दिया गया। पेशवा ने छत्रपति की रिहाई के लिए कोई प्रयास नहीं किया। छत्रपति और उसके वंशज बन्दी जीवन बिताते रहे और पेशवा मराठा साम्राज्य का सर्वोच्च व्यक्ति बन गया।

पानीपत का तीसरा युद्ध (१७६१ ई.)

ईरान के शासक नादिरशाह के मरणोपरान्त उसके एक प्रमुख सेनानायक अहमदशाह अब्दाली ने 1747 ई. में काबुल तथा कन्धार पर अधिकार करके अफगानिस्तान में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की। वह एक महत्वाकांक्षी शासक था। अफगानिस्तान में अपनी सत्तासुदृढ़ करने के बाद उसने भारत की ओर ताकना शुरू कर दिया। वह पंजाब, मुल्तान, कश्मीर आदि भारतीय भू-भागों को, जो कि नादिरशाह के अधीन रह चुके थे, अपने अधिकार में लाना चाहता था। उसके अन्य उद्देश्य भारत से धन प्राप्त करना, लूटमार के द्वारा अपने अफगान सैनिकों को सन्तुष्ट करना और नवीन विजयों द्वारा अपनी प्रतिष्ठा एवं शक्ति को बढ़ाना था। उसे भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करने का षीघ्र ही बहाना मिल गया। 1748 ई. में पंजाब कृकृक के सूबेदार जकरियाख़ा की मृत्यु के बाद उसके दो पुत्रों—याहियाख़ा और शाहनवाजख़ा में उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ गया। मुगल साम्राज्य के वजीर ने याहियाख़ा और शाहनवाजख़ा में उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ दिया। मुगल साम्राज्य के

भारत का इतिहास

वजीर ने याहियाखॉ का पक्ष लिया। अतः शाहनवाजखॉ ने अब्दाली को सहायता के लिए आमंत्रित किया। 1748 ई. में अब्दाली पंजाब में आ पहुँचा। इसी बीच मुगल वजीर ने शाहनवाज खॉ को अपने पक्ष में कर लिया। अतः अब्दाली ने पहले शाहनवाजखॉ को परास्त किया, फिर लाहौर पर

अधिकार कर लिया। इसी समय मुगल वजीर के नेतृत्व में दिल्ली से शाही सेना आ गयी, जिसने मानपुर के युद्ध में अब्दाली को परास्त किया। अतः अब्दाली वापस लौट गया, किन्तु 1752 ई. में उसने पुनः आक्रमण किया। विषय होकर मुगल सम्राट ने पंजाब और मुल्तान अब्दाली को सौंप दिये। अब्दाली, मुइन-उल-मुल्क को पंजाब का सूबेदार नियुक्त कर वापिस अफगानिस्तान लौट गया।

1748 ई. में मुगल सम्राट मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद अहमदशाह नया सम्राट बना, जिसने अवध के सूबेदार सफरजंग को अपना वजीर बनाया। अवध के पड़ौस में राहिलखण्ड के रोहिल्लों ने धीरे-धीरे अपना राज्य बढ़ाना शुरू किया और अवध के इलाके में लूटमार करने लगे। सफरजंग ने मराठों की सहायता से राहिल्लों को कई बार परास्त किया। परास्त रोहिल्लों ने अब्दाली से सहायता माँगी। अतः 1752 ई. के आरम्भ में अब्दाली के सम्भावित आक्रमण की सूचना मिली। इस पर मुगल सम्राट की ओर से वजीर सफरजंग ने अप्रैल, 1752 ई. में मराठों से समझौता किया, जिसके अनुसार मराठों को पंजाब, सिन्ध और दोआब से चौथ वसूल करने का अधिकार दिया गया तथा मराठों ने बाह्य व आन्तरिक संकटों से मुगल साम्राज्य की रक्षा करने का वचन दिया। इस प्रकार मराठा मुगल साम्राज्य के संरक्षक बन गये तथा दिल्ली दरबार की राजनीति में भी उन्हें उलझना पड़ा। इसी बीच अब्दाली ने पंजाब पर आक्रमण कर दिया। और मुगल सम्राट ने पंजाब और मुल्तान अब्दाली को सौंप दिये।

इसके कुछ समय बाद मुगल सम्राट और उसके वजीर के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये तथा दिल्ली दरबार में दो परस्पर विरोधी दल बन गये। दोनों पक्षों ने मराठों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। मराठों ने मुगल सम्राट का साथ दिया तथा मुगल वजीर को कई बार परास्त किया। बार-बार परास्त होकर वजीर अपने सूबे से लौट गया। 13 मई, 1754 ई. को सम्राट ने इन्तिजामउद्दौला को अपना नया वजीर बनाया। लेकिन निजाम के बड़े लड़के गाजीउद्दीन ने जो अत्यधिक महत्वाकांक्षी एवं शङ्खचक्रकारी था, सम्राट अहमदशाह को पदच्युत कर आलमगीर द्वितीय को नया सम्राट बनाया और स्वयं वजीर बन गया। नया वजीर गाजीउद्दीन अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु कभी मराठों से, कभी रोहिला सरदार नजीबखॉ से और कभी अब्दाली से सौँठ-गौँठ करता रहा।

नवम्बर, 1753 ई. में पंजाब के सूबेदार मुइन-उल-मुल्क की मृत्यु के बाद उसकी विधवा मुगलजानी बेगम अपने पितृ पुत्र के नाम पर शासन चलाने लगी। लेकिन गाजीउद्दीन ने एक स्त्री का शासन पसन्द न करते हुए, फरवरी 1756 ई. में ससैन्य पंजाब पर आक्रमण कर मुगलानी बेगम व उसकी सम्मति पर अधिकार कर लिया और उन्हें दिल्ली ले आया। गाजीउद्दीन ने शाही परिवार की महिलाओं को भी काफी परेशान किया। परेशान बेगमों ने नजीबखॉ से सहायता माँगी। नजीबखॉ का मानना था कि गाजीउद्दीन मराठों की शक्ति पर उछल रहा है, अतः मराठों की शक्ति को समाप्त करने के लिये उसने अब्दाली को आमंत्रित किया। उधर मुगलानी बेगम ने भी अब्दाली से सौँठ-गौँठ कर उसे भारत आने का निमंत्रण दिया। अतः 1757 ई. के आरम्भ में अब्दाली ससैन्य भारत आ पहुँचा और उसने दिल्ली के

नागरिकों एवं बड़े-बड़े अमीरों को लूटा। फिर मथुरा के आस-पास के क्षेत्रों में भयंकर लूटमार की। लेकिन इस समय अब्दाली की सेना में महामारी फैल गयी, फलस्वरूप वह वापिस अपने देश लौट गया। लौटते समय वह नजीबख़ाँ को मुगल साम्राज्य की मीर बख्शी बना गया और अपने पुत्र तैमूरशाह को पंजाब का शासक सौंप गया। मुगलसाम्राज्य की सुरक्षा का भार लेने वाले मराठे इस समय राजस्थान के शासकों से धन बटोरने में व्यस्त रहे।

अब्दाली के लौटने के बाद रघुनाथ राव और मल्हार राव होल्कर सेनाएँ लेकर मई, 1757 ई. में आगरा पहुँचे। नजीबख़ाँ ने मराठों व अब्दाली के मध्य समझौता कराने का प्रयास किया लेकिन गाजीउद्दीन मुगल सम्राट के विरोध के कारण समझौता न हो सका, क्योंकि वे दोनों ही नजीबख़ाँ की दण्ड देना चाहते थे। मराठों ने नजीबख़ाँ को बन्दी बना लिया, किन्तु होल्कर के अनुरोध पर उसे पुनः मुक्त कर दिया। यह कार्यवाही मराठों के लिए आत्मघाती सिद्ध हुई थी। तत्पश्चात् मराठों ने लाहौर पर धावा मारकर तैमूरशाह को वहाँ से भगया दिया। मराठों ने अटक तक धावे मारे और वापसी के पूर्व अदीना बेग को लाहौर का सूबेदार नियुक्त कर दिया। अब्दाली के अधिकारियों को पंजाब से निष्कासित कर देने से अब्दाली क्रुद्ध हो उठा और ससैन्य भारत पर चढ़ाई कर दी। पेशवा ने अपने चचेरे भाई सदाशिव राव को एक विषाल सेना के साथ उत्तर भारत की ओर भेजा। सदाशिवराव के नेतृत्व ने मराठा सेना और अब्दाली के नेतृत्व में अफगान सेना के बीच पानीपत का तीसरा युद्ध हुआ था।

पानीपत

की घटनाओं का वर्णन करने से पूर्व संक्षेप में उन कारणों का वर्णन करना समीचीन होगा, जिनके फलस्वरूप पानीपत का युद्ध हुआ था।

पानीपत के तीसरे युद्ध के कारण

(1) भारत के राजनीतिक शून्यता— एक लम्बे समय तक दिल्ली के शासक भारत की राजनीति पर छाये रहे। दिल्ली के बादशाह की प्रभुता, भारत की अन्य शक्तियाँ स्वीकार करती थी। जब तक केन्द्रीय सत्ता शक्तिशाली रही, भारत के उत्तर पश्चिम से आक्रमणों का भय नहीं रहा। सीमा सुरक्षा की अग्रगामी नीति अपना कर मुगलों ने काबुल तक अपना अधिका बनाये रखा। किन्तु औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल सत्ता कमजोर हो गई और शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता के अभाव में सारा देश एक ऐसा अजायबघर बन गया, जिसके सभी पिंजरे के द्वार खोल दिये हो। अतः देश में राजनीतिक शून्यता दिखाई देने लगी। राजनीति का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि ऐसी शून्यता भरने का अन्य शक्तियाँ प्रयास करती हैं। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में दो शक्तियों ने इस शून्यता को भरने तथा अपना सर्वस्व करने का प्रयास किया। ये दो शक्तियाँ थी – मराठे और अब्दाली।

(2) दिल्ली पर प्रभाव जमाने हेतु संघर्ष औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल सम्राट शक्तिहीन अवस्थ हो गया, किन्तु उसकी प्रभुता वैधानिक तौर पर सभी शक्तियों स्वीकार करती थी तथा भारतीय जनता भी उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। अतः सभी शक्तियाँ मुगल सम्राट पर अपना प्रभाव बनाये रखना चाहती थी, ताकि मुगल सम्राट पर अपने प्रभाव का उपयोग अपने हित में कर सकें। 1749 ई. से वजीर तथा मीर बख्शी की नियुक्तियों में हैदराबाद का निजाम, अवध के नवाब मराठे तथा अब्दाली रुचि लेने लगे। 1749 ई. में अवध का नवाब सफ़दरजंग वजीर था। जब अब्दाली ने उसे हटाकर निजाम –पुत्र नासिरजंग को वजीर बनाना चाहा तो सफ़दरजंग ने मराठों से सहायता माँगी। लेकिन 1753 ई. में जब मुगल सम्राट और वजीर

भारत का इतिहास

सफदरजंग के बीच वैमनस्य उत्पन्न हुआ तब मराठों ने सफदरजंग के विरोध गुट की सहायता की और उसे अपदस्थ करवाकर इन्तिजामउद्दौला को वजीर बनवाया। तत्पश्चात् निजाक पुत्र गाजीउद्दीन मराठों के समर्थन से वजीर बन गया। 1757 ई. में अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किया और वापिस लौटते समय नजीबख़ाँ को अपदस्थ कर अहमदशाह बंगष को मीर बख़्शी नियुक्त रखने के लिए अब्दाली का विध किया, क्योंकि वे मुगल सम्राट पर अब्दाली का प्रभाव सहन करने को तैयार नहीं थे।

के

(3) अब्दाली का भारत की राजनीति में हस्तक्षेप — 1745 ई. से ही अब्दाली भारत की राजनीति में हस्तक्षेप का प्रबल होने का प्रयास करने लगा था। 1752 ई में उसने मुझ्ज उन—मुल्क को पंजाब का सुवेदार नियुक्त किया। 1756 ई. में उसने दिल्ली तक धावा मारा और मथुरा व वज्जदावन को बुरी तरह लूटा। लौटते समय वह नजीबख़ाँ को मोर बख़्शी व अपने पुत्र तैमूरशाह को पंजाब का सूबेदार नियुक्त कर गया। पंजाब पर उसका पहले ही अधिकार था, अब उसे रोहिल्लों पर भी अपना प्रभाव प्रभाव स्थापित किया। यद्यपि रोहिल्ला सरदार नजीबख़ाँ और अवध का नवाब सफदरजंग एक—दूसरे के षत्रु थे, किन्तु अब्दाली ने अपनी कूटनीति से न केवल नजीबख़ाँ को अपनी ओर मिलाया, बल्कि अवध के नवाब सफदरजंग को भी अपनी ओर मिला लिया। मराठे, अब्दाली की इस प्रगति को रोकना चाहते थे, अतः दोनों में युद्ध अवष्यम्भावी था। मराठा इतिहासकार टी. एस. षोजवलकर का मत है कि पानीपत के इस युद्ध का मुख्य कारण यह था कि मराठे इस विदेशी को भारत से बाहर कर देना चाहते थे।

(4) अब्दाली की सैन्य सफलताएँ— 1752 ई. से 1757 ई. के बीच अब्दाली को लगातार सैन्य सफलताएँ मिलती गईं। अब्दाली की बढ़ती हुई शक्ति से अन्य शक्तियाँ अत्यधिक प्रभावित हुईं और यह समझा जाने लगा कि अब्दाली की सेनाएँ अजेय हैं। उत्तर भारत के किसी राज्य को यह विश्वास नहीं रहा कि मराठों की सेना अब्दाली की सेना के विरुद्ध सफल हो सकती है। यही कारण है कि किसी भी प्रमुख भारतीय राज्य ने पानीपत के युद्ध में मराठों का साथ नहीं दिया। वस्तुतः इस समय तक मराठा शक्ति केवल लुटमार करने वाली शक्ति बन चुकी थी और उनकी इस प्रवृत्ति के कारण राजपूत, जाट, रूहेले, अवध का नवाब आदि मराठों से नाराज हो चुके थे। ऐसी परिस्थितियों में मराठों का मनोबल गिरा। इसके विपरीत अब्दाली की सैन्य सफलताओं के कारण, अफगान सेना का मनोबल ऊँचा रहा।

(5) उत्तर भारत की अस्थिर राजनीति— उत्तरभारत की अस्थिर राजनीति के कारण कोई भी पक्ष यह अनुमान नहीं लगा सका कि कौनसी शक्तियाँ किसका साथ देगी। अगस्त 1760 ई. में अब्दाली और मराठों के बीच कूटनीतिक युद्ध प्रारम्भ हुआ जिसमें दोनों पक्षों ने स्थानीय शक्तियों को वअपने पक्ष में करने का प्रयास किया। अब्दाली ने घोशणा की कि उसका उद्देश्य भारत को मराठों के प्रभुत्व से मुक्त

कराकर मुगल बादशाह शाह आलम को, जो इस समय अवध में था दिल्ली के सिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित करने का है। इसके विपरीत मराठा सेना का नेतृत्व करने वाले सदाषिवराव भाऊ ने यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि यह युद्ध भारतीयों का विदेशियों के विरुद्ध है। भाऊ की इस घोशणा से उसे मुसलमानों का सहयोग प्राप्त नहीं हो सका। नजीबख़ाँ

तो मराठों का कटर षत्रु था, लेकिन नजीबख़ाँ व अवध के नवाब पुजाउद्दौला के बीच षत्रुता थी और यह आषा की जाती थी कि वे दोनों किसी एक पक्ष की ओर से युद्ध नहीं करेंगे। किन्तु भाऊ के प्रचार से पुजाउद्दौला भी अब्दाली के पक्ष में चला गया। इससे अब्दाली का हौसला बढ़ गया।

(6) पंजाब में अफगान-मराठा संघर्ष- युद्ध की परिस्थितियों का वर्णन करते समय यह बताया जा चुका है कि मुगल सम्राट ने मराठों को पंजाब से चौथ वसूल करने का अधिकार दे दिया था किन्तु इसके बाद अब्दाली ने पंजाब पर अधिकार करके अपने पुत्र तैमूरशाह को वहाँ का सूबेदार नियुक्त कर दिया। 1758 ई. में मराठों ने तैमूरशाह को वहाँ से भगा दिया। यह अब्दाली को प्रत्यक्ष चुनौती थी। अफगान सेनाओं ने नवम्बर, 1759 ई. में पुनरु पंजाब पर आक्रमण कर मराठों को पीछे धकेल दिया। इस समय पेशवा, पंजाब पर अब्दाली के अधिकार को स्वीकार करके कोई कूटनीतिक समझौता कर सकता था। किन्तु ऐसा करने से मराठों की प्रभुत्व एवं प्रतिष्ठा को धक्का लग सकता था। अतः पेशवा ने सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में एक सेना उत्तरभारत की ओर भेजी। ऐसी परिस्थितियों में मराठों व अब्दाली के बीच संघर्ष अवध्यम्भावी हो गया।

पानीपत की ओर ओर प्रयाण मराठों द्वारा पंजाब की विजय और उस प्रान्त से अब्दाली के अधिकारियों को निष्कासित किये जाने पर अहमदशाह आगबबूला हो उठा। उसने पुनः आक्रमण की तैयारी शुरू कर दी। उधर पेशवा ने उत्तर भारत की व्यवस्था को ठीक करने का दायित्व सिन्धिया परिवार को सौंपा और मल्हारराव होल्कर को सिन्धिया की सहायता करने को कहा गया। परन्तु न जाने किस कारण से मल्हारराव होल्कर ने पेशवा के आदेश का पालन नहीं किया और वह दत्ता जी सिन्धिया की पराजय तथा मृत्यु के बाद ही दिल्ली गया।

दत्ता सिन्धिया ने दिल्ली पहुँचने के बाद नजीबख़ाँ को पकड़ने का प्रयास किया नजीब ने पुनः अब्दाली से सहायता की माँग की। अब्दाली ने पेशावर में अपना डेरा लगाया और जहानख़ाँ को लाहौर पर अधिकार जमाने के लिए भेजा। साबाजी सिन्धिया ने उसे परास्त करके वापिस खदेड़ दिया। इसी समय 30 नवम्बर, 1759 ई. को वजीर गाजीउद्दीन ने सम्राट आलमगीर द्वितीय और भूतपूर्व वजीर इन्तिजामउद्दौला तथा कुछ अन्य मुगल अमीरों का वध करा दिया, जिससे अब्दाली और भी अधिक क्रुद्ध हो उठा। वह पंजाब की तरफ बढ़ा। उसके आगमन का समाचार सुनकर दत्ताजी ने नजीबख़ाँ का पीछा करना छोड़कर अब्दाली की तरफ प्रयाण किया। परन्तु अच्छाली दत्ताजी को चकमा देकर दिल्ली पहुँच गया। नजीबख़ाँ भी अपनी सेना सहित अब्दाली से जा मिला। जनवरी, 1760 ई. में बरारी घाट के युद्ध में दत्ताजी सिन्धिया परास्त हुआ और मारा गया। वजीर गाजीउद्दीन सूरजमल जाट की षरण में भाग गया। अब्दाली ने दिल्ली पर अधिकार जमा लिया। नजीबख़ाँ के विषेश अनुरोध पर अब्दाली ने कुछ समय और भारत में रहना स्वीकार कर लिया। दत्ता जी की मृत्यु के बाद मल्हारराव होल्कर ने दिल्ली की तरफ प्रस्थान किया, परन्तु उसे अफगानों के हाथें बुरी तरह परास्त होकर राजस्थान के ओर भागना पड़ा।

अब्दाली के हाथों मराठों की दुर्दशा से पेशवा को बहुत दुःख हुआ और उसने अपने चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ को एक विषाल सेना के साथ दिल्ली अभियान के लिए भेजा। इस

भारत का इतिहास

अभियान का औपचारिक नेतृत्व पेशवा के बड़े लड़के विश्वासराव को सौंपा गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि सदाशिवराव एक योग्य पराक्रमी सैनिक था। परन्तु उसमें दम्भ की मात्रा अधिक थी और कूटनीति का पर्याप्त ज्ञान नहीं था। अब्दाली ने घोषित किया कि वह दिल्ली के मुस्लिम राज्य को दक्षिण के मराठों की लूटमार से बचाने के लिए भारत में रुका हुआ है। इसके विपरीत सन्देह नहीं कि सदाशिवराव एक योग्य पराक्रमी सैनिक था। परन्तु उसमें दम्भ की मात्रा अधिक थी और कूटनीति का पर्याप्त ज्ञान नहीं था। अब्दाली ने घोषित किया कि वह वह दिल्ली के मुस्लिम राज्य को दक्षिण के मराठों की लूटमार से बचाने के लिए भारत में रुका हुआ है इसके विपरीत सदाशिवराव ने विदेशियों को भारत से खदेड़ने में सभी से सहयोग की माँग की। परन्तु मराठों की लूटमार तथा बलात् चौथ वसूली ने उत्तरी भारत की सभी शक्तियों को मराठों का शत्रु बना दिया था। सूरजमल जाट को छोड़कर सभी की सहानुभूति अब्दाली के साथ थी। अब्दाली और नजीब की कूटनीति के कारण भारत के अधिकांश मुस्लिम शासक अब्दाली के शिविर में उपस्थिति हो गये। अवध का शुजाउद्दौला भी अब्दाली के पक्ष में चला गया। पुरु में केवल सूरजमल जाट ने मराठों का साथ दिया परन्तु पानीपत के युद्ध के पूर्व वह भी मराठों का साथ छोड़कर चला गया।

7 मार्च, 1760 ई. को सदाशिवराव दक्षिण से चला और अगस्त, 1760 ई. में उसने अब्दाली के अधिकारियों से दिल्ली छीन ली। अगस्त से अक्टूबर का समय भाऊ ने व्यर्थ में हो खो दिया। इस बीच अब्दाली ने मराठों से सन्धि वार्ता करनी चाही, परन्तु नजीबख़ाँ ने रुकावट पैदा कर दी। इसके बाद भाऊ ने दिल्ली के निकट अफगानों के प्रमुख केन्द्र कुंजपुरा पर अधिकार कर लिया। यहाँ प्राप्त सामग्री से मराठों की स्थिति काफी सुधर गई। अब्दाली के लिये यह घातक प्रहार था। उसने यमुना को पार करके मराठों पर पीछे से आक्रमण करने की योजना बनाई और सेना सहित पानीपत जा पहुँचा। सदाशिवराव को इसकी सूचना मिल गई और वह भी सेना सहित पानीपत जा पहुँचा। नवम्बर, 1760 ई. में दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के आमने-सामने हो गयी, परन्तु दोनों में अन्तिम निर्णायक युद्ध 14 जनवरी, 1761 ई. के दिन लड़ा गया।

युद्ध की घटनाएँ— 14 जनवरी, 1761 ई. के दिन प्रातरु 9 बजे से युद्ध आरम्भ हो गया। कुछ घण्टों तक मराठा सेना ने जमकर युद्ध किया। इब्राहीम गार्दी के तोपखाने ने अब्दाली की सेना को बहुत क्षति पहुँचाई द्य सदाशिवराव भाऊ और सिन्धिया ने अनेक भीषण प्रहार किये। परन्तु पाँच घण्टे के भीषण युद्ध के बाद मराठा सैनिक थक गये। इसी समय अब्दाली

ने अपनी आरक्षित सेना को भी युद्ध में झोंक दिया। संयोगवश पेशवा का पुत्र विश्वासराव षत्रु की गोली से मारा गया, जिससे सदाशिवराव भाऊ अपना संयम खो बैठा और अन्धाधुन्ध लड़ते हुए मारा गया। मल्हारराव होल्कर ने पुरु से आखिर तक युद्ध में कोई विशेष भाग नहीं लिया और स्थिति को प्रतिकूल भाँप कर अपनी सेना सहित युद्ध मैदान से भाग खड़ा हुआ। मराठों के अनेक प्रसिद्ध सेनानायक जिनमें जसवन्तराव पंवार तथा तुकोजी सिन्धिया भी थे, युद्ध में मारे गये। इब्राहीम गार्दी और जनकोजी सिन्धिया घायलावस्था में बन्दी बना लिये गये और बाद में कत्ल कर दिये गये। हजारों मराठा सैनिक युद्ध में मारे गये और भागते हुए हजारों मराठा सैनिकों को बन्दी बना लिया या भीषण हत्याकाण्ड के बाद अब्दाली और उसके सहयोगियों को मराठों के ऊपर निर्णायक विजय प्राप्त हुई।

महत्व एवं परिणाम— पानीपत के तीसरे युद्ध के महत्व एवं परिणाम के बारे में इतिहासकारों में भारी मतभेद है। सुप्रसिद्ध मराठा इतिहासकार सरदेसाई का मत है कि इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ तक जन-शक्ति का सम्बन्ध है, उन्हें इस युद्ध में भारी क्षति पहुँची, पर इसके अलावा मराठों के भाग्य पर इस विपत्ति का वस्तुतः कोई प्रभाव नहीं पड़ा। नई पीढ़ी के लोग शीघ्र ही, पानीपत में होने वाली क्षति की पूर्ति करने के लिये उठ खड़े हुए। अतः यह सोचना कि पानीपत में होने वाली क्षति की पूर्ति करने के लिये उठ खड़े हुए। अतः यह सोचना कि पानीपत के युद्ध ने मराठों की उठती हुई शक्ति को पूरी तरह कुचल दिया, ठीक नहीं होगा, इसके विपरीत यदुनाथ सरकार की मान्यता है कि भारतीय इतिहास का एक निरपेक्ष सर्वेक्षण यह दिखा देगा कि बिना किसी प्रमाण पर आधारित वीरता तथा गौरव का यह दावा कितना कमजोर है। इस भयंकर संघर्ष में मराठों को बुरी तरह मार खानी पड़ी। सम्पूर्ण महाराष्ट्र में षायद ही कोई ऐसा सैनिक परिवार बचा हो, जिसने पानीपत के इस पवित्र संघर्ष में अपना एक सदस्य न खोया हो। अनगिनत सैनिकों और गैर-सैनिकों के साथ-साथ पेशवा की आषाओं का केन्द्र विश्वासराव, महान् सेनानायक सदाशिवराव भाऊ योग्य और पराक्रमी सेनानायक जसवंतराव पंवार, तुकोजी सिन्धिया, इब्राहीम गार्दी आदि को खोने से पेशवा बालाजी बाजीराव का हृदय टूट गया और 23 जून 1761 ई. को वह स्वर्ग सिधार गया। इतने लोगों को एक ही चपेट में खो देने से महाराष्ट्र अचानक ही अपने चुने व्यक्तियों से वंचित रह गया। इससे मराठों की सैनिक एवं राजनीतिक प्रतिष्ठा में भारी कमी आ गयी। पेशवा की मृत्यु से मराठा सरदारों पर नियंत्रण रखने वाला कोई न रहा और वे पुनः अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये आत्मघातक शङ्खंत्रों एवं कुचक्रों में लीन हो गये। मराठों की इस आपसी फूट के कारण उत्तरी भारत में उनकी प्रगति अवरुद्ध हो गई।

निःसन्देह मराठों ने अपेक्षाकृत कम समय में अपनी उपर्युक्त क्षति को पूरा कर लिया। 1769 ई. में उन्होंने पुनः नर्मदा को पार किया और राजपूत शासकों, रोहिल्लों, जाटों आदि से कर वसूल किया और बाद में सिन्धिया कुछ समय के लिए मुगल सम्राट का संरक्षक बन गया। परन्तु फिर भी, वे उत्तरी भारत की राजनीति में अपना स्थायी प्रभाव जमाने में सफल नहीं हो पाये। जहाँ तक अफगानों का सम्बन्ध है, उन्हें भी इस विजय से कोई लाभ नहीं हुआ। अब्दाली इस विजय का लाभ उठाये बिना ही स्वदेश लौट गया और इसके बाद उसने फिर कभी भारतवर्ष के मामलों में कोई भाग नहीं लिया।

पानीपत के युद्ध का महत्व एक भिन्न दिशा में निहित है। अठारहवीं सदी के मध्य में दो शक्तियाँ— मराठे और अफगान, भारत में सर्वोच्च सत्ता को हस्तगत करने के लिए संघर्षरत थी। पानीपत में जहाँ मराठा शक्ति को जबरदस्त धक्का लगा, वहीं लड़खड़ाते मुगल

भारत का इतिहास

साम्राज्य का भी अंत हो गया। दोनों शक्तियों के पराभव ने अंग्रेजों के लिए मैदान साफ कर दिया। भारत की एक प्रमुख शक्ति (मराठा)

4

के पराभव ने अंग्रेजों का मार्ग अधिक सरल बना दिया, जिस पर चलकर भारत में शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण कर पाये। इस दृष्टि से पानीपत का युद्ध भारतीय इतिहास में एक मोड़-बिन्दु प्रमाणित हुआ।

पानीपत में मराठों की पराजय के कारण

पानीपत में मराठों की पराजय के लिये अनेक कारण उत्तरदायी थे। पो. एच. आर. गुप्ता ने निम्न कारणों को अधिक महत्वपूर्ण माना है—

(1) प्रतिद्वन्द्वी सेनानायक— निःसन्देह सदाशिवराव भाऊ एक महान और पराक्रमी सैनिक था और पिछले कुछ वर्षों में उसने दक्षिण भारत में लड़े गये युद्धों में शानदार सफलताएँ भी प्राप्त की थीं, परन्तु उत्तरी भारत के लिए वह एक अजनबी था। उसे यहाँ के मामलों तथा भौगोलिक स्थिति की पर्याप्त जानकारी न थी। दुर्भाग्यवश उसे उस युग के सर्वोच्च सेनानायक अब्दाली से सामना करना पड़ा। अब्दाली सदाशिव से कहीं अधिक अनुभवी तथा रणकुशल सेनानायक था। उसने भाऊ की भाँति अपनी सेना के किसी एक भाग का व्यक्तिगत रूप से नेतृत्व नहीं किया, अपितु कुछ दूरी से पूर्ण शान्ति के साथ सम्पूर्ण युद्ध का निरीक्षण करता रहा और अन्तिम दौंव के लिए 10,000 सैनिकों का एक दस्ता सुरक्षित रख छोड़ा था। इसी सुरक्षा दस्ते ने युद्ध का पासा पलट दिया।

(2) प्रतिद्वन्द्वी नायक— अब्दाली के पास जहानख़ाँ, शाहपसन्दख़ाँ, अताईख़ाँ, करीमख़ाँ, शाहवलीख़ाँ, नजीबख़ाँ आदि सेनानायक थे, जो एक से एक बढ़-चढ़ कर थे। भाऊ के पास एक भी नायक नहीं था। बूढ़ा मल्हारराव होल्कर और नवयुवक जनकोजी सिन्धिया तथा अन्य मराठा नायक विभिन्न अवसरों पर अब्दाली के हाथ परास्त होकर अपना आत्मविश्वास खो चुके थे। इब्राहीम गादी और उसके सैनिकों के प्रति भाऊ की विशेष कृपा होने से मराठों में भारी असंतोश उत्पन्न हो गया था। युद्ध पद्धति की पैली को लेकर मराठा सेनानायकों में इतना गम्भीर मतभेद पैदा हो गया कि वे अन्तिम समय तक ठोस कदम न छुटा पाये। मल्हारराव होल्कर पर तो यह आरोप भी लगाया जाता है कि वह पहले से ही नजीब तथा शाह पसन्दख़ाँ से साँठ-गाँठ किये हुए था।

(3) प्रतिद्वन्द्वी सेनायें — मराठा सेना सामन्तवादी संगठन के दूषित रोग से पीड़ित थी। आपस में लड़ने वाले तथा एक-दूसरे से घरणा करने वाले सेनानायकों के नेतृत्व में मराठा सेना अपना अनुशासन भी खो चुकी थी। शिवाजी के समय में मराठा सेना एक राष्ट्रीय सेना थी। अब उसका राष्ट्रीय स्वरूप भी जाता रहा और वह भाड़ैतों की सेना बन गई, जिसे महीनों वेतन भी नहीं चुकाया जाता था और सैनिक लोग लूटमार से प्राप्त धन से गुजारा चलाते थे। उनकी लूटमार और अत्याचारों ने उत्तरी भारत में उन्हें घृणा का पात्र बना दिया और स्थानीय जनता से उन्हें किसी प्रकार का सहयोग नहीं मिल पाया था। इसके विपरीत अब्दाली की सेना पूर्णतः अनुशासित थी और उनके नायकों में भी एकता थी। अफगान सेना एक सर्वोच्च सेनानायक के आदेशों पर चलती थी। अवज्ञाकारी तथा अनुशासनहीन अफगान सैनिकों को सख्त सजा दी जाती थी।

(4) सैनिक षिविरों की स्थिति— पानीपत में भाऊ का षिविर भीड़भाड़ से भरा हुआ था। मराठा अधिकारियों की पत्नियाँ, रखैले, नौकरानियों के अलावा दक्षिण भारत से तीर्थ यात्रा पर आने वाले असंख्य नर—नारी भी शामिल थे। मराठा षिविर में हजारों जानवरों की उपस्थिति भी कठिनाई सिद्ध हुई। युद्ध में भाग लेने वाले सैनिकों की संख्या कम थी। वे अब्दाली के 60,000 सैनिकों के मुकाबले में केवल 45,000 सैनिक ही जुटा पाये। अफगानों के पास लगभग 80,000 द्वितीय श्रेणी के सैनिक थे, जबकि मराठों के पास केवल 15,000 ही थे।

(5) खाद्यान्न व्यवस्था— खाद्य पदार्थों की अपर्याप्त व्यवस्था मराठों की पराजय का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुई। दक्षिण से कूच करने के समय से युद्ध के समय तक भाऊ की इस विषय में निरन्तर कठिनाई का सामना करना पड़ा। पानीपत में भाऊ को खाद्यान्न की कमी की सर्वाधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। मराठा षिविर में दुर्भिक्ष की स्थिति पैदा हो गई और भूखों मरने की अपेक्षा युद्ध में वीरगति प्राप्त करना अधिक अच्छा मानकर भाऊ को अचानक आक्रमण करने का निर्णय लेना पड़ा। इसके विपरीत भारतीय मुसलमान नेताओं की सहायता के कारण अब्दाली की सेना को खाद्य पदार्थ की कमी कभी नहीं रही। एक इतिहासकार ने लिखा है कि पानीपत के मैदान पर जिस मराठा सेना ने अफगानों का सामना किया था वह अधमरे देशी टटुओं पर भूख से पीड़ित कमर झुकाये सैनिकों को झुण्ड था।

(6) तोपखाना— मराठों के पास भारी वजन की तोपें थी, जिन्हें इधर—उधर घूमाना तथा निषाला बाँधना आसन काम न था। युद्ध के प्रत्यक्षदर्शी इतिहासकार काषीराज ने लिखा है कि उनके गोले अफगान

सैनिकों के ऊपर से होते हुए लगभग एक मील की दूरी पर पार्श्व की भूमि पर गिरते थे। बारूद की कमी के कारण इन तोपों का समुचित उपयोग भी नहीं हो पाया। आमने—सामने का तोपखाना हल्का तथा गतिशील था। उसने हल्की तोपों को ऊँटों पर लदवा दिया और उन पर बैठे 400 तोपचियों ने मराठा सेना की कमर तोड़ दी। अब्दाली के साधारण तोपचियों को बंदूकें भी मराठों को बन्दूकों से श्रेष्ठ थी। अफगाना सैनिक आग्नेय अस्त्रों के संचालन में मराठों से कहीं अधिक निपुण थे।

(7) गम्भीर भूलें — पानीपत में मराठों की पराजय के लिये उनके द्वारा समय—समय पर की गई गम्भीर भूलें भी कम उत्तरदायी न थीं। कुंजपुरा की तरफ अभियान पर जाते समय भाऊ ने राजधानी दिल्ली को

सुरक्षा के लिये किसी महत्वपूर्ण सेनानायक को न रख कर गम्भीर भूल की थी। क्योंकि अफगानों ने पीछे से आकर दिल्ली पर नियंत्रण कर लिया और भाऊ का दक्षिण से सम्पर्क तोड़ दिया। यमुना नदी के घाटों और पुलों की निगरानी के सम्बन्ध में भी भाऊ ने पर्याप्त

भारत का इतिहास

ध्यान नहीं दिया, जिससे अफगानों को यमुना पार करने में विशेष प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा। भाऊ की योजना, अब्दाली की नाकेबन्दी करके उसे भूखों मारना थी, परन्तु वह स्वयं ही इस स्थिति में फँस गया। इस पर भी उसने स्थिति का सही मूल्यांकन नहीं किया और व्यर्थ में ही समय नष्ट करता रहा। युद्ध के लिये भी कोई ठोस योजना नहीं बनाई

(8) कूटनीतिक असफलता – पानीपत में मराठों को पराजय का एक प्रमुख कारण उनकी –कूटनीतिक असफलता है। पेशवा बालाजी बाजीराव ने अपनी स्वार्थी नीति के कारण उत्तरी भारत की लगभग सभी प्रमुख शक्तियों की सहानुभूति को खो दिया। उसके उत्तरीभारत के अभियानों का ध्येय बिना किसी भेदभाव के सभी से अधिक धन बटोरना था। राजपूत शासकों को आशा थी कि मुगलों से प्रतिषेध लेने में मराठा उनकी सहायता करेंगे। परन्तु मराठों ने उन पर मुगलों से भी अधिक जुल्म ढाये। परिणाम यह निकला कि वे मराठों के शत्रु बन गये और पानीपत के युद्ध के अवसर पर उन्होंने मराठों को किसी प्रकार का सहयोग नहीं दिया। सूरजमल जाट ने पुरु में मराठों का साथ दिया था, परन्तु मराठा उसे भी सन्तुष्ट न रख पाये और वह युद्ध के पूर्व ही मराठा शिविर छोड़कर चला गया। अवध के नवाब शुजाउद्दौला को अपने पक्ष में लाने के लिये कोई कारगर कदम नहीं उठाया गया। इसके विपरीत अब्दाली को नजीबखा जैसे व्यक्ति की सेवाएँ उपलब्ध हो गई थी, जिसने बुद्धिमत्तापूर्ण प्रचार और इस्लाम की रक्षा की अपील के द्वारा उत्तरीभारत के सभी प्रमुख मुसलमानों को अपने झण्डे के नीचे एकत्र करने में सफलता प्राप्त की। मराठों की पराजय का मूल कारण वस्तुतः भारतीय मुसलमानों को अब्दाली से मिलने से न रोक पाना और हिन्दू शक्तियों का सहयोग प्राप्त न कर पाना था।

अन्तिम कारण सदाशिव राव भाऊ द्वारा संयम खो देना था। पेशवा के पुत्र विश्वासराव के मरते ही सदाशिवराव अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठा और बिना आगा-पीछा सोचे शत्रु सेना के भीतर घुसता गया और मारा गया। यदि भाऊ व्यक्तिगत भावनाओं पर काबू रख कर सेनापति के उत्तरदायित्व को निभा पाया होता तो मराठों को इतना विनाश नहीं देखना पड़ता।

मराठों का पराभव – पानीपत के युद्ध के बाद तो ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मराठों का सूर्य अस्ताचल की ओर चला गया है। किन्तु बालाजी बाजीराव की मृत्यु के बाद पेशवा माधवराव ने मराठों की खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर दी। 1722 ई. में पेशवा माधवराव की मृत्यु मराठों के लिये पानीपत से भी अधिक घातक सिद्ध हुई। माधवराव की मृत्यु के बाद उसका भाई नारायणराव पेशवा बना, लेकिन उसके चाचा रघुनाथराव (राघोबा) ने नारायणराव की हत्या करवा कर स्वयं को पेशवा घोषित किया। नाना फड़नवीस के नेतृत्व में मराठा सरदारों ने राघोबा का विरोध किया और नारायणराव के मरणोपरान्त उत्पन्न पुत्र माधवराव द्वितीय को पेशवा घोषित कर दिया। राघोबा भागकर सूरत चला गया और अंग्रेजों से सूरत की सन्धि कर ली। फलतः आंग्ल-मराठा युद्धों का सूत्रपात हुआ, जिसमें मराठा निरन्तर पराजित होते गये और अन्त में 1818 ई. में मराठों का पूर्ण पराभव हो गया। भारतीय राजनीति में मराठा शक्ति एक उल्का के समान प्रकट हुई और अपनी चमक दिखाकर अल्पकाल में ही विलुप्त हो गयी।

1. मराठों ने 1689 ई. से 1707 ई. के राष्ट्रीय संकट का किस प्रकार मुकाबला किया? इसके क्या

परिणाम हुए?

2. बालाजी विश्वनाथ के कार्यों का मूल्यांकन कीजिये।

3.

बाजीराव प्रथम की उत्तर प्रसार नीति के लक्ष्य क्या थे ? वह कहाँ तक सफल रहा?

4.

पानीपत के तीसरे युद्ध के कारणों और परिणामों का उल्लेख कीजिये ।

172

5. पानीपत के तीसरे युद्ध में मराठों की पराजय के कारणों का उल्लेख कीजिये ।

भारत में यूरोपीयों का आगमन

भारत का इतिहास

(1200 से 1739 तक)

यूरोप के साथ के व्यापारिक सम्बन्ध बहुत पुराने रहे हैं। प्राचीनकाल में यूनानियों के समय में भारत व पश्चिमी देशों के बीच व्यापार होता रहा है। मध्यकाल में यूरोप और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भारत का व्यापार अनेक मार्गों से होता था। पूर्व और पश्चिम के व्यापारी कुस्तुनतुनिया आते थे, जो व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था। ख453 में कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो गया। तब पूर्व और पश्चिम के बीच के पुराने व्यापारिक मार्ग तुर्कों के नियंत्रण में आ गए। ऐसी स्थिति में यूरोपवासियों ने भारत और इंडोनेशिया के मसाले के द्वीप के नए और सुरक्षित मार्गों की खोज शुरू की।

15वीं शताब्दी में जहाज और समुद्री यातायात में बहुत प्रगति हुई थी। इसी सदी में भौगोलिक खोजों का संसार के विभिन्न देशों के व्यापारिक सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ा तथा उनके इतिहास में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। इसके साथ ही पुनर्जागरण के पश्चिमी यूरोप के लोगों में साहसिक कार्य करने की भावना भी भर दी थी।

जैमल

भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज यूरोपवासियों के लिए आवश्यकता और प्रेरणादायक लक्ष्य बन गई थी। इस दिशा में पहला कदम पुर्तगाल और स्पेन ने उठाया। इन देशों के नाविकों ने अपनी सरकारों की सहायता और उनकी आज्ञा पर भौगोलिक खोजों के एक महान युग की शुरुआत की। 1494 में स्पेन निवासी कोलम्बस भारत की खोज पर निकला था लेकिन वह अमरीका पहुंच गया। 1498 में पुर्तगाल के वास्कोडिगामा ने यूरोप से भारत तक एक नया समुद्री मार्ग ढूंढ निकाला। सम्भवतः मध्यकाल की किसी घटना ने सभ्य जगत



Notes

भारत का इतिहास

पर इतना महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाला, जितना भारत के सामुद्रिक मार्ग के खुल जाने से पड़ा।

भारत आने वाले यूरोपीय में पुर्तगाली प्रथम थे। इनके बाद क्रमशः डच, अंग्रेज और पांसीसी आये। इनकी यात्राओं का मुख्य उद्देश्य धर्म—प्रसार एवं व्यापार करना था। 16वीं सदी में ही यूरोप के व्यापारियों और सैनिकों ने एषियाई देशों में प्रवेश करने और फिर उनको अधीन बनाने का कार्य शुरू किया। भारत में यूरोपीयों की व्यापारिक एवं धर्म प्रचार की गतिविधियां मुगल साम्राज्य के स्थापित होने से पहले ही शुरू हो चुकी थी। शक्तिशाली मुगल सत्ता की स्थापना के यूरोपीय शक्तियों ने अपनी गतिविधियों सीमित रूप से संचालित की। फिर भी मुगलों की जहाजरानी के लिए खतरा उत्पन्न करके वे मुगल सम्राटों से अनेक व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त करने में सफल हुए।

18वीं सदी में भारत की राजनीतिक दुर्बलता को देखकर इन यूरोपीय शक्तियों ने यहां राजनीतिक अधिकार पाने का प्रयत्न किया। जिसके परिणामस्वरूप उनमें व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ राजनीतिक प्रतिस्पर्धा भी शुरू हुई। इससे इनमें आपस में तो झगड़े हुए, ही साथ ही भारतीय राजाओं से भी उनके संघर्ष हुए। भारतीय व्यापार पर एकाधिपत्य हेतु एक लम्बा संघर्ष अंग्रेजों और पांसीसियों के बीच हुआ। इसमें अंतिम विजय अंग्रेजों को मिली। वहीं भारत की राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय सत्ता पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार यूरोपीयों के आगमन ने भारतीय इतिहास की दिशा को ही बदल दिया।

यूरोपवासियों के भारत आगमन के कारण

-
-

यूरोप में पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप ज्ञान—विज्ञान का विकास हुआ तथा वाणिज्यवाद के युग का उदय हुआ। भौगोलिक खोजों से यूरोपीय दूसरे देशों के सम्पर्क में आये जिससे लोगों का ज्ञान एवं तार्किक शक्ति बढ़ी। वाणिज्यवादी विचारधारा के बाद व्यापार एक देश के नगरों के बीच की व्यवस्था न होकर विविध देशों के मध्य की व्यापक प्रक्रिया बन गई। 17वीं शताब्दी में यूरोप को व्यापारिक क्षेत्र में महत्वाकांक्षाएं बढ़ गयी थीं और यूरोपवासी अन्तरमहाद्वीपीय व्यापार के लिए तैयार और समर्थ हो गए थे। इसी कारण उन्होंने एषियाई देशों के साथ व्यापार करने हेतु अपनी गतिविधियां तेज की तथा भारत के लिए सीधा समुद्री मार्ग खोजने में सफल हुए।

छात्र

—

173

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

कृ

छब्बे

यूरोपवासियों द्वारा भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के बहुत से कारण रहे हैं। 17वीं शताब्दी के अन्त तक भारत का अन्य देशों के साथ व्यापार में विशेष स्थान था। बहुत से देश भारतीय वस्त्र उत्पादन पर पूरी तरह से आश्रित थे। भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में काली मिर्च, नील, अफीम, औषधियाँ, जवाहारात एवं कलात्मक सामग्री मुख्य थीं। दुनिया के अनेक देश भारत से इन वस्तुओं का आयात करते थे और बदले में सोना चांदी भेजते थे। ऐसे अनेक विवरण मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता कि भारत प्राकृतिक सम्पदा, उत्कृष्ट किस्म के षिल्प एवं वैभव के लिए पूरे विश्व में प्रसिद्ध था। ऐसी स्थिति में यूरोप के लोगों का भारत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। प्रसिद्ध इतिहासकार सुन्दरलाल ने इस सम्बन्ध में लिखा है, संसार के व्यापारियों को उस समय भारतीय धन और भारतीय वैभव के ही स्वप्न दिखाई देते थे और इस भारतीय धन का लालच ही यूरोपवासियों को इस प्राचीन देश की ओर खींच कर लाया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यूरोपीयों के भारत आने का उद्देश्य पूर्वयता व्यापार और धन का लालच था। यूरोपवासी न तो भारत में स्थायी रूप रहना चाहते थे और न इसे अपनी जन्मभूमि बनाना चाहते थे। वे तो भारत के साथ व्यापार करके ज्यादा से ज्यादा आर्थिक लाभ कमाना चाहते थे। यहाँ आकर उन्होंने भारतीय राज्यों की दुर्बलता से लाभ उठाया और अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए जिनके माध्यम से भारतीयों का शोषण किया। भारत आने वाली प्रमुख यूरोपीय शक्तियों की जानकारी निम्नलिखित है—

भारत में पुर्तगालियों का आगमन

वास्को डी गामा पहला यूरोपीय व्यक्ति था जिसने यूरोप में आषा अन्तरीय (केप ऑफ गुडहोप) होते हुए भारत के एक नये समुद्री मार्ग की खोज की। 17 मई, 1498 ई. को वह कालीकट के प्रसिद्ध बंदरगाह पर पहुंचा। वह पुर्तगाल के शासक के प्रतिनिधि के रूप में भारत आया था और उसने कालीकट के शासक से पुर्तगाल के लिए व्यापार करने की सुविधा मांगी। वास्को डी गामा के साथ कालीकट के हिन्दू राजा जमोरिन ने मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया तथा उसे व्यापारिक सुविधा प्रदान की। इस प्रकार भारत में आने वाले यूरोपवासियों में सर्वप्रथम पुर्तगाली थे। सम्पूर्ण 16वीं सदी में पुर्तगालियों ने भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के यूरोप से होने वाले व्यापार पर अपना अधिकार रखा। किसी दूसरी यूरोपीय शक्ति से उनकी प्रतिद्वंद्विता नहीं हुई। इसका कारण यह था कि 1492 ई. में पोप एलेक्जेंडर शष्ठ ने पूर्वी समुद्रों में व्यापार का एकाधिपत्य एक आज्ञापत्र द्वारा पुर्तगाल को दे दिया था। उसका विरोध करने का साहस किसी कैथोलिक देश ने नहीं किया। आगे चलकर धर्म-सुधार आन्दोलन के शक्तिशाली हो जाने के कारण पोप की आज्ञा का उल्लंघन हुआ तथा डच, अंग्रेज और फ्रांसीसियों ने भारत एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से व्यापार करने के लिए पुर्तगाल से व आपस में प्रतिस्पर्धा की। पुर्तगालियों ने स्वयं को वैध व्यापार की सीमाओं में नहीं बांधा बल्कि वे पूर्वी समुद्रों पर आधिपत्य स्थापित करने की महत्वाकांक्षा रखने लगे। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने दूसरी जातियों के व्यापारियों को उनके व्यापारिक लाभों से हो वंचित कर उन्हें परेशान करने का रास्ता अपनाया। परिणामस्वरूप कालीकट के राजा से उनकी शत्रुता गई क्योंकि वह अपनी समृद्धि के लिए अरब सौदागरों पर बहुत निर्भर था, जबकि पुर्तगाली अरब व्यापारियों को बाहर निकालना चाहते थे। पुर्तगालियों ने जमोरिन के

भारत का इतिहास

षत्रु कोचीन के राजा से संधि कर ली थी क्योंकि वहां उन्हें अपने स्वार्थ पूरे होते दिखाई दे रहे थे।

भारत में पुर्तगाली शक्ति की वास्तविक नींव अल्फोंसो डि अलबुकर्क ने डाली थी। वह एक छोटे जहाजी बेड़े का नायक बनकर 1503 ई. में पहली बार भारत आया था। उसने कोचीन में पुर्तगालियों का एक दुर्ग बनवा दिया और जमोरिन तथा कोचिन के राजा से सन्धि भी करवा दी।

1505 ई. में अल्मोडा पुर्तगाली दुर्ग का गवर्नर बनकर आया। उसने कोचीन के दुर्ग को मजबूत करवाया और कन्नानोर में एक दुर्ग का निर्माण करवाया। इससे मालाबार तट पर पुर्तगालियों की स्थिति –बहुत सुदरद हो गयी।

अल्बुकर्क ने नेतृत्व में पुर्तगाली वर्चस्व की स्थापना

लक्ष्य थे—

अल्बुकर्क बहुत महत्वाकांक्षी था। उसके पुर्तगाली शक्ति को पूर्वी समुद्रों में बनाये रखने के निम्न

174

1. यूरोप से भारत के मार्ग में पड़ने वाले सभी व्यापारिक स्थानों को अपने अधिकार में किया जाए। 2. स्थानीय निवासियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके पुर्तगाली उपनिवेश स्थापित किये जायें। 3. जहां उपनिवेश की स्थापना सम्भव न हो वहां समुद्र तट पर दृढ़ किले बनाये जायें जिससे जल – मार्गों की सुरक्षा की व्यवस्था हो सके, तथा

4. जहां किले बनाना भी सम्भव न हो वहां स्थानीय शासक से पुर्तगाल के राजा की सत्ता को स्वीकार कराया जाए।

1509 ई. में अल्बुकर्क गवर्नर बनकर आया। नवम्बर 1510 ई. में उसने गोवा के समरद्ध बंदरगाह पर अधिकार कर लिया, जो उस समय बीजापुर रियासत के अधीन था। अपने शासनकाल में उसने नगर के दुर्ग को मजबूत करने और उसके व्यापारिक महत्व को बढ़ाने की पूरी कोशिश की। अल्बुकर्क को इस बात का अनुभव था कि उसके देश की जनसंख्या बहुत कम है और यह उसको जनशक्ति की आवश्यकता को पूरी नहीं कर सकती। अतएव भारत में एक स्थायी पुर्तगाली आबादी बसाने के उद्देश्य से उसने अपने देशवासियों को भारतीय स्त्रियों से विवाह करने का प्रोत्साहन दिया। लेकिन आगे चलकर इन वैवाहिक सम्बन्धों के परिणाम अच्छे नहीं रहे। अल्बुकर्क की दूसरी महत्वपूर्ण सफलता 1511 ई. में फारस की खाड़ी में स्थिति मलक्का टापू पर अधिकार करना था। इससे चीन के साथ व्यापार में सहायता मिली। इसके अलावा मूल्यवान मसाले, जिनको पश्चिमी देशों में बड़ी मांग थी, वहीं पर मिलते थे। अपने देश के व्यापारिक मार्ग को सुरक्षित बनाने के लिए 1513 ई. में उसने अदन पर अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली। यद्यपि अमूज पर उसका अधिकार हो गया। 1515 ई. में गोआ में उसकी मृत्यु हो गयी और वहीं पर उसकी समाधि बना दी गई।

अल्बुकर्क ने बड़ी वफादारी के साथ पुर्तगालियों के स्वार्थों को पूरा किया। लेकिन उसकी नीति का नकारात्मक पक्ष यह था कि वह मुसलमानों को बहुत तंग करता था। अल्बुकर्क

ने अपने देश में पुर्तगालियों के लिए अड्डे बना दिये जिन्हें अपना आधार बनाकर वे रक्षात्मक तथा आक्रमणात्मक युद्ध करके अपने व्यापार की रक्षा कर सकते थे। उसकी मृत्यु के बाद भी पुर्तगाली उसके द्वारा निर्धारित नीति का अनुसरण करते रहे। पुर्तगाली भारत की सबसे जलपक्ति बन चुके थे तथा पश्चिमी समुद्रतट पर उनका वर्चस्व था। प्रो. डाडवेल ने अल्बुकर्क की तुलना क्लाइव से की है।

अल्बुकर्क के बाद निनों-दे-कुन्हा पुर्तगाली भारतीय क्षेत्रों का गवर्नर नियुक्त हुआ। गोवा को आधार बनाकर पुर्तगालियों ने व्यापार और निवास स्थान के रूप में कई महत्वपूर्ण बस्तियां बसाईं जिनमें दमन, दीव, साश्टी, बसई, चौल, बम्बई सानथोमी (मद्रास के निकट) और हुगली (बंगाल में) प्रमुख हैं। 16वीं सदी के अन्त तक सीलोन (लंका) के अधिकांश भाग पर भी उनका आधिपत्य हो गया। कालान्तर में इनमें से अधिकांश भाग उनके हाथ से निकल गये। केवल गोवा, दमन और दीव पर उनका अधिकार 1961 ई. तक रहा।

&

भारतीय समुद्र पर पुर्तगाली नियंत्रण तथा उसके राजनीतिक और आर्थिक परिणाम

1948 ई. में पुर्तगाल के राजा हेनरी दी नेवीगेटर के प्रतिनिधि के रूप में वास्को डी गामा के कालीकट पहुंचने पर पुर्तगाल के भारत से व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध शुरू हुए। धीरे-धीरे उन्होंने अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी और लाल सागर से लेकर अरब सागर तक के समुद्री मार्ग और व्यापार पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया। उन्होंने समुद्री मार्ग के तट पर विभिन्न स्थानों पर किले बनाये अथवा स्थानीय राजाओं के दुर्गों पर अधिकार कर लिया। पुर्तगालियों ने शक्ति के आधार पर यह तय किया कि हिन्द महासागर में व्यापार करने वालों को उनकी स्वीकृति लेनी चाहिए, काली मिर्च और घोड़ों का व्यापार कोई अन्य व्यापारी नहीं करेगा तथा अपने जहाजों की सुरक्षा के बदले सभी व्यापारियों को उन्हें कुछ कर देना चाहिए। अपना अधिकार क्षेत्र बढ़ाने और यूरोपीय प्रतिस्पर्धियों से अपने व्यापारिक एकाधिकार को सुरक्षित रखने के लिए वे लगातार युद्ध करते रहे। समुद्री डकैती और लूटपाट, अमानवीय अत्याचार करने तथा अव्यवस्था फैलाने जैसी अवांछित गतिविधियों में भी वे शामिल रहे। फिर भी लगभग एक सदी तक पुर्तगालियों ने अरब सागर और कुछ हद तक बंगाल की खाड़ी के व्यापार पर अपना स्वामित्व या नियंत्रण स्थापित रखने में सफलता प्राप्त की। इसके निम्न कारण थे—

छब्बै

1. पूर्वी देशों के मुकाबले उनकी नौसेना मजबूत थी जिसके बल पर खुले समुद्र पर उनका राज

चलता था।

2. उनके सैनिक और प्रशासक कठोर अनुशासन के पाबन्द थे।

3. दक्षिणी भारत मुगल साम्राज्य से बाहर था इसलिए मुगल सत्ता की ताकत का सामना उन्हें नहीं करना पड़ा।

लेकिन 17वीं शताब्दी में उनकी श्रेष्ठता का विरोध डचों ने करना शुरू कर दिया और धीरे-धीरे उनके प्रभाव को समाप्त कर दिया। लगभग एक सदी तक पुर्तगालियों के हिन्द

भारत का इतिहास

महासागर के व्यापार पर नियंत्रण करने के कुछ राजनीतिक और आर्थिक परिणाम भी सामने आये। आर्थिक दृष्टि से इस व्यापार से न केवल पुर्तगाल ही को लाभ हुआ बल्कि भारत को भी आर्थिक लाभ हुआ क्योंकि भारतीय व्यापार उससे सुरक्षित हुआ और उसमें वृद्धि हुई। राजनीतिक दृष्टि से समुद्री व्यापार पर नियंत्रण करने के अधिकार का प्रयोग करके पुर्तगालियों ने एशियाई सामुद्रिक गतिविधियों में राजनीति को शामिल कर दिया। उन्होंने अपने व्यापारिक लाभ के लिए एक भारतीय राजा के मुकाबले दूसरे भारतीय राजा की सहायता करना शुरू किया। उदाहरणतः कोचीन का राजा एक प्रकार से उनके अधीन शासक होगया जबकि कालीकट के शासक ने उनका विरोध किया। इसी प्रकार, उन्होंने घोड़ों के व्यापार को भी राजनीति में सम्मिलित किया। उन्होंने घोड़ों को बेचने का आश्वासन उन्हीं भारतीय राज्यों को दिया जो व्यापार में उनके मित्र बने। इस प्रकार पुर्तगालियों ने व्यापार के आधार पर मित्र-राज्य और शत्रु राज्य के भेद भारत में आरम्भ किये।

पुर्तगालियों के पतन के कारण

पुर्तगालियों सबसे पहले पूर्व में आए थे, लेकिन 18वीं सदी तक आते-आते भारतीय व्यापार के क्षेत्र में उनका प्रभाव समाप्त हो गया। उनके पतन के निम्न कारण थे—

1. पुर्तगालियों ने भारत में धार्मिक असहिष्णुता व अत्याचार की नीति का अपनाया। इससे भारतीय शक्तियाँ, विशेषकर मुसलमान उनके शत्रु बन गये और उन्होंने पुर्तगालियों को समूल नष्ट करने का निरन्तर प्रयास किया। उनका मुकाबला करना पुर्तगालियों के लिए संभव नहीं था।
2. उनका छिपकर व्यापार अंततः में उनके प्रति घाटक हो गया।
3. प्रारम्भ में उन्होंने मुसलमानों को नीचा दिखाने के लिए हिन्दुओं की पूरी सहायता ली थी। लेकिन बाद में उन्होंने हिन्दुओं के साथ भी दुर्व्यवहार करना शुरू कर दिया। अल्बुकर्क ने सती प्रथा बन्द कराने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार धार्मिक तथा सामाजिक हस्तक्षेप के कारण हिन्दू भी पुर्तगालियों के घोर शत्रु बन गये।
4. अल्बुकर्क ने भारत में पुर्तगालियों की संख्या बढ़ाने के लिए अन्तर्जातीय विवाह के बढ़ावा दिया था लेकिन आगे चलकर पुर्तगालियों के लिए यह नीति बड़ी घाटक सिद्ध हुई क्योंकि उन्होंने निम्न वर्ग की स्त्रियों से विवाह किया था। फलतः भारत में पुर्तगालियों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हुआ जो बड़ा ही चरित्रहीन, अत्याचारी और दुराचारी था जिसका विरोध होना अनिवार्य था।
5. पुर्तगालियों की खर्चीली आर्थिक नीति भी उनके लिए घाटक सिद्ध हुई। पुर्तगाली अधिकारियों ने अपनी धन लोलुपता में राष्ट्रीय हितों की अवहेलना की।
6. ब्राजील का पता लगने पर पुर्तगाल की उपनिवेश सम्बन्धी क्रियाशीलता पश्चिम की ओर मुड़ गयी। अंततः उनके बाद आने वाली दूसरी यारोपीय कम्पनियों से उनकी प्रतिद्वंद्विता हुई, जिसमें वे पिछड़

गये।

7. एक छोटे से देश के निवासी होने के कारण उनके साधन बहुत कम थे। धन तथा जन दोनों की उनके पास कमी थी। व्यापार का क्षेत्र बहुत बढ़ जाने के कारण वे उसपर नियंत्रण नहीं रख पाए। 8. पुर्तगालियों के पतन का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि 1580 ई. में स्पेन ने पुर्तगाल को जीतकर उसे अपने राज्य में मिला लिया। परिणामस्वरूप स्पेन के सारे षत्रु बन गये। उस समय डच लोग स्पेन के भयंकर षत्रु थे। अतः पुर्तगालियों की डचों के साथ तीव्र व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता हो गयी। पुर्तगाली उनका सामना नहीं कर पाए और उनका पूर्व का व्यापार डचों के हाथ में चला गया।

9. पुर्तगालियों के राजनीति में हस्तक्षेप करने से असन्तुष्ट होकर 1629 ई. में शाहजहां ने उसने हुगली छीन लिया, 1639 ई. में मराठों ने उनसे सालसेट और बेसीन छीन लिये तथा 1661 ई. में पुर्तगाल ने अंग्रेजों को दहेज में बम्बई दे दिया। पुर्तगालियों ने व्यापार के बजाय राजनीति में अधिक रुचि दिखायी जो तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। भारत में मुगल साम्राज्य अभी भी मजबूत स्थिति में था।

डचों का आगमन

डच हालैंड के निवासी थे चूंकि हालैंड समुद्र तट पर स्थित है अतएव डच लोग प्राचीनकाल से ही कुशल नाविक और व्यापारी रहे हैं। पुर्तगालियों से प्रभावित होकर डचों से भी धन कमाने की महत्वाकांक्षा उत्पन्न हुई। 1602 ई. में डच यूनाइटेड ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। डच संसद ने एक चार्टर स्वीकार करके कम्पनी को युद्ध छेड़ने, संधियां करने, क्षेत्र जीतने और किले बनाने के अधिकार दे दिए। डचों की विशेष रुचि भारत में नहीं बल्कि इंडोनेशिया के जावा, सुमात्रा और स्पाइस आईलैंड जैसे द्वीपों में थीं, जहां मसाले बहुत उत्पन्न होते थे।

डचों ने भारतीय समुद्रों में पुर्तगालियों से प्रतिद्वन्द्विता नहीं की, अपितु उन्होंने अपनी सारी ताकत मलक्का द्वीपों पर केन्द्रित कर दी। 1605 ई. में पुर्तगालियों से अंबायना ले लिया तथा धीरे-धीरे मसाला द्वीपपुंज (इंडोनेशिया) में उन्हीं को हराकर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। उन्होंने जकार्ता जीतकर 1619 ई. में बेटेविया नामक नगर बसाया। 1639 ई. में उन्होंने गोआ पर घेरा डाला, 1641 ई. में मलक्का पर अधिकार कर लिया तथा 1658 ई. में सीलोन की अंतिम पुर्तगाली बस्ती पर कब्जा जाम लिया। मसालों के लाभकर व्यापार में आकर्षित होकर ही डच यहां थे। इस प्रकार यह द्वीप पुंज उनकी व्यवस्था का सामरिक केन्द्र होने के साथ ही उनका आर्थिक केन्द्र भी था।

डचों ने भारत में भी अपनी कुछ व्यापारिक कोठियां बनाईं। यहां उन्होंने

गुजराज के सूरत, भड़ौच, कैंबे और अहमदाबाद, कोरोमण्डल तट पर कालीकट, बंगाल में चिनसूरा बिहार के पटना, उत्तर प्रदेश के आगरा, केरल के कोचीन, मद्रास के नागपट्टन व आन्ध्र के मसुलीपट्टम में अपने व्यापारिक केन्द्र खोले। पुर्तगालियों को हटा देने के कारण डचों सम्पूर्ण सत्रहवीं सदी में पूर्व में मसाले के व्यापार पर एकाधिकार बनाये रखा। उन्होंने भारत और सुदूर पूर्व के द्वीपों के बीच भी व्यापार किया। बंगाल से वे सूती वस्त्र, सिल्क, साल्ट पीटर एवं अफीम का निर्यात करते थे। अफीम का अधिकांश हिस्सा जावा और चीन

भारत का इतिहास

में ही खप जाता था। सूरत में डचों को काफी नीत मिल जाता था। बंगाल, बिहार, गुजरात और कोरोमंडल से वे कच्चा रेशम, बुने हुए कपड़े, घोंघा, चावल एवं अफीम भेजते थे।

लेकिन डचों ने भारत में अपने उपनिवेश तथा अपनी राजनीतिक संस्था को स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। अतएव वे यहां पर टिक नहीं सके। डच ने भारतीय नगरों में पुर्तगालियों के व्यापार को नष्ट कर स्वयं उतना ही लाभ नहीं उठाया, जितना यूरोप की दूसरी जातियों ने उठाया। वस्तुतः उन्होंने अन्य जातियों के लिए भारत के व्यापार का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

एशियाई व्यापार पर अंग्रेजों की लालच भरी नजरों भी लगी हुई थी। 1600 में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। जल्द ही डचों एवं अंग्रेजों के बीच व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के कारण संघर्ष शुरू हो गया। डचों की अंग्रेजों से प्रतिद्वंद्विता, सत्रहवीं सदी में, पुर्तगालियों की प्रतिस्पर्धा की अपेक्षा अधिक तेज थी। पूर्व में डचों की नीति दो उद्देश्यों से प्रभावित हुई। पहला उद्देश्य था उनकी स्वतंत्रता के षत्रु कैथोलिक मतावलम्बी स्पेन और उसके मित्र पुर्तगाल से बदला लेना। दूसरा उद्देश्य था पूर्वी द्वीप-पुंज (इंडोनेशिया) में उपनिवेश स्थापित करना और बस्तियां बसाना, जिससे उस क्षेत्र के व्यापार पर एकाधिकार हो जाए। पुर्तगालियों के प्रभाव के क्रमिक पतन के द्वारा उनका पहला लक्ष्य पूरा हो गया। दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के कारण उनकी अंग्रेजों से घोर स्पर्धा हो गयी। अंग्रेजों ने डचों के विरुद्ध स्थानीय राजाओं का सहयोग करने की नीति अपनाई। डच गवर्नर फ्रेयन्स्ट ने बण्डा द्वीप के उन लोगों को कठोर दण्ड दिया जो अंग्रेजों से व्यापार करते थे। प्लासी की लड़ाई के बाद अंग्रेज भारत में एक शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरे थे। 180-81 ई. तक अंग्रेजों ने मालाबार तट पश्चिमी समुद्री तट तथा दक्षिण भारत में डचों को खदेड़कर अंग्रेजी बस्तियां व व्यापारिक कोठियां स्थापित कर ली थीं।

डचों के पतन का प्रमुख कारण डच कम्पनी का एक सरकारी संस्था होना था। सरकार का कम्पनीरू की प्रगति में रुचि का अभाव इसकी सफलता में रुकावट बना। इसके अधिकारी उतने साहसी नहीं थे

जैसे अंग्रेज थे। इसके अलावा 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन और हालैंड के मध्य नौ सेना के युद्ध हुए जिनमें हालैंड की पराजय हुई। इस पराजय से भी भारत में अंग्रेजों की तुलना में उनकी स्थिति कमजोर हुई। भारतीय राजनीति और व्यापार में अंग्रेजों की अधिक रुचि को देखकर भी डचों ने उनके खिलाफ होना लाभदायक समझा। वे अंग्रेजों या पांसीसियों के राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी के रूप में भारत में खड़े नहीं हुए। लेकिन डचों और अंग्रेजों के बीच व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता सन् 1759 ई. 1805 ई. में अंग्रेजों ने चिनसुरा और मलक्का के बदले में उन्हें सुमात्रा का टापू देकर डच जाति के अन्तिम चिन्ह को इस देश से मिटा दिया।

अंग्रेजों का आगमन

यूरोप के अन्य देशों की तरह सोलहवीं सदी के अंत में ब्रिटेन के लोगों की भी विश्व व्यापार में रुचि बढ़ी। एशियाई व्यापार पर भी अंग्रेज व्यापारियों का ध्यान था। पुर्तगालियों की सफलता, मसालों, मलमल, रेशम, सोने, मोतियों, दवाओं, पार्सलीन और एवोनी से भरे उनके जहाजों और इनसे प्राप्त भारी मुनाफों ने अंग्रेज व्यापारियों की भी आंखें चकाचौंध कर दी। अब वे इस मुनाफा देने वाले व्यापार में शामिल होने के लिए व्याकुल हो गए।

तप

लोगों के बाद अंग्रेजों का भी आगमन पूर्व की ओर आरम्भ हुआ। अंग्रेजों के देर से आने का कारण यह था कि पहले उनका ध्यान पश्चिम के देशों की ओर आकृष्ट था। इन दिनों व्यापारिक उद्देश्यों हेतु नये देशों की समुद्री मार्गों द्वारा बड़े पैमाने पर खोज की एक प्रतिस्पर्धा शुरू हो गयी थी। इस क्रम में इंग्लैण्ड निवासी ड्रेक ने 1580 ई. में परध्वी की परिक्रमा पूरी की। 1588 ई. में अंग्रेजों ने स्पेन के जंगी जहाजों के बेड़े (आर्मेडा) पर विजय प्राप्त की। इस विजय से अंग्रेजों को सामुद्रिक शक्ति बहुत बढ़ गयी। सामुद्रिक शक्ति के बढ़ जाने के परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने पश्चिम के साथ पूर्व के समुद्रों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर वहाँ के व्यापार पर अधिकार करने का निश्चय कर लिया। वे भारत तथा पूर्वी द्वीप समूह में आकर व्यापार की योजनाएं बनाने लगे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना

1599 ई. मर्चेण्ट एडवेचरर्स नामक व्यापारियों ने पूर्व से व्यापार करने के लिए एक कम्पनी बनाई जिसका नाम ईस्ट इण्डिया कम्पनी रखा गया। 31 दिसम्बर, 1600 ई. को इंग्लैण्ड की रानी एलिजाबेथ ने इस कम्पनी को पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए एक रायल चार्टर द्वारा एकाधिकार प्रदान कर दिया।

अंग्रेजों का पहला जहाजी बेड़ा 1608 ई. में भारत आया। हाकिन्स इस बेड़े का कप्तान था। कम्पनी भारत के पश्चिमी तट पर सूरत में एक फैक्ट्री खोलना चाहती थी। उस समय व्यापारिक केन्द्रों को फैक्ट्री के नाम से जाना जाता था। कम्पनी ने कैप्टन को जहांगीर के दरबार में षाही आज्ञा लेने के लिए 1609 ई. में भेजा। चूंकि उस समय मुगल दरबार में पुर्तगालियों का प्रभाव था तथा सूरत के सौदागरों के विरोध के कारण भी हाकिन्स अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ। कम्पनी की शक्ति से प्रभावित होकर 1630 ई. में सम्राट जहांगीर ने कम्पनी को स्थायी रूप से कोठी खोलने की अनुमति दे दी।

जीमज

लेकिन अंग्रेज इस छूट से ही संतुष्ट नहीं हुए। 1615 ई. में इंग्लैण्ड के राजा जेम्स प्रथम ने सर टामस रो को अपना राजदूत बनाकर मुगल दरबार में भेजा। वह 1615 से 1618 ई. तक जहांगीर के दरबार में रहा। यद्यपि वह मुगल बादशाह से कोई निश्चित व्यापारिक संधि करने में असमर्थ रहा। फिर भी वह कम्पनी के लिए बहुत सी सुविधायें प्राप्त करने में सफल रहा। 1616 ई. में अंग्रेजों ने भारत में आन्तरिक स्थल व्यापार का जाल फैलाया तथा अहमदाबाद, बुरहानपुर, अजमेर, बड़ौदा, भड़ौच, आगरा, कालीकट और मछलीपट्टम में अपनी व्यापारिक कोठियां स्थापित कर लीं। ये सभी कोठियां सूरत की कोठी के अध्यक्ष और परिशद के नियंत्रण में रख दी गयीं। इंग्लैण्ड के राजा चार्ल्स द्वितीय ने 1622 में जब एक-पुर्तगाली राजकुमारी से शादी की तो पुर्तगालियों ने उस बम्बई दहेंज के रूप में दे दिया। अंततः गोवा, दमन और दीव को छोड़कर पुर्तगालियों के हाथ में भारत में उनके कब्जे वाले सारे इलाके निकल गये। 1668 ई. में चार्ल्स द्वितीय ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को 10 पौंड वार्षिक किराये पर बम्बई को दे दिया। कालान्तर में बम्बई पश्चिमी समुद्र तट पर अंग्रेजों का सूरत से भी अधिक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र बन गया।

भारत का इतिहास

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक प्रभाव का विस्तार

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शुरुआत बहुत साधारण रही। आरम्भ में उसने व्यापार और कूटनीति के साथ-साथ युद्धों का भी सहारा लिया तथा जिन क्षेत्रों में फैक्ट्रियां स्थापित की थीं, उन पर अधिकार करने के भी प्रयास किए। दक्षिण भारत में परिस्थितियां अंग्रेजों के अधिक अनुकूल थीं क्योंकि वहाँ उन्हें किसी शक्तिशाली भारतीय सत्ता का सामना नहीं करना पड़ा। विजयनगर का महान साम्राज्य 1565 ई. में ही नष्ट हो चुका था और उसकी जगह अनेक छोटे और कमजोर राज्य बन गए थे जिनसे मुकाबला करना बहुत आसान था। अंग्रेजों ने दक्षिण में अपनी फैक्टरी मसुलीपट्टम में 1611 ई. में स्थापित की जिसका उद्देश्य स्थानीय बुने हुए फुटकर बेचने के कपड़ों को खरीद कर उन्हें फारस व बंटेम भेजना था। सन् 1632 ई. में गोलकुंडा को सुल्तान ने उन्हें एक सुनहरा फरमान दिया, जिससे उन्हें बहुत लाभ हुआ। इसके अनुसार पांच सौ पगोड़ा सालाना कर देने पर उन्हें गोलकुंडा राज्य के बंदरगाहों में स्वतंत्रतापूर्वक व्यापार करने की आज्ञा मिल गयी। लेकिन अंग्रेज अधिकारी इससे भी अधिक लाभप्रद स्थान की खोज में लगे रहे। सन् 1639 ई. में पांसिस डे ने चंद्रगिरि के राजा से मद्रास को पट्टे पर लिया तथा वहाँ एक किलेबन्द कोठी बनवाई। राजा ने उनको उस जगह को किलेबन्दी करने, उसका प्रशासन चलाने और सिक्के ढालने की अनुमति इस शर्त पर दी कि बंदरगाह से प्राप्त चुंगी का आधा भाग राजा को दिया जायेगा। इस किलेबन्द कोठी नाम फोर्ट सेंट जार्ज रखा गया जो शीघ्र ही कोरोमण्डल तट पर अंग्रेजी बस्तियों के मुख्यालय के रूप में मसुलीपट्टम से आगे निकल गया।

अंग्रेज व्यापारियों को शुरु से ही नीति रही कि भारतीय उन्हें इस देश को जीतने का खर्च स्वयं दें। निम्न उदाहरण से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। कम्पनी के कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने 1683 में मद्रास के अधिकारियों को लिखा, हम चाहते हैं कि आप धीरे-धीरे नगर (मद्रास) को किलाबन्द करें और किले को इतना मजबूत बनाएं कि वह किसी भारतीय राजा या भारत में डच शक्ति के आक्रमण के सामने अडिग रह पर हम आपसे यह भी चाहते हैं कि आप अपना काम इस प्रकार जारी रखें कि नगर निवासी हो सारी मरम्मत और किलाबंदी का पूरा खर्च उठाएं।

1968 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पुर्तगाल से बम्बई का द्वीप प्राप्त किया और उसकी तत्काल किलेबंदी कर दी। बम्बई के रूप अंग्रेजों की एक बड़ा और आसानी से रक्षा कर सकने योग्य बंदरगाह प्राप्त हुआ। चूंकि उभरती हुई मराठा शक्ति अंग्रेजों के व्यापार के लिए खतरा उत्पन्न कर सकती थी।

अभ्यास—प्रश्न

1. यूरोपवासियों के भारत आगमन के कारणों पर प्रकाश डालें।
2. पुर्तगाली वर्चस्व की स्थाना पर रौषनी डालें।
3. डच आगमन के भारत पर क्या प्रभाव पड़े?
4. ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना और उसके व्यापारिक प्रभाव के विस्तार पर प्रकाश डालें।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

प्राचीन काल से लेकर पूर्वमध्य काल तक भारत एक समर्पद्धिषाली देश था। विदेशियों ने देश की अतुल सम्पत्ति को देखकर आक्रमण किये थे। भारत में शासन स्थापित करने से पूर्व मुसलमानों ने देश की सम्पत्ति को खूब लूटा था। महमूद गजनवी ने राजकोश तथा मन्दिरों को लूटा। उसके लगातार आक्रमणों का देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा। देश का व्यापार नष्ट हो गया। महमूद गजनवी का एकमात्र उद्देश्य धन लूटना था। जब भारत के इस्लामी साम्राज्य स्थापित हो गया तब भी राज्य विस्तार की ओर ही उनका ध्यान गया। एक ओर साम्राज्य विस्तार की नीति का अनुगमन किया जा रहा था तो दूसरी ओर दरबार शानो-शौकत में बेधुमार खर्च हो रहा था। इस स्थिति में सल्तनत युग में आर्थिक विपन्नता एवं शोषण ही दर्शगोचर होता है। कृषक एवं मजदूर वर्ग का शोषण कर अमीर एवं राजपरिवार के लोग वैभवपूर्ण एवं विलासिता का जीवन व्यतीत कर रहे थे। अमीर खुसरो ने ठीक ही लिखा है, सुल्तान के मुकुट का प्रत्येक माती निर्धन किसानों की आंखों से गिरे हुए रक्त का सफेद किया हुआ कण है। सुल्तानों ने आर्थिक सुधारों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। केवल बलबन एवं अलाउद्दीन खिलजी ने ही आर्थिक दशा सुधारने के लिए प्रयत्न किए। मुहम्मद तुगलक एवं फिरोजशाह तुगलक ने भी इस ओर ध्यान दिया था। इन सुल्तानों ने देश की कृषि, व्यापार, वाणिज्य एवं राजस्व में सुधार करके एक सक्षम अर्थव्यवस्था विकसित करने का प्रयत्न किया था। कुछ नवीन प्रयोग भी दिल्ली सुल्तानों द्वारा अर्थव्यवस्था को सुधारने हेतु किये थे जिनसे प्रजा एवं प्रशासनिक अधिकारी एवं अमीर वर्ग को काफी फायदा पहुंचा था लेकिन विपरीत परिस्थितियों एवं भाग्य का साथ ने देने के कारण उन्हें अपनी योजनाओं में असफलता ही मिली। संक्षेप में सल्तनत युग की अर्थव्यवस्था को निम्नलिखित बिन्दुओं में इंगित किया जा सकता है।

अर्थव्यवस्था

1. कृषि — सल्तनत युग में लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि था। कृषि से ही राज्य को सबसे अधिक आय होती थी। राज्य की अधिकांश भूमि उपजाऊ थी, जिससे व्यापक रूप से कृषि की जाती थी। फिरोज तुगलक ने सिंचाई के लिए अनेक नहरें बनवाई थीं। हमारे देश की समर्पद्धि का मुख्य साधन कृषि थी। अधिकांश भागों में भूमि का प्राकृतिक उर्वरापन, पर्याप्त वर्षा, अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही सिंचाई की सुविधायें, जिन्हें फिरोज

भारत का इतिहास

तुगलक ने और भी अधिक समुन्नत बना दिया था तथा किसानों की परिश्रमशीला — इन सब कारणों से देश में इतना अन्य उत्पन्न होता था कि उस समय जनता की आवश्यकतायें ही पूरी नहीं हो जाती थीं बल्कि बाहर के देशों को भी उसका निर्यात होता था। रूई, गन्ना, तिलहन, अफीम आदि फसलें बड़े पैमाने पर उत्पन्न की जाती थीं। मुहम्मद बिन तुगलक के काल में अवष्य अकालों का प्रादुर्भाव हुआ था, परन्तु अलाउद्दीन, फिरोज तुगलक, इब्राहीम लोदी के काल में खाद्य पदार्थों की प्रचुरता थी और फसलों का मूल्य कम था।

3. वाणिज्य तथा उद्योग मुसलमानों के आगमन से पूर्व हमारा देश औद्योगिक दर्पश्ट से सुसंगठित था। ग्रामों तथा नगरों में अनेक शिल्पों के संघ थे। यद्यपि इन औद्योगिक संस्थाओं को राज्य की सहायता प्राप्त नहीं थी, फिर भी उनका अस्तित्व कायम था। इस युग में दो प्रकार के उद्योग थे। एक वे जिन्हें राज्य का संरक्षण प्राप्त था और दूसरे वे जिन पर व्यक्तियों का निजी स्वामित्व था। दिल्ली में सुल्तानों के अनेक कारखाने होते थे, जिनमें रेशम तथा अन्य प्रकार को कपड़े बुनने वाले सहस्त्रों जुलाहे कार्य करते थे। इन षाही कारखानों में सम्मानपूर्वक वस्त्र बनाने के लिए हजारों गज रेशमी तथा सूती कपड़ा तैयार किया जाता था। सोना, चांदी तथा कषीदा आदि काम के लिए अन्य कई प्रकार के कारखाने होते थे। निजी उद्योग में सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों की छपाई, षक्कर धातु, कागज, पत्थर, ईंट, पच्चीकारी, कलई करने आदि के धन्धे अधिक महत्वपूर्ण थे। इनके अतिरिक्त जूते, अस्त्र—षस्त्र, षराब, पीतल तथा अन्य धातुओं एवं मिट्टी के अन्य छोटे—मोटे धन्धे भी थे। वस्त्र उद्योग का देश के सभी प्रान्तों में प्रचार था, किन्तु कपड़े के उत्पादन तथा निर्यात के लिए बंगाल और गुजरात विशेष रूप से प्रसिद्ध थे।

3. व्यापार

सल्तनत युग में भारत का व्यापार उन्नत अवस्था में था। यद्यपि तुर्क — अफगान युग में राज्य देश की जनता की आर्थिक अभिवर्द्धि की दृष्टि से व्यापक अर्थनीति का अनुसरण नहीं करता फिर भी हमारे देशवासी बड़े पैमाने पर बाह्य तथा आन्तरिक व्यापार किया करते थे। भारत बाह्य जगत से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। कृषि की उपज, सूती तथा रेशमी वस्त्र, अफीम, नील, जस्ता आदि वस्तुएं विदेशों को भेजी जाती थीं। इस युग में हमारा चीन, मलाया, द्वीप समूह तथा प्रषान्त महासागर के अन्य देशों से व्यापारिक सम्बन्ध था। भूटान, तिब्बत, अफगानिस्तान, ईरान तथा मध्य एषिया के अन्य देशों के साथ हमारा व्यापार स्थल मार्गों से होता था।

परन्तु हमारे देश में धन के वितरण में बहुत विशमता थी। वास्तव में धन राज्य के कुछ विषिष्ट व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित था। सुल्तान, उनके सामन्त तथा उच्च पदाधिकारी अयधिक धनी थे और इसी प्रकार हिन्दू राजाओं, सामन्तों तथा बड़े व्यापारियों एवं साहूकारों के पास अपार धन था। इस वर्ग के धनी लोग ऐश्वर्य, वैभव तथा विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे, परन्तु निम्न वर्ग के व्यक्तियों की दषा बड़ी षोचनीय थी। किसानों के पास भूमि की उपज का केवल एक तिहाई भाग बच पाता था और राज—काज का भारी बोझ भी उन्हीं पर पड़ता था।

यातायात के साधनों की सुलभता न होने के कारण देश के विभिन्न देशों में वस्तुओं के मूल्य एक समान न थे। साधारण समय में वस्तुएं सस्ती रहती थीं। किन्तु अकाल और अभाव के समय में उनके मूल्य में असाधारण वर्द्धि हो जाया करती थी। उदाहरणार्थ, मुहम्मद बिन

तुगलक के समय में जब भीषण अकाल पड़ा तो एक सेर अनाज को भाव 16—17 जीतल तक पहुंच गया।

संक्षेप में, भारतीय समकालीन लेखकों और यात्रियों (मार्कोपोलो, इब्नबतूता, चीनी यात्री महुआ) के विवरणों से स्पष्ट होता है कि आद्योगिक और आर्थिक दृष्टि से काफी सम्पन्न था।

4. भू-राजस्व – दिल्ली के सुल्तानों ने अनेक पूर्ववर्ती परम्पराओं, जो हिन्दू शासकों के समय प्रचलित थीं, को ग्रहण किया। भू-राजस्व व्यवस्था सम्बन्धी परम्पराएं सल्तनत युग में भी जारी रहीं। उदाहरण के लिए, गांव की भूमि पर सुल्तान का पूर्ण अधिकार था और यदि वह चाहे तो भूमि किसी को भी अनुदान में दे सकता था। सल्तनतयुगीन भू-राजस्व व्यवस्था के अन्तर्गत निम्नलिखित 4 प्रकार की भूमि आती थी—

(प) मदद-ए-माष यह वह भूमि थी जो यदा-कदा प्रसन्न होकर सुल्तानों के द्वारा किसी को दान में दी जाती थी। इस प्रकार की भूमि पर राजस्व वसूल नहीं किया जाता था। भूस्वामी की मरत्यू के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी इस प्रदत्त भूमि का उपयोग करता था।

(पप) खालसा भूमि – यह वह भूमि थी जो कि दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेश एवं दोआब में हुआ करती थी। इस प्रकार की भूमि राजस्व व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्यक्ष रूप से आ जाती थी। खालसा भूमि से राजस्व वसूल करने के लिए पथक आमिल रखे गये थे। इस प्रकार की भूमि से प्राप्त राजस्व को कारखानों के खर्च एवं सेना के वेतन में काम में लाया जाता था।

(पपप) इक्ता इक्ता का अरबी में वास्तविक अर्थ भूमि सम्पत्ति के एक भाग से है जिसे राज्य की ओर से कोई व्यक्ति प्राप्त करता था। यह भूमि अमीरों के वेतन के स्थान पर इक्ता के रूप में दी जाती थी। दिल्ली सल्तनत के प्रारम्भिक काल में समुचित प्रशासनिक व्यवस्था के अभाव के कारण प्रमुखतः दो लाभों को ध्यान में रखकर इस व्यवस्था का प्रयोग किया गया। प्रथम, सुल्तान दूरस्था या निकटवर्ती प्रदेशों को प्रत्यक्ष रूप से शासन करने के दायित्व से बचा रहा। द्वितीय, राजस्व के श्रोत निर्धारित न होने के कारण सुल्तान अमीरों, सैनिकों, राजकीय अधिकारियों, आदि को वेतन देने के दायित्व से भी मुक्त रहा। किन्तु बलबन के शासन काल तक इस व्यवस्था में अनेक दोष आ गए थे। अतः बलबन ने इस व्यवस्था में परिवर्तन के लिए कदम उठाये।

बलबन के गद्दी पर बैठते समय (1266 ई.) बहुत से इक्तादार वृद्ध हो चुके थे तथा वे सेना के साथ प्रस्थान करने में भी असमर्थ थे। वे घर पर ही बैठे रहते थे। सेना के साथ चलने में समर्थ इक्तादार भी घूस देकर सेना के साथ जाने से बच जाते थे। बलबन ने गद्दी पर बैठते ही इस सम्बन्ध में जो जांच-पड़ताल की उससे स्पष्ट होता है कि इल्तुतमिश के समय के अनेक इक्तादारों के वंशजों ने गांव

के गांवों को अपनी मिल्कियत बना लिया था और इस मिल्कियत को वे इनाम समझते थे।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छव्जे

भारत का इतिहास

191

भारत का इतिहास

— 1200 से 1739 तक)

182

छब्बै

बलबन ने इक्तादारों को तीन श्रेणियों में बांटारु प्रथम श्रेणी में वे इक्तादार रखें जो कि वषद्ध हो चुके थे। इस प्रकार के इक्तादारों को 40 से 50 तनके वजीफे के रूप में देकर उसने उनके गांवों को खलसा में मिला दिया। द्वितीय श्रेणी में इक्तादार वे थे जो कि

जब्त कर उनका वेतन निधारित कर दिया गया। तरतीय श्रेष्ट-पुष्ट एवं जावन थे। उनके गांवों को

में उन अनाथ एवं विधवाओं को रखा गया जो कि इवताएं रखती थीं और अपने पिता या पति के दासों के द्वारा दीवने अर्ज में अस्त्र-षस्त्र व घोड़े भेजती थीं। बलबन ने इस प्रकार अनाथों व विधवाओं के जीवनयापन को गांव की आय से निर्धारित करने के आदेश दिये। बलबन पूर्णतः इक्तादारी प्रथा का उन्मूलन न कर सका किन्तु उसने इक्तादारों को इस बात के लिए बाध्य अवष्य ही कर दिया कि वे अपनी इक्ताओं की आय से अपना व्यय निकालकर पेश धनराशि षाही खजाने में जमा करें।

अलाउद्दीन खिलजी ने इक्तादारी प्रथा में कतिपय परिवर्तन किये। उसने इक्तादारी का पूर्ण उन्मूलन करने की नीति नहीं अपनाई। इसका कारण था साम्राज्य के विस्तार। अलाउद्दीन यह भली-भांति समझता था कि दूरस्थ प्रदेशों में केन्द्र द्वारा सीधा प्रशासन करने में पर्याप्त कठिनाई होगी। अतः उसने दूरस्थ प्रदेशों में अमीरों को इक्ताएं दी। किन्तु उसने दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेशों से इक्तावादी प्रथा को समाप्त कर दिया। रुहेलखण्ड वे दोआब का क्षेत्र इसी परिधि में था। उसने इसे खालसा में मिलाया। सैनिकों को नकद श्वेतन दिया गया। इससे खालसा का राजस्व अब राजकोश में जाने लगा।

अलाउद्दीन ने जिन दूरस्थ प्रदेशों में इक्ताएं दी थी उनमें सभी प्रकार के करों की वसूली के लिए मुक्तियों को नियुक्त किया। इन मुक्तियों पर प्रशासन के आर से कठोर नजर रखी जाती थी। सुल्तान हमेषा इस बात पर सचेत रहता था कि कहीं मुक्ती या वली राजस्व धन की सही जानकारी न दें। अतः मुक्ती या वजी के सही जानकारी ने दिये जाने पर कठोर दण्ड दिया जाता था।

अलाउद्दीन के पश्चात् अक्तादारी प्रथा पर केवल मुहम्मद तुगलक ही कुछ नियन्त्रण स्थापित कर सका अन्यथा कोई भी सल्तनत उत्तराधिकारी नियन्त्रण स्थापित करने में सफल न हो सका।

जैसे-जैसे दिल्ली सल्तनत सुदृढ़ता को प्राप्त होती चली गयी वैस-वैसे सल्तनत ने कृशक वर्ग से राजस्व वसूल करने की व्यवस्था को सुदृढ़ स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। सल्तनत काल में कृशि योग्य भूमि से जो राजस्व कर वसूल किया जाता था उसे खिराज कहा जाता था और इस प्रकार की कशि योग्य भूमि को खिराज भूमि कहा जाता था।

बलबन ने कृषि प्रधान राज्य की ग्रामीण अर्थव्यवस्था के प्रमुख सिद्धान्त को निःसन्देह समझ ही लिया था। इसकी सार्थकता बलबन अपने पुत्र बुगरा खां से कहे गये इस आदेश से भी होती है, खिराज वसूल करते समय मध्यम मार्ग अपनाना। खिराज वसूली इतनी अधिक न हो कि जनता दरिद्र बन जाये और इतनी कम भी न हो कि धन की अधिकता जनता को विरोधी बना दें।¹⁶

अलाउद्दीन खिलजी ने कुल पैदावार का $1/2$ भाग राजस्व कर के रूप में निर्धारित किया। राजस्व कर नकद एवं अनाज दोनों ही रूपों में लिया जाता था। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अलाउद्दीन ने राजस्व विभाग का पुनर्गठन किया। विभाग के अध्यक्ष की सहायता के लिए नायब-ए-वजीर एवं नायब-ए-मुमालिक की नियुक्ति की, परगनों में आमिलों, मुहस्लों, मुषरिफों, सरहगों एवं नवीसन्दों की नियुक्ति की गई। पटवारी के बहीखाते में भी जीतल यदि राजस्व वसूल करने वाले अधिकारी के पास निकलता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। पटवारी के बहीखाते एवं राजस्व कर वसूल करने वाले के हिसाब तें असमानता क्षम्य नहीं थी। इतना होने पर भी कृशकों के पास जो रकम बकाया रह जाती थी उसे वसूल करने एवं उसका लेखा-जोखा रखने के लिए अलग विभाग खोला गया।

अलाउद्दीन ने खिराज वसूल करने के लिए जो कठोर नीति अपनाई उसकी सफलता पर सन्देह है क्योंकि उसकी इस व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य कृशकों का शोषण रोकना था, परन्तु क्या इस व्यवस्था ने कृशकों का शोषण रोककर उन्हें खुषहाल बनाया कृशक वर्ग के लिए अपनी आय का $1/2$ भाग कर के रूप में देना कष्टप्रद तो रहा ही होगा।

अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र मुबारकशाह ने कोई नई राजस्व नीति नहीं अपनाई, अपितु उसने अलाउद्दीन की नीति का ही अनुपालन किया, अतः योग्यता के अभाव में अलाउद्दीन की नीति उसके पश्चात् असफल हो गयी। किन्तु गयासुद्दीन तुगलक ने भू-राजस्व की नीति

का आधार कृशकों के हितों को दृष्टि में रखकर निर्धारित किया, परन्तु उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद तुगलक ने पिता से भिन्न नीति का अनुसरण किया।

5. दोआब में कर वृद्धि – मुहम्मद तुगलक ने राज्याभिषेक के समय जनता में खूब धन बंटवाया जिसके परिणामस्वरूप राजकोश खाली हो गया। अतः उसने राजस्व में कर वृद्धि करने की आवश्यकता महसूस की। अतः उसने सिंहासन पर बैठने के कुछ समय बाद ही दोआब के धनी प्रान्त में राजस्व वृद्धि की योजना लागू की। भूमि कर बढ़ा दिया गया। लेकिन दुर्भाग्य से जिस समय दोआब में इस अतिरिक्त कर वृद्धि की योजना को कार्यान्वित किया गया, उस समय वहां वर्षा न होने के कारण अकाल पड़ गया। जनता ने इसका विरोध किया। लेकिन सुल्तान द्वारा नियुक्त कर्मचारियों ने कठोरतापूर्वक कर वसूल करने का कार्य जारी रखा। अतः किसानों को बाध्य होकर अपनी भूमि छोड़नी पड़ी। दुर्भाग्य से यह योजना उस समय कार्यान्वित की गयी जबकि दोआब में भयंकर अकाल के कारण जनता के कष्ट बढ़ गये लेकिन इससे सुल्तान सर्वथा दोषमुक्त नहीं हो जाता क्योंकि उसके पदाधिकारियों ने अकाल की परवाह न करते हुए कठोरतापूर्वक कर वसूल किया।

भारत का इतिहास

मुहम्मद तुगलक ने कृषि की उन्नति के लिए कृषि विभाग की स्थापना की। उसका नाम फ़ीवोनो कोही रख दिया गया। राज्य की ओर से आर्थिक सहायता देकर कृषि के योग्य भूमि का विस्तार करना इस विभाग का मुख्य उद्देश्य था। इस कार्य के लिए साठ वर्ग मील का एक भू-भाग उसमें बारी-बारी से विभिन्न फसलें बोयी गयीं। इस योजन के अन्तर्गत सरकार ने दो वर्ष में लगभग सत्तर रूपया व्यय किया। इस भू-भाग की देखरेख के लिए बड़ी संख्या में रक्षक तथा पदाधिकारी नियुक्त किये गये। किन्तु अनेक कारणों से यह प्रयोग असफल रहा। पहला, कारण असफलता का यह था कि प्रयोग के लिए चुना गया यह भू-क्षेत्र उपजाऊ नहीं था। दूसरा, कारण यह था कि प्रयोग नितान्त नया था और इस सम्बन्ध में कोई पूर्व उदाहरण विद्यमान नहीं था। तीसरा, तीन वर्ष का कम समय था और उसमें ठोस परिणाम की आशा करना व्यर्थ था। इतने अल्प समय में किसी भी ठोस परिणाम की आशा नहीं हो सकती थी। चौथा, कारण यह था कि योजना के लिए निर्धारित किया गया धन सही अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया क्योंकि उसमें से कुछ तो भ्रष्ट अधिकारी हड़प गये तथा कुछ किसानों ने अपने निजी आवश्यकताओं पर व्यय कर दिया। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक का वह प्रयोग भी असफल रहा और उसे इस योजना को त्यागना पड़ा।

मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के पश्चात् उसके अत्तराधिकारी फ़िरोजशाह

उसके अत्तराधिकारी फ़िरोजशाह तुगलक के सम्मुख जहां एक ओर राजकोश रिक्त था वहीं दूसरी ओर दोआब व उसके निकटवर्ती प्रदेशों में दुर्भिक्ष का ताण्डव नृत्य था। कृषक वर्ग जर्जरित स्थिति में था, फ़िरोजशाह ने सभी स्थानों के कृषकों साथ समान नीति अपनाई। गह्वर कर व चराई कर को छोड़कर अन्य उपकरों को समाप्त कर दिया गया। कुल पैदावार का 4 प्रतिशत भू-राजस्व कर के रूप में निर्धारित किया गया। जिन गांवों में नहरों को सिंचाई होती थी वहां वर पैदावार का $1/10$ भाग जल कर के रूप में लगाया गया।

फ़िरोजशाह तुगलक की मृत्यु के पश्चात् तुगलक वंश का पतन हो गया और सैयद वंश के हाथों सत्ता आ गई। सैयदों के शासन काल में सुल्तान की शक्ति क्षीण हो गई और जमींदारों की शक्ति का विकास हुआ। सैयदों के पश्चात् लोदी वंश के शासन काल में भू-राजस्व की दर पैदावार का $1/4$ बनी रही।

6. उलाउद्दीन खिलजी का बाजार नियन्त्रण – सल्तनत काल के इतिहास में अलाउद्दीन खिलजी का बाजार नियन्त्रण निःसन्देह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य था। यह ठीक है कि बाजार नियन्त्रण के पीछे उसका उद्देश्य राजनीति से प्रभावित था, किन्तु फिर भी अर्थव्यवस्था की दृष्टि से उसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता। अलाउद्दीन अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए एक विषाल सेना रखना चाहता था, किन्तु वह इसके लिए राज्य के साधनों पर अत्यधिक बोझ नहीं डालना चाहता था। इधर आन्तरिक विद्रोहों का दमन करने के साथ-साथ उसे उत्तर-पश्चिमी सीमा पर होने वाले मंगोलों के आक्रमणों का सामना भी करना था। इस स्थिति में विषाल सेना की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध थी। अतः अलाउद्दीन को कृषि बाजार नियन्त्रण पर ध्यान देना पड़ा। उसका उद्देश्य था कि दैनिक आवश्यकताओं व सामान्य खाद्य पदार्थों के मूल्यों को इतना गिरा दिया जाये कि प्रत्येक सैनिक व आम व्यक्ति अपना जीवन-निर्वाह कर सके। अपने उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए अलाउद्दीन ने खालसा भूमि एवं अधीनस्थ सामन्तों की भूमि से राजस्व उपज के रूप में वसूल करना आरम्भ किया। यह घोषित किया गया कि अधिक-से-अधिक

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

183

दूद वदीपे बस्फ

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

रू

बवउचसमजमसल दक कममिदजेंटमंदमसमज इमेजंदकै चपतमं उमतहम समदहजीपदंजींद
समकमेज चममजांजं अंजमजंदलं जमदजंद

अनाज षासन द्वारा एकत्रित किया जाये। कोई भी व्यक्ति सरकारी परमिट के बिना सीधा कृशक से अनाज नहीं खरीद सकता था। जिन व्यापारियों को सरकारी परमिट प्राप्त थे वे ही कृशकों से सीधे अनाज खरीद सकते थे। दिल्ली के सभी व्यापारियों के लिए षहानाये—मण्डी नामक पदाधिकारी के कार्यालय में नाम लिखवाना अनिवार्य कर दिया गया। राज्य की ओर से प्रत्येक वस्तु के मूल्य निर्धारित कर दिये गये। निश्चित मूल्य से अधिक मूल्य पर वस्तु विक्रय करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। यदि तौल में सामान कम दिया जाता था तो व्यापारी के षरीर से उतना ही मांस काट लिया जाता था जितना वह कम तोलता था। मण्डी की समस्त सूचना रियासत तथा षहाने मण्डी नामक पदाधिकारियों द्वारा सुल्तान तक पहुंचती थी। दास का मूल्य 100 से 200 टंके था निर्धारित किया गया गेहूं का मूल्य 7.5 जीतल प्रति मन, जौ 4 जीतल प्रति मन, धान 5 जीतल प्रति मन एवं चना 5 जीतल प्रति मन हो गया।

अलाउद्दीन की इस बाजार नियन्त्रण की नीति के जो परिणाम सामने आये, इतिहासविदों ने उसकी भूरि—भूरि प्रशंसा की है। अनाज, कपड़ा व दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं सस्ती हो गईं। रहन—सहन का खर्च काफी गिर गया। अलाउद्दीन ने यह नीति क्या पूरे साम्राज्य में लागू की या फिर केवल दिल्ली व उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में ही लागू की? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। कुछ भी हो उसकी इस नीति ने सुल्तान के मुख्य उद्देश्य मुद्रा प्रसार को रोकने एवं रहन—सहन के खर्च को कम करने को पूरा कर ही दिया और सुल्तान एक विषाल सेना रखने में सफल हुआ।

..

7. व्यापार एवं वाणिज्य सल्तनत काल में व्यापार एवं वाणिज्य का विकास उन्नति पर था। मार्कोपोलो एवं इब्नबतूता के विवरणों से पता चलता है कि कालीकट एवं भड़ौच उस समय के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। खम्भात का उल्लेख भी एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र के रूप में मिलता है। आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार उन्नति पर था।

(प) आन्तरिक व्यापार — व्यापार का कार्य मुख्यतः वैश्य जाति के लोग करते थे। गुजराती, मारवाड़ी, खुरासानी एवं मुल्तानी अपनी व्यापारिक क्षमता के लिए प्रसिद्ध थे। व्यापारी काफिलों में एक स्थान से दूसरे तक आया—जाया करते थे। कर्नल टाड ने 40 हजार तक

भारत का इतिहास

बैल एवं काफिलों का उल्लेख किया है। षहरों में बाजार व ग्रामों में हाट लगाई जाती थी। सड़कों एवं पगडण्डियों का प्रयोग एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए होता था।

(पप) विदेशी व्यापार — विदेशी व्यापार स्थल एवं समुद्री दोनों मार्गों से होता था। स्थल मार्ग से भारत का व्यापार अफगानिस्तान, फारस, तिब्बत, भूटान, मध्य एशिया एवं चीन से होता था। भारत से विदेशों को अनाज, नील, कपड़े एवं अफीम का निर्यात होता था। दवाईयों एवं गोंद का निर्यात भी होता था। इसके स्थान पर भारत को विदेशों से सोना प्राप्त होता था। भारत में विदेशों से विलास सामग्री एवं दासों का आयात होता था। समुद्री मार्ग से भी व्यापार होता था। कालीकट, गोआ, कछलीपट्टम, कोचीन, चटगांव, भर्हीच, आदि बन्दरगाहों का उल्लेख इब्नबतूता एवं मार्कोपोलो के विवरण में मिलता है। मालाबार मोड़ों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। सैय्यद अबुल हसन अबदी व्यापारी जिसका उल्लेख इब्नबतूता ने किया है। सरकारी धन से व्यापार करता था। वह इराक व खुरासान से वस्तुएं मांगता व सुल्तानों को देता था। बंगाल, धन-धान्य से परिपूर्ण था, महत्वपूर्ण व्यापारिक क्षेत्र के रूप में विख्यात था।

८ उद्योग धंधे

(प) वस्त्र उद्योग — सल्तनत काल में वस्त्र उद्योग प्रमुख था। वरथमा ने बंगाल को समृद्धिषाली बतलाते हुए लिखा है, बंगाल सूती कपड़े के लिए विश्व के धनी देशों में से एक स्थान था। बंगाल में बरहद् मात्रा में रेशम का उत्पादन होता था। यहाँ पर ऊन पहाड़ी भेड़ों से प्राप्त होती थी। अमीर खुसरो, वरथमा एवं बारबोसा ने बंगाल का सबसे बड़ा औद्योगिक केन्द्र बतलाया है। बंगाल के अतिरिक्त खम्भात भी महत्वपूर्ण वस्त्र उद्योग का केन्द्र था। यहाँ रेशम के वस्त्र तैयार होते थे।

९ दंदर्जीसक

(पप) धातु उद्योग — सोना, चांदी, पीतल, लौह, आदि धातुओं का निर्माण सल्तनत काल में होता था। गुजरात के स्वर्णकार सोने व चांदी से तैयार माल पर नक्काशी के लिए प्रसिद्ध थे। सोने व चांदी के कार्य के लिए विशेष कारखाने थे। गुजरात एवं बंगाल में मूंगे का कार्या होता था। फतेहपुर सीकरी, बिहार एवं बरार कांच की वस्तुओं के निर्माण के लिए प्रसिद्ध थे। हाथी दांत का कार्य भी होता था।

184

(पपप) चीनी उद्योग — सल्तनत युग में चीनी या खांड का उद्योग अत्यन्त उन्नत था। इस उद्योग का प्रमुख केन्द्र बंगाल था।

—

(पअ) चमड़ा उद्योग — चर्म उद्योग का प्रमुख केन्द्र गुजरात था। मार्कोपोलों के अनुसार, चमड़े की चटाइयों पर सुन्दर पशु-पक्षियों के चित्र बनाये जाते थे। चर्मकार जूते, मष्क एवं कृषि के कार्य आने वाली चमड़े की वस्तुओं का निर्माण करते थे।

(अ) काष्ठ उद्योग — सल्तनत काल में काष्ठ उद्योग भी उन्नति पर था। पलंग, खूंटी, दरवाजे, खिलौने, आदि लकड़ी के बनाये जाते थे।

(अप) कागज उद्योग – सल्तनत काल में कागज उद्योग के लिए दिल्ली एवं गुजरात प्रसिद्ध थे। कागज विशेष रूप से सरकारी कार्य एवं पुस्तकें लिखने के लिए प्रयोग किया जाता था।

(अपप) शिल्प – अमीर खुसरो लिखता है, उस युग में दिल्ली के भवन निर्माता एवं शिल्पकार सम्पूर्ण मुस्लिम जगत में सर्वश्रेष्ठ कलाकार थे। शिल्पकारों को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। अलाउद्दीन ने 70 हजार कारीगरों को भवन निर्माण का प्रशिक्षण दिया था। फिरोज तुगलक के शासनकाल में चार हजार दासों को भवन निर्माण का प्रशिक्षण दिया गया। यही नहीं, ईंटे बनाने व संगतराषी के कार्य भी

कुछ लोग किया करते थे।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन स्पष्ट करता है कि सल्तनत काल में दिल्ली के सुल्तान किसी निश्चित आर्थिक नीति का पालन नहीं कर सके। जहां तक करशि, उद्योग-धन्धों एवं व्यापार का प्रश्न है तैमूर के आक्रमण ने इसे भयंकर आघात पहुंचाया। फिर भी, यह माने तो मानना ही होगा कि बलबन व अलाउद्दीन खिलजी जैसे शासकों ने जो नीतियां अपनाई वे तत्कालीन युग की दृष्टि से उनकी सल्तनत के हित में थीं।

सल्तनत कालीन समाज

सल्तनत काल (1200–1526 ई.) में भारतीय समाज दो वर्गों में विभक्त था। एक वर्ग शासक था और दूसरा शासित वर्ग था। मुस्लिम वर्ग, हिन्दू वर्ग की पूर्ण उपेक्षा करता था और सरकार भी हिन्दुओं का पक्ष न लेती थी और न उनकी सुख सुविधाओं की ओर कोई ध्यान देती थी।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना होने के बाद कुछ वर्षों तक ऐसे मुसलमानों की संख्या बहुत कम रही, जिन्होंने अपना धर्म त्यागकर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया हो, परन्तु ज्यों-ज्यों मुस्लिम सत्ता की जड़ें मजबूत होती गई, त्यों-त्यों ऐसे मुसलमानों की संख्या में वृद्धि होने लगी। जिन हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया वे ज़नव मुस्लिम अथवा भारतीय मुसलमान कहलाए जाने लगे, परन्तु इनको न तो विजेताओं के वर्ग में सम्मिलित किया गया और न ही सामाजिक तथा आर्थिक विशेषाकार प्रदान किये गये। सम्पूर्ण सल्तनत युग में केवल छमाद-उल-मुल्क को छोड़कर किसी भी भारतीय मुसलमान को राज्य के उच्च पद पर नियुक्त नहीं किया गया। बलबन रक्त की बुद्धता पर विशेष बल देता था, इस कारण उसने किसी भी ज़नव मुस्लिम को उच्च पद पर नियुक्त नहीं किया। इल्तुतमिश भारतीय मुसलमानों को घरेलू की दृष्टि से देखता था इस काल में छमामुद्दीन रेहान ही एक ऐसा ज़नव मुस्लिम था, जिसे नसिरुद्दीन महमूद ने कुछ समय के लिए अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त कर दिया था। इतिहासकार, जियाउद्दीन बरनी ने अपनी पुस्तक प्तारीख-ए-फिरोजशाही में उसके विषय में लिखा है – शाज्य के अमीर तथा कर्मचारी सब बुद्ध तुर्की रक्त के थे और उच्च वंश के ताजिक थे किन्तु इमामउद्दीन रेहान एक हिजड़ा और नपुंसक था। इसके अतिरिक्त वह हिन्दुस्तान की जातियों से उत्पन्न हुआ था, फिर भी वह इन सब अमीरों पर शासन करता था। वे इस अवस्था से तंग आ गये थे और अधिक समय तक इसे सहन नहीं कर सकते थे।

अलाउद्दीन खिलजी ने कुछ भारतीय मुसलमानों को उच्च पद प्रदान किये थे, परन्तु फिरोज तुगलक ने किसी नव मुस्लिम को ऐसे पद पर नियुक्त नहीं किया जिससे वह राज्य की नीति

भारत का इतिहास

को निर्धारित रू कर सकता। डॉ. आषीर्वादी लाल श्रीवास्तव का मत है कि फिरोज ने सर्वप्रथम ख्वाजाजहां को जा ब्राह्मण

मुसलमान हुआ था, प्रधानमंत्री बनाया।

से

इस प्रकार दिल्ली सुल्तानों ने नव मुस्लिमों या भारतीय मुसलमानों को विशेष महत्व नहीं दिया।

(प) जाति प्रथा – मुसलमानों के समान ही इस युग में हिन्दुओं में जाति के सम्बन्ध में संकीर्णता आ गयी। सल्तनत काल में जाति व्यवस्था का स्वरूप आधुनिक समय के समान हो गया। वंश परम्परा के अनुसार व्यक्तियों का व्यवसाय निश्चित होने लगा था। समाज में खान-पान, धार्मिक विश्वास, भौगोलिक स्थिति, विवाह तथा संस्कार आदि में भिन्नता होने के कारण एक वर्ग के अन्तर्गत अनेक वर्ग बनने लगे। वर्णसंकरों की नवीन जातियों का प्रादुर्भाव हुआ। इसके परिणामस्वरूप षोत्र का उल्लेख बन्द हो गया और ब्राह्मणों की मिश्रा, षर्मा, आदि उनके जातियां और उपजातियां बन गई और उनमें खान-पान तथा विवाह आदि में विभिन्नता स्थापित हो गई। इस प्रकार इस युग में हिन्दू जाति व्यवस्था काफी जटिल हो गई।

(पप) हिन्दुओं की स्थिति सल्तनत काल में देश की अधिकांश जनता हिन्दू थी और देश की अधिकांश भूमि पर इन्हीं का अधिकार था। उनमें से कुछ हिन्दू आर्थिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न थे। ऐसे लोगों को बरनी ने चौधरी खुत तथा मुकदम आदि नामों से पुकारा है। देश का प्रमुख व्यापार भी हिन्दुओं के हाथों में था। लेकिन सल्तनत काल के प्रारम्भिक वर्षों में इनकी दशा कुछ अच्छी रही और बाद में इनकी स्थिति में गिरावट आने लगी। सुल्तान अलाउद्दीन के काल में हिन्दुओं की स्थिति बड़ी दयनीय ही थी। बरनी ने लिखा है, ष्वुत और मुकदमों की दशा इतनी अधिक खराब हो गई थी कि उनकी स्त्रियों को मुसलमानों के घर में कार्य करने जाना पड़ता था।

सम्पूर्ण सल्तनत काल में हिन्दुओं की दशा काफी खराब रही। उन्हें दिल्ली के सुल्तानों के कठोर दमन का शिकार होना पड़ा और अनेक हिन्दू मुसलमान बनाये गये तथा अनेकों को जान से मार दिया गया। बड़ी संख्या में हिन्दू स्त्रियों एवं बच्चों को दास बनाकर बेच दिया गया। हिन्दुओं को राजकीय पदों से वंचित रखा गया और उन पर अनेक अत्याचार किये गये। मुस्लिम सुल्तानों, अमीरों तथा सरदारों ने हिन्दू स्त्रियों को उपपलियां (रखैल बनाकर उनका खुलकर उपभोग किया। इसके परिणामस्वरूप हिन्दुओं में तम तिम का सामान्य प्रचलन हो गया।

कतिपय विद्वानों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि प्राचीन काल की अपेक्षा इस युग में हिन्दुओं की स्थिति कहीं अधिक अच्छी थी।

परन्तु उपर्युक्त मत सत्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि लगभग समस्त समकालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने हिन्दुओं की शोचनीय दशा का वर्णन किया है। उनके ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं कि हिन्दुओं के साथ दुर्व्यवहार एवं काफी अत्याचार किया गया उनके मंदिर तोड़े गए और उन्हें राजकीय पदों से सदैव वंचित रखा गया। वास्तव में सम्पूर्ण सल्तनत युग में कोई भी हिन्दू सूबेदार, मंत्री आदि राज्य के उच्च पदों पर आसीन नहीं किया गया। मुहम्मद बिन तुगलक ने अवध रतन नामक एक हिन्दू को राज्य का एक महत्वपूर्ण पद प्रदान किया, परन्तु उसे भी मुस्लिम सरदारों और अमीरों ने शङ्कयन्त्र रचकर मार डाला। दास वंश तथा खिलजी वंश में कोई भी हिन्दू राज्य का निम्न से भी निम्न पद भी प्राप्त नहीं कर सका था।

(पपप) स्त्रियों की दशा – सल्तनत युग में यद्यपि प्राचीन युग में स्त्रियों की दशा अधिक शोचनीय हो गयी थी परन्तु अभी तक स्त्रियों को समाज में एक विशेष स्थान प्राप्त था। हिन्दू समाज में स्त्रियों गृह स्वामिनी समझी जाती थी और प्रत्येक धार्मिक कार्य में उनकी उपस्थिति आवश्यक समझी जाती थी। स्त्री शिक्षा की भी व्यवस्था थी, क्योंकि इस युग में अनेक विदुषी स्त्रियों के उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ मण्डन मिश्र की स्त्री ने षंकराचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित किया था और राज षेखार की स्त्री अवन्ति सुन्दरीष ने आकृत काव्यष एवं षब्द कोशष की रचना की थी।

इस युग में उच्च परिवारों की स्त्रियाँ बुद्धिमती एवं गुणवती होती थीं। देवलरानी रूपमती, पदमावती और मीराबाई आदि हिन्दू स्त्रियाँ संगीत, नष्ट्य, कला एवं साहित्य की विशेष प्रेमी थी। मीराबाई ने कष्टण भक्ति के सुन्दर पदों की रचना की थी। इस युग में स्त्रियाँ चित्रकला, नष्ट्यकला तथा संगीतकला में दक्ष थीं।

उच्च वर्ग की स्त्रियों को ही शिक्षा प्राप्त करने की सुविधायें प्राप्त थी। ग्रामीण स्त्रियाँ प्रायः अनपढ़ होती थीं। निर्धन कृशकों की स्त्रियाँ कृशि सम्बन्धी कार्य और बच्चों की देखभाल करती थीं।

हाजी-उद-दबीर के अनुसार आक्रमण किया था, क्योंकि वहां की था। ६

मुहम्मद बिन तुगलक ने कराजल की पहाड़ियों पर इसलिये स्त्रियाँ बहुत विदुशी थीं वह उन्हें अपने अधिकार में रखना चाहता

भारत का इतिहास

मुस्लिम समाज में स्त्रियों की दशा संतोशजनक नहीं थीं। उन्हें समाज में विशेष सम्मान एवं प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। अनेक मुसलमान अपनी दासियों के साथ अनुचित सम्बन्ध रखते थे। फलतः पत्नी और दासों में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता था। मुसलमान प्रायः एक से अधिक स्त्रियाँ रखते थे। सामान्यतः मुसलमान चार स्त्रियाँ तक रखते थे। सुल्तान, अमीर तथा सरदार लोग भारी संख्या में रखे रखते थे।

मुस्लिम समाज में पर्दे की कठोर प्रथा थी। फिरोज तुगलक ने स्त्रियों की स्वतंत्रता पर अनेक प्रतिबन्ध दिये थे। फतुहाते फिरोजशाही से ज्ञात होता है कि उसने स्त्रियों को सन्तों की मजारों पर जाना निषेध कर दिया था, क्योंकि वहाँ उनको पतित करने के लिए अनेक चरित्रहीन व्यक्ति भी जाया करते थे।

हिन्दू स्त्रियों की अपेक्षा मुस्लिम स्त्रियों को अधिक सुविधायें प्राप्त थी। उन्हें विधवा विवाह करने का अधिकार था। तलाक प्रथा भी प्रचलित थी। मुसलमानों में सती प्रथा नहीं थी। स्त्रियों को पिता की सम्पत्ति का भाग मिलता था।

मुसलमान स्त्रियाँ घर पर ही शिक्षा ग्रहण करती थीं। कुछ स्त्रियाँ विदुशी भी थीं। रजिया सुल्ताना ने तो कुछ वर्षों तक दिल्ली में शासन भी किया था।

(पअ) सामाजिक प्रथायें

(अ) बहु-विवाह प्रथा

सल्तनतकालीन हिन्दू समाज में अनेक कुप्रथायें प्रचलित थी। यथा—

हिन्दू वर्ग के उच्च परिवारों में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। स्त्रियों को भोग-विलास की वस्तु समझा जाता था। अनेक स्त्रियाँ होने के कारण उनमें पारस्परिक ईर्ष्या एवं द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती थी, जिससे पारिवारिक जीवन कष्टप्रद हो जाता था। स्त्रियों की प्रतिष्ठा में काफी गिरावट आ गई थी। प्रायः घर की दासी अपने रूप यौवन के कारण गरह स्वामी के हृदय पर विजय प्राप्त कर लेती थी और गृह की वास्तविक स्वामिनी तक बन जाती थी।

विधवाओं का जीवन बड़ा दुःखमय था। वे सन्यासियों के समान जीवन व्यतीत करती थीं। उन्हें पुनर्विवाह करने की अनुमति नहीं थी। इस युग में पर्दे की प्रथा कठोर होने लगी थी और निम्न वर्गों में सामान्यतरु बहु-विवाह प्रथा प्रचलित हो गयी थी।

(ब) सती प्रथा — सल्तनत युग में सती प्रथा का प्रचार था, परन्तु यह प्रथा अधिकांशतः राजपूतों में प्रचलित थी। इस युग में जब स्त्रियाँ अपने पति की हत्या के बाद अग्नि में प्रविष्ट हो जाती थीं। जब स्त्री अपने पति के मृत शरीर के साथ अग्नि में प्रवेश करती, उसे सहमरण कहते थे। किसी-किसी राजा की एक से अधिक स्त्रियाँ होती थी। ऐसे स्थिति में पटरानी राजा के मृत शरीर के साथ जलती थी और स्त्रियाँ एक पथक अग्नि कुण्ड में जलकर भस्म हो जाती थीं।

झुन्नबतूता ने अपनी पुस्तक में एक स्त्री के सती होने की घटना का इस प्रकार वर्णन किया है। सती स्त्री ने अपने पति की मृत्यु का समाचार सुनकर सर्वप्रथम स्नान किया और उसके बाद उत्तम वस्त्र एवं बहुमूल्य आभूषण धारण करके सती होने के स्थान पर गई। ब्राह्मण

तथा अन्य सम्बन्धी उसके साथ थे। स्त्री अपने दाहिने हाथ में एक नारियल और बायें हाथ में एक षीषा लेकर घोड़े पर सवार होकर गई। एक छायादार वृक्ष के नीचे से संगीत के साथ जुलूस चला। सती होने के स्थान पर पानी का एक तालाब और एक प्रतिमा थी। तालाब के निकट विषाल अग्नि थी। छायादार वृक्षों की ओट में सती ने तालाब में स्नान किया तथा अपने प्रत्येक बहुमूल्य वस्त्र एक-एक करके अग्नि को भेंट किये। इसके पश्चात् उसने बिना सिला हुआ कपड़ा अपने शरीर पर डाला और अग्नि की प्रार्थना करके उसमें प्रविष्ट हो गयी। इसी समय वाद्ययन्त्र बजने लगे। अन्य लोगों ने जलती हुई स्त्री पर भारी लठ्ठे रख दिये ताकि वह भाग न सके। मैं इस भीषण दृश्य को देखकर बेहोष हो गया और यह न देख सका कि उसके पश्चात् क्या हुआ?७

इस विवरण का देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय हिन्दुओं में सती प्रथा समाज का एक अभिषाप थी। उस समय हिन्दुओं की सामान्य धारणा यह थी कि सती होना स्त्री का प्रमुख धार्मिक कर्तव्य है यदि कोई विधवा अपने पति के साथ सती होती थी तो उसे आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

सती प्रथा को रोकने के लिए भी इस युग में सुल्तानों ने कुछ प्रयास किया। झुन्नबतूता७ की षहेला से पता चलता है कि जिस स्त्री को सती होना होता था, उसके परिवार के सदस्यों को सुल्तान से लिखित अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी। इसमें इतना अवश्य होता था कि कोई स्त्री अपनी इच्छा के विरुद्ध सती नहीं हो सकती थी। लेकिन सामान्यतः सुल्तान अनेक तर्कों के आधार पर सती होने की अनुमति दे दिया करते थे।

(स) जौहार प्रथा इस युग में राजपूत वर्ग में जौहर प्रथा प्रचलित थी। जब कभी ऐसी स्थिति में होती कि किले का पतन निश्चित है तो राजपूत स्त्रियाँ अपने सतीत्व की रक्षा के लिए अग्नि कुण्ड जलकर भस्म हो जाती थी। यही जौहार प्रथा थी। सल्तनत युग में जौहार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। रणथम्भौर के वीर राजपूत राजा हम्मीर देव ने अलाउद्दीन खिलजी की सेना का काफी दिनों तक सामना किया और जब किले के बचने की कोई आशा न रही तो उसकी रानियों ने जौहार किया। झुन्नबतूता७ ने अपनी पुस्तक षहेला७ में जौहार की घटना का निम्न षब्दों में वर्णन किया है – षाजद्रोही बहाउद्दीन गुस्ताप को षरण देने के कारण सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने कम्पिला के राजा पर आक्रमण किया जब राजा ने देखा कि विजय की कोई आशा नहीं है तो सर्वप्रथम उसने षरणार्थी राजा को महल से निकालकर सुरक्षित स्थान पर भिजवाया और उसके पश्चात् उसने विषाल अग्नि प्रज्ज्वलित करने का आदेश दिया और कहा कि मेरे मन में मृत्यु वरण करने का विचार है, जो मुझे चाहते हैं, मेरे समान कार्य करें – यह सुनकर प्रत्येक स्त्री ने जौहार करने का निश्चय किया और शरीर पर चन्दन का लेप किया। इसके पश्चात् वे अग्नि में प्रविष्ट हो गयीं। मन्त्रियों तथा राज परिवारों से सम्बन्धित स्त्रियों ने उनका अनुसरण किया। राजा और उसके साथियों ने स्नान करके चन्दन का लेप किया और हथियार लेकर मैदान में आ गये और उस समय तक युद्ध हुआ जब तक प्रत्येक सैनिक मर नहीं गया। इसी प्रकार के जौहार के अनेक उदाहरण इस काल में मिलते हैं।

(द) खान-पान – सल्तनत युग में अधिकांश हिन्दू निरामिश भोजन करते थे। हिन्दुओं में जीव हत्या करना घोर पाप समझा जाता था, परन्तु क्षत्रिय लोग मांस, मछली आदि का प्रयोग भी करने लगे थे। भोजन बनाने की कला की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। उत्सवों और त्यौहारों पर घरों में रुचिकर तथा नाना प्रकार व्यंजन बनाये जाते थे। दूध, घी, मक्खन बहुतायत से प्रयुक्त किया जाता था। मदिरा तथा अन्य मादक द्रव्यों का सेवन तेजी से बढ़ रहा था। चरित्रहीन और विलासी व्यक्ति सुरा व सुन्दरी में लिप्त रहते थे। मुसलमानों में मांस खाने का विशेष प्रचलन था, परन्तु सूफी मत के अनुयायी मांस तथा मदिरा का प्रयोग नहीं करते थे।

(य) वस्त्र एवं आभूषण – इस युग में नाना प्रकार के वस्त्रों का प्रचलन था। लोग ऊनी, सूती और रेशमी सभी प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। मुस्लिम वर्ग के उच्च परिवारों तथा राजपूतों के यहाँ विभिन्न रंगों के रेशमी वस्त्रों का प्रयोग होता था। वस्त्रों पर सुन्दर कढ़ाई और जरी का भी काम होता था। साधारण जनता सूती किन्तु सजावटयुक्त वस्त्र धारण करती थी।

इस काल में धनी और निर्धन दोनों ही आभूषणों का प्रयोग करते थे, परन्तु अलाउद्दीन के काल में हिन्दू अधिकांशतः आभूषणहीन हो गये थे। राज परिवार के सदस्य तथा अन्य लोग रत्न जड़ित आभूषण धारण करते थे। शरीर के प्रत्येक अंग में आभूषण पहने जाते थे। स्त्रियाँ नाक तथा कानों में सुन्दर आभूषण धारण करती थीं। पुरुष (राजपूत) कुण्डल तथा माला आदि पहनते थे।

०%

(२) मनोरंजन के साधन इस युग में विभिन्न प्रकार के उत्सव एवं त्यौहार मनोरंजन के प्रमुख साधन थे, परन्तु हिन्दुओं को धूम-धाम से त्यौहार मनाने की आज्ञा नहीं थी। अलाउद्दीन तथा फिरोज तुगलक ने हिन्दुओं के अनेक त्यौहारों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। अमीर वर्ग के लोग संगीत, नृत्य, नाटक आदि से अपना मनोरंजन करते थे। आखेट, जुआ, पशु-युद्ध आदि भी मनोरंजन के मुख्य साधन थे। निम्न वर्ग के लोग कुष्ती, मल्ल—युद्ध तथा नटों के खेलों से अपना मनोरंजन किया करते थे। इस प्रकार इस युग में मनोरंजन के विभिन्न साधन उपलब्ध थे।

सल्तनत काल में दरबारी वर्ग रु संगठन एवं राजनीति

मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था एवं राजवंशों के उत्थान व पतन में अमीर वर्ग का सक्रिय योगदान था। भारत पर तुर्क विजय के परिणामस्वरूप जहाँ एक तरफ राज्य के स्वरूप में परिवर्तन आया, वहीं दूसरी ओर नवीन शासक वर्ग (अमीर) की सुश्रुति हुई जो अपने उद्भव के प्रारम्भ में जातीयता व धर्म का आधार लिए हुए था। पूर्ववर्ती शासक वर्ग का अपदस्थ होना इस प्रक्रिया का स्वाभिमान परिणाम था। जिन स्थानीय शासकों ने पराजय के पश्चात् तुर्क प्रभुत्व स्वीकार कर लिया तथा विजेता शासकों को पेशकष देना आरम्भ कर दिया था, उसके स्थानीय भूमिगत अधिकारों पर प्रत्यक्षतः कोई अंकुष नहीं रखा गया तथापि उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में गिरावट आना अनिवार्य था। तुर्की सुल्तानों द्वारा रचित अमीर वर्ग का स्वरूप एवं संगठन समय के साथ परिवर्तित होता रहा।

सामान्यतः इस नये शासक वर्ग का व्यक्ति अपने सेवाकाल का प्रारम्भ सुल्तान अथवा अन्य अमीरों के गुलाम के रूप में करता था तथा अपनी योग्यता व शासकीय अनुकम्पा से विभिन्न पदों पर कार्य करने के पश्चात् ही उसे अमीर वर्ग में शामिल किया जाता था। यहां यह उल्लेखनीय है कि अमीर शब्द एक उच्च सैनिक व शासक पद के लिए योग्य होने के साथ ही इस शब्द का प्रयोग शासक वर्ग की पहचान के सन्दर्भ में भी किया जाता था। इसके अन्तर्गत खान, मलिक व अमीर आते थे। मूलतः यद्यपि खान, मलिक व अमीर की पदवियां सैनिक पदों की श्रेणियों को अंकित करती थीं, किन्तु इसके साथ ही ये सामाजिक प्रतिष्ठा, आर्थिक साधनों का उपयोग व प्रशासनिक अधिकारों की द्योतक भी थीं। खान, मलिक व अमीर को ही शासक वर्ग में समाविष्ट करने का औचित्य यह था कि इस श्रेणी के अधिकारी ही सुल्तान तक पहुंच रखते थे।

नवागन्तुक एवं स्थानीय अमीरों ने मिलकर सल्तनतकालीन अमीर वर्ग का गठन किया। तुर्क अमीर वर्ग को दो प्रमुख समूहों में विभक्त किया जा सकता है— प्रथम उलेमा एवं द्वितीय अमरा। यद्यपि इस समूहों के अतिरिक्त अमीरों के छोटे समूह भी थे, किन्तु प्रतिष्ठा व प्रभाव की दृष्टि से यह समूह उक्त समूहों की तुलना में नाममात्र का था, अतः के. एम. अषरफ ने इन्हें महत्वहीन कहकर अध्ययन से परे रखा है। वस्तुतः कुलीन वर्ग के अध्ययन के अन्तर्गत इस निम्न श्रेणी के लोगों को महत्वपूर्ण न समझना पूर्णतः उचित प्रतीत नहीं होता।

दिल्ली सल्तनत में अमीरों का वर्ग सर्वाधिक शक्तिशाली था जिसने भारत में तुर्क विजय को सफल बनाया। वास्तव में तुर्क अमीरों का गौरी अमीरों के विरुद्ध श्रेष्ठता यल्दोज द्वारा प्राप्त की गई (गजनी के पास) विजय से हो प्रमाणित हो गयी थी। तुर्क – अमीरों का जीवन सुल्तान अथवा अन्य अमीरों गुलाम के रूप में प्रारम्भ हुआ तथा अपनी स्वामिभक्ति व योग्यता के आधार पर उन्होंने अमीर पद को प्राप्त किया। अमीरों के व्यक्तिगत पद एवं दरबार में प्राप्त प्रतिष्ठा (स्थान) का निर्धारण, इत्ता, मरातिब तथा उपाधि के आधार पर होता था। वस्तुतः अमीर का पद एवं इत्ता वंशानुगत नहीं था वरन् सुल्तान की इच्छानुसार इसे छीना व कम-अधिक किया जा सकता था। अमीर का राज्य सेवा से अलग हटकर कोई अधिकार नहीं था, उसे या तो स्वामिभक्ति अथवा विद्रोही की स्थिति में जीना पड़ता था।

यद्यपि उलेमा वर्ग को अमीर वर्ग का भाग माना जाता था, तथापि इस वर्ग की कार्य-पद्धति के स्वरूप के आधार पर इसे अमीर वर्ग के अन्तर्गत मानना सतसंगत नहीं है। राजनीति में हिस्सा लेना उलेमा का प्रधान न होकर गौण कार्य था और सामान्यतः ताज व अमीरों के मध्य संघर्ष में ये शक्तिशाली वर्ग को अपना समर्थक प्रदान करते थे।

अमीर वर्ग का संगठन

11.

प्रो. मोहम्मद हबीब के कथन में काफी सत्यता है कि प्रारम्भिक चरण में भारतीय, तुर्क गुलाम शासक वर्ग एक सामुदायिक परिवार के रूप में था। कपितय खजली व ताजिक अमीरों को छोड़कर इस वर्ग के अधिकांश सदस्य तुर्क थे। तुर्क अमीरों को चूंकि मुहम्मद गौरी का



संरक्षण प्राप्त था अतः उन्हें हिन्दुस्तान के सर्वाधिक उपजाऊ प्रदेश प्रदान किये गये, जहां वे अपनी सत्ता को सुदृढ़ कर सकते थे। इसके विपरीत खिलजी अमीरों की नियुक्ति आसाम, बिहार व बंगाल जैसे दूरस्थ क्षेत्रों में की गयी और इस तरह उन्हें राजनीति के प्रमुख केन्द्र से दूर धकेल दिया गया। यह जातीय संरचना तुर्क अमीर वर्ग की महत्वपूर्ण विशेषता रही।

1. तुर्क अमीर – महत्व की दृष्टि से इल्बरी तुर्की अमीर वर्ग के बाद ताजिक अमीरों का स्थान था जिसके सदस्य दरबार में महत्वपूर्ण पद प्राप्त किये हुए थे। मध्य एशिया में मंगोल अतिक्रमण के कारण कुलीन वंश के बहुत से युवराज (षहजादे) तथा अमीर परिवार के लोग हिन्दुस्तान में आकर बस गये जहां इल्तुतमिश एवं उसके अन्तराधिकारियों ने उन्हें सम्मानित पद प्रदान किए। इतिहासकार मिन्हाज-ए-सिराज ने उन ताजिक अमीरों के नामों का उल्लेख किया है जो इल्तुमिश के शासन में सेवारत थे। रुकनुद्दीन के शासक काल में अन्य ताजिक अमीर उच्च पदों पर प्रतिष्ठित थे।

2. पेशकषी अमीर – पेशकषी अमीरों की संख्या काफी बड़ी थी ये दरबार में उपस्थित रहते थे, परन्तु इनका राजनीतिक क्रिया-कलाप प्रभावहीन था। बलवन ने हिन्दू पेशकषी अमीरों के क्षेत्रों में हस्तक्षेप नहीं किया, यद्यपि दरबार में उनका प्रभाव बहुत कम था। कैकूबाद के शासनकाल में पेशकषी राजाओं की संख्या भी काफी अधिक थी।

3. ऐबीसीनियायी अमीर अमीरों में अन्य महत्वपूर्ण वर्ग ऐबीसीनियाई अमीरों का था वस्तुतः सुल्तान रजिया के शासनकाल में ऐबीसीनियाई अमीर प्रभुत्व में आये। जमालुद्दीन याकूत की हत्या इस तथ्य को स्पष्टतः प्रमाणित करती है कि इल्बारी तुर्क- अमीर वर्ग आसानी से अपने वर्ग से बाहर के व्यक्ति के सल्तनत के साथ सम्पर्क को स्वीकार की नहीं कर सकते थे। याकूत की हत्या के पश्चात् कुछ समय के लिए ऐबीसीनियाई गुट का प्रभाव कम हो गया था।

4. नव- मुस्लिम – इल्बरी तुर्की के शासनकाल में नव- मुस्लिम धर्म परिवर्तित मंगोलों का भी महत्वपूर्ण स्थान था तथा शासनकाल के अन्तिम वर्षों में इनका प्रभाव और बढ़ गया था। कैकूबाद के शासनकाल में मंगोल मुसलमानों को अनेक महत्वपूर्ण पद प्राप्त थे। वस्तुतः इल्बारी अमीर नव मुस्लिम अमीरों से द्वेष रखते थे तथा उन्होंने अनेक अमीरों को मरवा डाला था।

5. अफगान अमीर इल्बारी शासनकाल में अफगान अमीरों का भी समावेश हुआ। पृथ्वीराज चौहान के विरुद्ध मुहम्मद गौरी द्वारा संचालित सेना में अफगान दल की संख्या बारह हजार बताई गयी है। अफगान दल का नेता मलिक महमूद लोदी था, जिसके भाई मलिकषाह को भी गौरी का आश्रय प्राप्त था। मुहम्मद गौरी ने स्यालकोट की नींव डालने के पश्चात् इसे बसाने को कार्य मलिक शाह को सौंपा था। लोदी की सत्ता का प्रारंभ इसी समय से माना जाता है। कुतुबुद्दीन ऐबक ने भी अफगानों को संरक्षण प्रदान किया तथा अनेक अफगानों को अमीर पद पर नियुक्त किया। वस्तुतः इल्तुमिश के शासनकाल से लेकर बलबन के सिंहासनारुढ़ होने तक अफगानों को कोई विशेष महत्व नहीं मिला था किन्तु बलबन के शासनकाल में इनकी शक्ति एवं प्रभाव में काफी वृद्धि हुई।

वस्तुतः

तेहरवीं शताब्दी में अमीर वर्ग में गैर-तुर्क अमीरों का समावेश हो गया था, पर तुर्क अमीरों का स्थान सर्वोच्च बना रहा और वे ही सही अर्थों में शासन वर्ग का निर्माण करते थे।

6. खिलजीकालीन अमीर वर्ग – अमीर वर्ग का गठन जातीय आधार पर खिलजी काल में आकर काफी कमजोर हो गया था। जलालुद्दीन खिलजी ने बलबनकालीन अमीर वर्ग के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई, तथापि महत्वपूर्ण पदों का बंटवारा उसने खलजियों में किया, जिनमें अधिकांश उसके सम्बन्धी थे। पुरातन इल्बारी अमीर वर्ग ने विद्रोह के रूप में अनेक बार अपनी असन्तुष्टि का प्रदर्शन किया, परन्तु योग्य नेतृत्व व संगठन के अभाव में उन्हें असफलता का ही मुंह देखना पड़ा।

उलालुद्दीन के अल्प शासनकाल में नव-मुसलमानों को बड़ा आश्रय प्राप्त हुआ। वास्तविकता यह है कि बहुत से नव-मुसलमान, जो बलबन के शासनकाल में पदों पर असीन थे उन्हें यथावत् रखा गया, किन्तु ये अधिकांशतः जलालुद्दीन के शासन के द्वितीय वर्ष में शामिल हुए। चंगेज खां के पौत्र अब्दुला ने 1291-92 में हिन्दुस्तान विजय के लिए कूच किया, परन्तु उसके जलालुद्दीन के बीच सेनापति के साथ सम्पन्न किया। बहुत से मंगोल इस्लाम स्वीकार करने के पश्चात् दिल्ली में बस गये थे। सुल्तान जलालुद्दीन ने उनका वेतन निश्चित किया तथा इत्ता व इनाम के रूप में उन्हें गांव प्रदान किये। इन्द्रप्रस्थ तथा नव – मुसलमानों अमीरों ने जलालुद्दीन खिलजी के शासनकाल में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

अलाउद्दीन ने इस व्यवस्था की कमजोरी व शक्ति की जानकारी ठीक तरह से प्राप्त कर ली थी तथा बलबन की ततरह ऐसे किसी गुट को समाप्त करने की चेष्टा की जिसने उसका विरोध किया। उसने केवल इल्बारी अमीरों को ही नहीं कुचला अपितु जलालुद्दीन खिलजी के प्रति समर्पित सम्पूर्ण

जमत

खिलजी गुट को भी समाप्त कर दिया। इस्लाम में परिवर्तित हिन्दू जो अलाउद्दीन के शासनकाल में ऊंचे से ऊंचे पदों पर आसीन हो रहे थे, अमीर वर्ग में बड़े शक्तिशाली दल के रूप में विकसित हो गये थे। मलिक नायब काफूर हजार दिनारी, खुसरों खां, मलिक शाहिन (नायब बारकबक), मलिक एक लखी एवं मलिक अहमद झितम का जीवन इस बात को प्रमाणित करता है कि इस्लाम में परिवर्तित हिन्दू अमीरों का जीवन गुलाम की स्थिति से

भारत का इतिहास

प्रारम्भ हुआ था। वास्तव में अलाउद्दीन ने अपने खिलजी अमीरों की शक्ति पर अंकुश रखने के लिए अमीरों के इस नवीन वर्ग को प्रोत्साहन दिया था।

•

इतिहासकार बरनी ने जलालुद्दीन के अमीरों में ऐसे कई नामों का उल्लेख किया है जो विदेशी थे तथा भारत में बस गये थे। परन्तु यह सन्देहास्पद है कि इन अमीरों ने किसी शक्तिशाली गुट का निर्माण किया हो। इसके कारण स्पष्ट है। एक शताब्दी के तुर्क शासनकाल के दौरान ऐसे बहुत से कुलीन परिवारों को

उद्भव हो

चुका था सिजके पास प्रशासन में उच्च पद प्राप्त करने के बहुत से अवसर थे क्योंकि वे अपने समर्थन में काफी महत्वपूर्ण साधन जुटा सकते थे।

अफगानों जिन्होंने शासन में अपना प्रभाव स्थापित करने की ओर कदम रखा था, ने खिलजी शासकों के अन्तर्गत और भी प्रगति की। अलाउद्दीन खिलजी ने इन्हें अपने अमीर वर्ग में प्रवेश दिया। अफगान अमीरों में सबसे प्रमुख मलिक इरिख्तयारुद्दीन यल अफगान था। वह सुल्तान मुबारकशाह के शासनकाल तक प्रतिष्ठित पद पर बना रहा तथा खुसरों खां के नेतृत्व में बाबर के विरुद्ध अभियान में उसने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

7. तुगलकालीन अमीर वर्ग

तुगलक शासन के प्रारम्भ होने के साथ ही नस्ल व जातीयता का सिद्धान्त पूर्णतः समाप्त हो गया क्योंकि ऐसे बहुत से शक्तिशाली तत्व कार्य कर रहे थे जो किसी एक वर्ग को सर्वशक्तिशाली होने देना नहीं चाहते थे। सर्वप्रथम स्वयं तुगलक हिन्दुस्तान के लिए नए थे तथा खिलजी शासन से पूर्व कुलीन वर्ग में मुश्किल से इनका कोई स्थान था। द्वितीय, तुलक शासक का खिलजी अमीरों पर निर्भर होना आवश्यक था, क्योंकि उन्हें सत्ता में लाने के लिए खिलजी अमीरों ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया था। मुहम्मद-बिन-तुगलक ने विदेशियों, हिन्दू, मंगोल, अरब व खुरानियों को काफी प्रोत्साहन दिया था परन्तु स्वयं के विरुद्ध संगठित होने का उन्हें अवसर प्रदान नहीं किया। इस नीति के परिणामस्वरूप मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के समय उसका अमीर वर्ग मंगोलों, अफगानों, हिन्दुस्तानी आदि विभिन्न जाति के लोगों से संगठित था। इन सभी ने फिरोज तुगलक को सर्वसम्मति से मुहम्मद तुगलक के उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकृति प्रदान की। फिरोज ने अमीरों की इस स्वामिभक्ति को उचित इनाम देकर सम्मानित किया। उसने सच्चे अर्थों में बहुजातीय अमीर वर्ग के संगठन को स्वीकृति प्रदान की। उसके सौभाग्य से इस व्यवस्था ने सुचारु ढंग से कार्य किया। ये अमीर स्वामिभक्तिपूर्वक प्रशासनिक व सैनिक कर्तव्य को निहारते रहे तथा अपने स्वों से अधिक राज्य हितों को महत्व दिया। इस तरह के सुल्तान फिरोज तुगलक के शासनकाल में नस्ल व जातीयता, जो अमीर वर्ग के निर्णायक तत्व थे का स्थान ताज के प्रति स्वामिभक्ति ने ले लिया था।

८. वंशानुगतता का सिद्धान्त

यह हिन्दुस्तान के लिए नवीन नहीं था तथा जातीय रूढ़िवादिता के कारण यह मुस्लिम पद्धति के अन्तर्गत स्वीकृति सिद्धान्त से अधिक दृढ़ था। इल्तुतमिश के शासनकाल के दौरान जिसे इतिहासकार षषक्त की सफलता के सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत करते हैं, अमीरों के उच्च पद पर पहुंचने के लिए वंशानुगत तत्व को प्रमुख स्थान दिया गया। इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों ने वंशानुगत सिद्धान्त को इज्जत नहीं दी किन्तु बलबन के शासनकाल में वंशानुगत सिद्धान्त को प्रमुख महत्व प्राप्त हुआ। बलबन ने वंश परम्परा को अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्रदान किया वह स्वयं को फरिष्टाई शासन अफरेसियाब का वंशज बताता था। बलबन स्वयं निम्न वंश से सम्बन्ध रखता था, अतः उसने इस सिद्धान्त को अद्वितीय महत्व प्रदान किया जिससे वह अमीरों के मध्य अपने को उच्च वंश का होने के तथ्य के प्रति विश्वास पैदा कर सके।

+

खिलजी एवं तुगलक शासनकाल के दौरान उच्च राजनीतिक एवं धार्मिक पदों के लिए वंशानुगतता एवं योग्यता को आधार माना गया। इसका प्रमुख कारण यह था कि दोनों में से किसी भी वंश के सुल्तान गुलाम नहीं थे। परन्तु एक षताब्दी के गुलाम वंश के शासनकाल में वंशानुगत अमीर वर्ग का निर्माण हो

गया था, जो आर्थिक लाभ प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते थे। अपनी स्थिति में इनके बीच आपसी संघर्ष भी उत्पन्न हो जाते थे। फिरोज तुगलक के शासनकाल में बहुत से पुराने अमीरों एवं उनके पुत्रों को इक्ता एवं उच्च पद प्राप्त हुए। इस प्रकार इस काल में आकर वंशानुगत अमीरों को एक विषिष्ट वर्ग बन गया।

सल्तनतकाल में अमीर वर्ग की रचना एवं पुनर्रचना होती रही। अमीर वर्ग के संगठन के निर्माण में वंशानुगत एवं सुल्तान की अनुकम्पा से रचित अमीरों को अधिपत्य रहा। वस्तुतः अमीरों के इस संगठन में व्यापारी, पेशकषी, जमींदार तथा राय एवं विद्वान लोगों का एक बड़ा वर्ग शामिल नहीं था। यद्यपि दरबार में इनको कोई प्रतिष्ठा का पद प्राप्त नहीं था, किन्तु अपने धन के बल पर तथा विद्वता की उपलब्धियों के आधार पर समाज में इनका महत्वपूर्ण प्रभाव था। धनाढ्य व्यापारी वर्ग व विद्वान अपनी उपलब्धियों के बावजूद दरबार में प्रभावपूर्ण पद नहीं प्राप्त करते थे, तथापि समाज में तथा विशेषकर कुलीन वर्ग में इनकी प्रतिष्ठा थी। धनाढ्य व्यापारी वर्ग सुल्तान का पक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। जिससे समाज में उसके प्रतिष्ठा प्राप्त हो सके। ब्राह्मणों एवं ठाकुरों में जो धनाढ्य थे, उन्होंने अमीरों

भारत का इतिहास

की तरह रहन-सहन का ढंग अपना लिया था, किन्तु व्यावहारिकता में इन्हें अमीर वर्ग का सदस्य नहीं कहा जा

सकता।

६. दरबारी वर्ग तथा इक्ता

राज्य द्वारा प्राप्त राजस्व अमीरों में विभक्त किया जाता था। इन क्षेत्रीय इकाइयों को इक्ता तथा प्राप्त करने वाले को मुक्ता अथवा इक्तादार कहा जाता था, यह उल्लेखनीय है कि इक्ता व्यवस्था के स्वरूप – परिवर्तन का अमीर वर्ग की संरचना से सीधा सम्बन्ध था। प्रथम चरण में अमीर वर्ग की संरचना तुर्की मूल के गुलामों एवं उनके परिवार तक सीमित थी जिसे जियाउद्दीन बरनी ने फ़्लुतमिष के चालीस अमीरों की सज़ा दी है। किन्तु अलाउद्दीन की राजषाही निरंकुषता के अन्तर्गत अमीर वर्ग की संरचना के स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पुराने अमीर वर्ग को समाप्त कर दिया गया। ज़नोदित भारतीय तथा विदेशी अगान्तुकों ने राजकीय तंत्र में अपनी प्रधानता स्थापित की। इस तरह अलगाव की समाप्ति के साथ ही अमीर वर्ग का स्थिर स्वरूप भी समाप्त हो गया। मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में बड़ी संख्या में विदेशियों की प्रशासन में भर्ती की गयी। वास्तव में इस तरह के कार्य का उद्देश्य पुराने अमीर वर्ग का अस्तित्व समाप्त करना था।

अमीर वर्ग की संरचना में इतना परिवर्तन इक्ता व्यवस्था की प्रकृति के कारण संभव था। अमीर वर्ग का कोई भी सदस्य किसी भी क्षेत्र—विशेष पर अपना व्यक्तिगत दावा नहीं रखता था। क्षेत्र विशेष पर उसका अधिकार होना और उससे उसे हटाना जाना सुल्तान की इच्छा पर निर्भर करता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सुल्तान द्वारा इन अधिकारों को अपने पास केन्द्रित करने का स्वभाविक परिणाम उसके अधिकारों में असीमित शक्ति का निहित होना था। फिरोज के शासनकाल में इस भावना की पूर्ण प्रधानता थी। उसने सार्वजनिक रूप में सरकारी पदों के लिए वंशानुगत नीति को अपनाने की घोषणा की। बड़ी संख्या में गुलामों को भर्ती करने की नीति के कारण सभी नवीन तत्त्वों को अमीर वर्ग से अलग रखा गया। अमीर वर्ग के लोगों के अधिकारों को पूर्णतः सुरक्षित करने की ओर लोदी शासनकाल में सर्वाधिक प्रगति हुई। लोदी शासनकाल में अफगान प्रजातीय मुखियाओं ने अमीर वर्ग को निर्माण किया जिसका सम्बन्धित क्षेत्र पर वंशानुगत अधिकार था। वास्तव में, अफगान अमीरों का सुल्तान के प्रति सम्बन्ध एवं अपने अधिकृत क्षेत्रों पर वंशानुगत अधिकार राजपूतकालीन शासन नीति का स्मरण कराता है।

चूंकि इक्तादारों का क्षेत्र – विशेष पर अधिकार अस्थायी होता था, अतः वे किसी भी ग्रामीण क्षेत्र पर अपनी सत्ता को केन्द्रित नहीं कर सकते थे। अधिकांश धामीर अपना स्थायी मुकाम राजधानी दिल्ली में अथवा बड़े नगरों में रखते थे जो उनकी इक्ताओं से दूर होता था। इन परिस्थितियों में यह स्वाभाविक था कि वह अपने क्षेत्र का भू-राजस्व नकदी में वसूल करे। अलाउद्दीन खलजी ने वस्तु के रूप में राजस्व के रूप में प्राप्त अनाज को निश्चित मूल्यों पर खलियान से ही महाजन को बेच देने की व्यवस्था की। चूंकि किसान की बचत राजस्व के अधिकांश भाग की सश्लिष करती थी, अतः कस्बों एवं गांवों के बीच व्यापार का विस्तार हो गया जिसे व्यावहारिक रूप देने के लिए अनाज के व्यापारियों की एक जमात बन गई व मध्कालीन अर्थतन्त्र के विभिन्न पहलुओं का नियन्त्रण व्यापारी वर्ग के हाथों में आ गया। आर्थिक विकास का यह तंत्र नगरों के विकास में बहुत ही सहायक रहा।

90. अमीर वर्ग एवं राजनीति

सल्तनत के प्रारम्भिक वर्षों से ही उमेरा (अमीर का बहुवचन) राज्य के आधार स्तम्भ थे। सुयोग्य एवं कर्तव्यपरायण अमीरों का होना सुल्तान के लिए तथा राज्य के वैभव व विकास के लिए बहुत आवश्यक सिद्ध हुआ। अमीर वर्ग की प्रतिष्ठा व महत्व को समझाते हुए षमसुद्दीन इल्तुतमिश के राज्यकाल का उदाहरण देते हुए इतिहासकार बरनी ने लिखा है – सुल्तान षमसुद्दीन ने अनेक बार सबके सामने घोशणा की थी कि मैं किस तरह खुदा के सामने अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकता हूँ, क्योंकि उसने मुझे ऐसे सहायक व मित्र प्रदान करके सम्मानित किया है जो मुझसे हजार गुना अच्छे हैं। सुल्तानों के निष्चित किये गये नियमों के अनुसार वे मेरे आगे–पीछे चलते–फिरते हैं, मेरे सामने अपना हाथ फैलाते हैं और मेरे सामने दरबार में खड़े रहते हैं। मुझे उनकी प्रतिष्ठा व सम्मान के कारण लज्जा आती है और मेरी इच्छा होती है कि राज्य सिंहासन से नीचे उतर कर उनके हाथ–पैर चू लूँ

2

सल्तनत के विस्तार एवं उसके सुदृढीकरण में अमीरों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। राज्य के प्रति समर्पित अमीर जो गुलाम वंश के सुल्तानों के वर्ग से ही सम्बद्ध थे, राज्य में अपना विषिष्ट स्थान बनाये हुए थे तथा जनसाधारण की तरह सुल्तान की इच्छा के मातहत नहीं थे। एक सुसंगठित दल के रूप में इनका उद्भव इल्तुतमिश के शासनकाल में हुआ जिसे प्वालीसा अमीरों के दल के नाम से जाना जाता है।

इल्तुतमिश का कार्यदक्षता व जागरूकता ने अमीरों को पूर्णतः नियंत्रित रखा। किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् अमीरों के बीच सत्ता प्राप्ति के लिए अन्धी प्रतिस्पर्धा आरम्भ हुई। बरनी के अनुसार इल्तुतमिश की मृत्यूपरान्त जमाये हुए थे। उनमें से कोई भी एक दूसरे के आगे न तो सिर झुकाता था और न ही दूसरे का आधिपत्य स्वीकार करता था। वे चाहते थे कि सबका अधिकार, इत्ता, प्रभुत्व एक–दूसरे के बराबर रहे। प्रत्येक अमीर अपने पुभचिन्तक को गद्दी पर बैठाकर राजसत्ता पर नियंत्रण करने का आकांक्षी था। इस तरह अलाउद्दीन खलजी ने से पूर्व ही अमीरों की शक्ति एवं उनके संगठन का उद्भव प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि बलबन ने सुल्तान बनने तक (1266 ई.) चहलगानी अमीरों के संगठन व प्रभाव को योजनाबद्ध तरीके से कुचल दिया था, लेकिन उसने अमीरों के पद एवं प्रतिष्ठा की महत्ता को समुचित स्थान दिया। बलबन ने अपने पुत्र खाने षहीद को नसीहतें दे समय इस बात से सतर्क किया था कि कोई भी साम्राज्य अमीरों के सहयोग के बिना समृद्ध नहीं हो सकता। यदि कुलीन तथा प्रतिष्ठित लोगों का अनादर करेगा तो तेरे राज्य में खराबी पैदा हो जायेगी। इस तरह बलबन अमीरों के विकास अथवा उनके अस्तित्व का विरोधी नहीं था, किन्तु अमीरों के सामूहिक संगठन का पनपना राज्यहित–विरोधी मानता था। इस नियम का उसने अपने प्रभावकाल एवं राज्यकाल में पालन किया। इस तरह एक अस्थायी अवधि तक अमीरों की शक्ति पर अंकुष लगा, किन्तु बलबन के मरणोपरान्त वे राजसत्ता पर पुनः हावी हो गये।

अलाउद्दीन ने विदेशी अमीरों के आतंक पर अंकुष रखने के उद्देश्य से भारतीय अमीरों को

भारत का इतिहास

- शासक वर्ग में शामिल किया तथा उन्हें उच्च पद प्रदान किये। उसके उत्तराधिकारी ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। वस्तुतः दरबार में भारतीय अमीरों के दल के अतिवादी आचरण तथा खुसरों खाँ एवं उसके सहयोगियों के व्यवहार ने सामान्य मुस्लिम मानस को रुष्ट कर दिया जो भारतीय मुस्लिम प्रधानता से आतंकित होकर उनके विरुद्ध कार्य करने लगे।

परिस्थितियों ने गियासुद्दीन तुगलक को अपना राज्य स्थापित करने का अवसर प्रदान किया। उसने अनुभव किया कि विदेशी तुर्क तथा भारतीय दोनों ही सत्ता के भूखे हैं। अतः गियासुद्दीन ने भारत के बाहर मुस्लिम क्षेत्रों से भर्ती करने के विचार को कार्यरूप में परिणत किया। भारतीय एवं तुर्क मूल

के अमीरों के दावों की अनदेखी करते हुए, उसने विदेशियों को आमन्त्रित करने व उन्हें उच्च पद प्रदान करने में अत्यधिक उत्सुकता दिखाई। अपनी इस नीति के परिपालन में सुल्तान इस सीमा तक बढ़ गया कि उसने सामान्य पढ़े-लिखे विदेशियों को भी राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर दिया। यदि इन्होंने परिस्थितियों का लाभ नहीं उठाया तो यह उनकी गलती थी। इन विदेशी अमीरों को स्वार्थसिद्धि एवं धनोपपत्ता ने मुहम्मद बिन तुगलक को अमीरों के प्रति अपनी नीति में पुनरावलोकन करने को विवश किया। विदेशी मुसलमानों एवं भारतीय अमीरों के उदाहरण तथा अनुभव ने मुहम्मद बिन तुगलक के समक्ष एक ही विकल्प छोड़ा था कि वह धर्म एवं नस्ल की परवाह किये बिना हिन्दुस्तान के सामान्य लोगों की योग्यता का परीक्षण करे।

२

अपने शासनकाल के उत्तरार्द्ध में मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने प्रशासन को प्रजातांत्रिक रूप प्रदान किया। राज्य के उच्चतम सैनिक व प्रशासनिक पद हिन्दुस्तान की प्रत्येक जाति के लिए खुले थे तथा प्योग्यता व कुशलता पद प्राप्ति के लिए प्रमुख आधार थे। बरनी के कथनानुसार, मुहम्मद बिन तुगलक ने एक कबीले नायक के पुत्र को इतनी तरक्की प्रदान की कि उसकी श्रेणी समस्त मलिकों की अपेक्षा

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

193

भारत का इतिहास . (1200 से 1739 तक)

छब्बै

पेजमतम बंजेउद्दुद, ठतांम चंतजेतंद कंतदमउव ।ब्ल्छ ।कवइम, चतंतजवअं वतकमदंउमदकउमदजेमजम वचस

बहुत बढ़ा दी। उसे गुजरात, मुल्तान व बदायूं प्रदान कर दिये। इसी प्रकार उसने फिरोज हज्जाम (नाई), बावर्ची माली तथा अन्य ऐसे लोगों को, जो निम्न वर्ग के थे सम्मान प्रदान किया। उन्हें उच्च पद व इत्काएं प्रदान कीं। मुहम्मद तुगलक की इस नीति के पिकार अमीरों

को यद्यपि फिरोज के शासनकाल में सात्वना प्राप्त हुई, तथापि अमीर वर्ग को उक्त रोश किसी न किसी रूप में प्रकट होता रहा।

अमीर वर्ग के सुल्तानों के मध्य सेवक व शासन के संबंधों की कड़ी किसी कानूनी आधार पर निहित न होकर सुल्तान की सैनिक एवं संगठन शक्ति पर निर्भर थी। सुल्तान के निर्बल होने पर मुक्तों द्वारा अपने को स्वतंत्र करना तथा अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए राज्य में राज्य-विरोधी कार्य करना तत्कालीन राजनीति का स्वाभाविक गुण था। वस्तुतः सुल्तानों ने अमीरों के इस चरित्र व आकांक्षाओं पर अंकुष रखने के लिए प्रशासनिक शक्ति का विकेंद्रीकरण करना आरम्भ किया। अलाउद्दीन खिलजी की साम्राज्यवादी व्यवस्था का महत्वपूर्ण गुण उक्त व्यवस्था का निर्माण था। इस काल के पश्चात् दो अफगान शासकों के काल को छोड़कर, राज्य अधिकारियों की स्थिति शासक के संबंध में सेवक के रूप में बनी रही न कि शासक के भागीदार के रूप में। सभी अधिकारी चाहे वह दिल्ली सल्तनत के खान, मलिक व अमीर हो, अथवा मुगल साम्राज्य का मन्सबदार, षाही सत्ता से उत्पन्न होते थे।

रू

99. अफगान शासनकाल में अमीर वर्ग

सुल्तान बहलोल लोदी के शासनकाल में अफगान अमीर वर्ग का उदय दिल्ली सल्तनत को राजनीति में एक नवीन दौर का प्रारंभ होना था। अफगान अमीर वर्ग, जो लगभग पचहतर वर्षों (1451–1526) तक शासकीय अमीर वर्ग के रूप में विद्यमान रहा, अपने स्वरूप, संरचना एवं संगठन में तुर्क एवं मुगल अमीर वर्ग से भिन्न था। अफगान अमीरों में अपनी परम्परा एवं जनजातीय पद्धति के प्रति लगाव सर्वसत्ता सम्पन्न निरंकुष शासक के अस्तित्व के विपरीत थे।

चूंकि सुल्तान बहलोल की सत्ता नव- अफगान सरदारों पर निर्भर थी, अतः उसे अफगान परम्परा को सम्मान देना पड़ा। इसमें कोई संदेह नहीं कि सुल्तान बहलोल के शासनकाल में लोदी, फरमुली, नूहानी तथा षेरवानी कबीलों के अफगान सरदारों को उच्च प्रतिष्ठा एवं लाभदायक इत्ता प्राप्त हुए तथा इन सरदारों ने पूर्ववत् अमीर वर्ग का स्थान लिया। नीयाजी एवं सूर कबीलों के अफगानों को प्रमुख पदों से अलग रखा गया। पर हय मानना ठीक नहीं होगा कि बहलोल के शासनकाल में अमीर वर्ग में केवल अफगान ही थे। शासक वर्ग में अफगानों के अतिरिक्त भारतीय मुसलमान एवं हिन्दू शासकों का भी समावेश था। उन पुराने अमीरों को जिन्होंने सुल्तान की स्वामिभक्ति स्वीकार कर ली थी, उनको इत्तों से पदच्युत नहीं किया गया। लोदी काल में शासकों का अफगान सरदारों की शक्ति पर निर्भर रहना, अमीर वर्ग की संरचना में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका एवं बाहुल्य को स्पष्ट करता है।

अफगान अमीर वर्ग के गठन एवं स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन सिकन्दर लोदी के शासनकाल में हुआ। अब अमीर वर्ग का गठन जनजातीय आधार एवं संकुचित धारणाओं से हटकर वृहद् दृष्टिकोण पर आधारित किया गया। सिकन्दर लोदी यह भली-भांति जानता था कि अफगान बाहुल्य प्रधान तथा जनजातीय आधार पर स्थापित राज्य भारतीय परिस्थितियों में सफल नहीं हो सकता। साथ ही, राजनीति के प्रति सिकन्दर के दृष्टिकोण ने भी अमीर वर्ग की संरचना एवं राज्य के प्रति उसकी भूमिका के प्रति व्यवहार में परिवर्तन किया।



Notes

भारत का इतिहास

सिकन्दर एवं उसके उत्तराधिकारी सुल्तान इब्राहीम लोदी के शासनकाल में शासन वर्ग में अफगान अमीरों का बाहुल्स बना रहा तथापि अफगान कबीलों के प्रभाव संख्या एवं राजनीतिक असर की दृष्टि से घटते-बढ़ते रहे। उदाहरण के लिए, अफगान सरदारों ने सल्तनत में प्रभावपूर्ण स्थिति स्थापित कर ली थी, किन्तु इनके विद्रोहात्मक व्यवहार के कारण इब्राहीम लोदी ने अपने स्वामिभक्त अफगान अमीरों को महत्वपूर्ण पदों एवं इत्तों में नियुक्त किया ताकि पुराने अमीर वर्ग के प्रभाव में कमी की जा सके।

अभ्यास—प्रश्न

1. सल्तनत कालीन सामाजिक एवं आर्थिक दशा का वर्णन करें।
2. सल्तनत काल में भारत की आर्थिक दशा पर प्रकाश डालें।
3. सल्तनत काल में अभिजात्य वर्ग की क्या स्थिति थी? विवेचना करें।

— 194

भक्ति आन्दोलन

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

प्राचीन भारतीय हिन्दू दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्त करना ही अथवा जीवन—मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग बतलाये गये हैं— ज्ञान, कर्म और भक्ति। सल्तनत काल (1206—1526 ई.) में कई हिन्दू सन्तों और सुधारकों ने हिन्दू सन्तों और सुधारकों ने हिन्दू धर्म के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ किया था। चूँकि यह आन्दोलन भक्ति पर जोर देता था, इसलिए इसे भक्ति आन्दोलन के नाम से पुकारा जाने लगा।

भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ महान् धर्म सुधारक षंकराचार्य के समय से माना जाता है। षंकराचार्य ने बुद्ध धर्म के विरुद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष करके हिन्दू धर्म को एक मजबूत दर्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की थी। उनके द्वारा अद्वैतवाद नामक मत की स्थापना की गयी थी तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान मार्ग पर जोर दिया गया था। किन्तु चूँकि षंकराचार्य का मत बहुत ही दार्शनिक और बौद्धिक था अतः वह जनसाधारण की समझ में न आ सका तथा उसे प्रभावित नहीं कर सका था। इसलिए हमारे मध्ययुगीन धर्म सुधारकों द्वारा जनसाधारण को हिन्दू धर्म की ओर आकर्षित करने के लिए और उसे लोक जीवन में सक्रिय बना देने के लिए ईश्वर की भक्ति पर जोर दिया गया।

मजरू—

भक्ति आन्दोलन की उत्पत्ति के कारण — भक्ति आन्दोलन की उत्पत्ति के मुख्य कारण निम्नलिखित

(1) हिन्दू धर्म में जाति प्रथा की जटिलता निरन्तर बढ़ती जा रही थीं। ऊँच—नीच की भावना से हिन्दू समाज का निम्न वर्ग दुःखी था। भक्ति आन्दोलन के संतों द्वारा चूँकि ऊँच—नीच और जाति—प्रथ का खण्डन किया गया, अतः समाज ने निम्न वर्ग के विशेष रूप से इसका समर्थन किया।

(2) हिन्दू समाज में षूद्रों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। उन्हें किसी प्रकार के कोई सामाजिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त नहीं थे और उन्हें उच्च वर्ग के हाथों सब प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ती थी। इन यातनाओं से बचने के लिए तथा इस्लाम धर्म के समानता तथा भ्रातृभाव के सिद्धांतों से प्रभावित होकर अनेक षूद्र मुसलमान बनने लगे। भक्ति आन्दोलन की उत्पत्ति इस परिवर्तन को रोकने और षूद्रों के साथ अच्छा व्यवहार करने हेतु हुई।

(3) मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण कर अनेक मन्दिरों और मूर्तियों का विनाश कर दिया। हिन्दू धर्म के समर्थकों में इससे घोर निराशा फैलने लगी और धर्म पर से उनका विश्वास डगमगाने लगा। भक्ति आन्दोलन के माध्यम से हिन्दुओं में पुनः आशा का संचार करना, धर्म के प्रति पुनः आस्था पैदा करना और ईश्वर के प्रति भक्ति का फूँकना आवश्यक समझा गया।

(4) कुछ इतिहासकारों के अनुसार भक्ति आन्दोलन की उत्पत्ति हिन्दू धर्म का इस्लाम के साथ सम्पर्क होने पर उसके ऊपर इस्लाम का जो प्रभाव हुआ उसके परिणामस्वरूप हुई। डॉ. ताराचन्द्र (पदसिनमदबमे वपिदेसंउ वद पदकपंद बनसजनतम) और डा. युसूफ हुसैन ळसपउचेबे वडिमकपमअंस पदकपंद बनसजनतम) इसी मत के समर्थक हैं। उनका मानना है कि भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने एकेश्वरवाद का समर्थन, मूर्तिपूजा का खण्डन और जाति प्रथा का बहिष्कार इस्लाम से प्रेरणा पाकर ही किया।

किन्तु उपर्युक्त विद्वानों का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि भक्ति की परम्परा भारत में काफी पुरानी है। यह कहना कि भक्ति का वास्तविक विकास इस देश में मुसलमानों के आगमन के पश्चात् हुआ, उचित नहीं है। गीता भक्ति का आधारभूत ग्रंथ है। श्रीगीता में कृष्ण मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्म के साथ-ही-साथ भक्ति मार्ग को भी प्रधानता देते हैं। गीता कानि म्म प्लोक क भक्ति के भाव से ओतप्रोत

नू

छळ्ळै

है

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं षरणं ब्रज,

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा षुच द्यद्य

195

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

196

छळ्ळै

इस प्लोक में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि, प्लुम सब धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी षरण में आओ, मेरी पूजा और भक्ति करो, मैं तुम्हारे समस्त पापों का नाश कर दूँगा। इस प्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भक्ति की परम्परा काफी पुरानी है। अभिलेखीय स्त्रोतों से भी यह ज्ञात होता है कि भक्ति का भारत में दूसरी षताब्दी ईस्वी पूर्व भी अस्तित्व था और श्री गार्डे को पाली साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है। विदेशी विद्वान् बुलहर भी यह मानते

भारत का इतिहास

है कि भारत में ईसा से आठ सौ वर्ष पूर्व भी भक्ति का उल्लेख मिलता है। फ्रांसीसी विद्वान् सेनार्ट के अनुसार भी भारत में भक्ति का सिद्धांत अत्यन्त प्राचीन है। श्री मद्भागवद् में भी ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति व्यक्त करने वाली प्रार्थना का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विद्वानों का यह मत कि भक्ति आन्दोलन उत्पत्ति इस्लाम के सम्पर्क और प्रभाव के परिणामस्वरूप हुई, उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तव में जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भक्ति का सिद्धांत भारत में मुसलमानों के आगमन से पहले ही विद्यमान था। भक्ति आन्दोलन में एकेश्वरवाद और सामाजिक समानता के सिद्धांतों को लेकर उस पर इस्लाम के प्रभाव की कल्पना भी व्यर्थ ही लगती है। भारतवर्ष में बहुदेववाद होते हुए भी एक ब्रह्म और ईश्वर की कल्पना पुरातन काल से चली आ रही है। अतः एकेश्वरवाद के सिद्धांत को इस्लाम की देन मानना उचित नहीं लगता है।

वास्तव में भक्ति आन्दोलन का उदय सर्वप्रथम दक्षिण भारत में हुआ और इसमें आलवार सन्तों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। पाँचवी से लेकर नवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में अनेक आलवार सन्त हुए जिन्होंने दक्षिण में भक्ति के सिद्धांत का खूब प्रचार किया। तिरुमल रूई, विरुमंगेई, पेरियालवार, कुलषेखर, तिरुप्पान, भूतम, मम्मालवार आदि कुछ ऐसे ही आलवार सन्त थे। इनमें से अधिकांश आलवार सन्त निम्न जातियों के थे और उच्च शिक्षा न मिलने पर भी उनमें उच्च गुणों का समावेश था। वे सभी विश्णु के उपासक थे। उनके विचारों और भावों में भक्ति तथा विनम्रता का अपूर्व संगम देखने को मिलता है। श्वेरा जन्म न द्विज कुल में हुआ न मैं चारों वेदों को जानने वाला हूँ। मैं अपनी इन्द्रियों को भी नहीं जीत पाया हूँ। मैं अपनी इन्द्रियों को भी नहीं जीत पाया हूँ। इस कारण, हे भगवान्। मुझे तुम्हारे प्रकाशमय चरणों के अतिरिक्त अन्य किसी भी शक्ति का भरोसा नहीं है। हे आलवार सन्तों के भाव थे जिनसे भक्ति भावना के अस्तित्व में कोई संशय नहीं रह जाता। इन आलवार सन्तों ने कुछ गीतों की भी रचना की जो प्रपति (सब कुछ छोड़कर भगवान् की शरण में गिरने की भावना) से ओतप्रोत है। इन आलवार सन्तों के प्रयत्नों से भक्ति की भावना का दक्षिण में खूब प्रचार हुआ और यह जनजीवन का अभिन्न अंग बन गयी। इन आलवार सन्तों द्वारा तमिल भाषा में लिखे गये भक्ति गीतों का एक ग्रंथ के रूप में सम्पादन दसवीं शताब्दी में नाथ मुनि ने किया जो प्नालीईरा प्रबन्धम के नाम से जाना जाता है। और जो भक्ति आन्दोलन का आदि ग्रंथ माना जाता है। आलवार इसको वेदों के समान श्रेष्ठ मानते हैं। अपने सद्गुणों और भक्ति के माध्यम से उनकी समाज में प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गयी कि भगवान् विश्णु के साथ उनकी पूजा होने लगी।

इन सभी तथ्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भक्ति आन्दोलन इस्लाम की देन कदापि नहीं था। भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने जिन सिद्धांतों का प्रचार किया, वे उन्होंने इस्लाम से नहीं सीखे अपितु वे भारत में किसी-न-किसी रूप में पहले से ही विद्यमान थे। भारतवर्ष में भक्ति आन्दोलन का उदय सर्वप्रथम दक्षिण भारत में हुआ। आलवार सन्तों द्वारा पाँचवी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक भक्ति का प्रचार सम्पूर्ण दक्षिण में कर इसे घर-घर पहुँचा दिया गया। यहाँ से धीरे-धीरे यह आन्दोलन उत्तरी भारत में भी फैल गया। उत्तरी भारत में इसे लोकप्रिय बनाने में रामानन्द, नामदेव, वल्लभाचार्य, चौतन्य, कबीर एवं नानक आदि सन्तों का प्रमुख योगदान रहा।

भक्ति आन्दोलन के प्रमुख सन्त

+

भक्ति आन्दोलन में हमें दो प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं— सगुण विचारधारा एवं निगुण विचारधारा। सगुण विचारधारा के प्रमुख सन्त रामानुज निम्बार्क, माध्वाचार्य, रामानन्द, चैतन्य, बल्लभाचार्य आदि थे। इन सन्तों का यह मानना था कि ईश्वर का एक निश्चित रूप होता है तथा वे उसका विष्णु, राम, कृष्ण आदि नामों से सम्बोधन करते थे। निगुण विचारधारा के प्रमुख सन्त कबीर एवं नानक थे। इन सन्तों का यह मानना था कि ईश्वर निराकार होता है और ये लोग उसको किसी भी नाम से सम्बोधित न करके राम रहीम, कृष्ण और विष्णु सबको उसका ही रूप मानते थे।

+

भक्ति आन्दोलन के कौन-कौन से प्रमुख सन्त हुए और उनका भक्ति आन्दोलन के प्रसार में क्या योगदान रहा? इसकी विवेचना हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

रामानुज

रामानुज भक्ति आन्दोलन के प्रथम महान् वैष्णव संत थे जो बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में हुए थे। उनका जन्म आधुनिक आन्ध्र प्रदेश के तिरुपति नगर में हुआ था। उनके पिता का नाम केषव और माता का नाम कान्तिमती था। रामानुज प्रारम्भ में गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रहे थे परन्तु सम्भवतः बाद में अपने गुरु यमुनाचार्य के प्रभाव के फलस्वरूप उन्होंने सन्यास ले लिया। तत्पश्चात् उन्होंने काश्मीर तक भारत भ्रमण किया। प्रारम्भ में वे षंकर के विचारों से प्रभावित थे किन्तु अपने अध्ययन और चिन्तन से वे बाद में षंकर के अद्वैत दर्शन, और मायावाद से मतभेद रखने लगे और उन्होंने मुक्ति प्राप्ति के लिए भक्ति को ही मुख्य साधन बताया।

रामानुज ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया उसको विषिष्टाद्वैत के नाम से जाना जाता है। उनका मानना था कि ब्रह्म ही परम सत्य है। वह सृजनकर्ता, पालनकर्ता और विनाशकर्ता है। आत्मा और जगत ब्रह्म के ही विभिन्न रूप हैं। आत्मा भक्ति के द्वारा ही परमात्मा को प्राप्त कर सकती है। रामानुज ने बताया कि शूद्र भी अपने गुरु की इच्छा के आगे पूर्ण समर्पण कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। उन्होंने वर्ष में एक निश्चित दिन शूद्रों को मन्दिरों में प्रवेश की छूट दी तथा उसी दिन वे अपने सम्प्रदाय से सम्बन्धित शूद्रों को शिक्षा भी दिया करते थे। रामानुज के विचार शीघ्र ही उत्तर और दक्षिण भारत में लोकप्रिय हो गये और इस प्रकार उन्होंने भक्ति आन्दोलन की नींव रखी।

निम्बार्क

भक्ति आन्दोलन के दूसरे महान् सन्त निम्बार्क थे। वे रामानुज के ही समकालीन थे परन्तु आयु में उनसे छोटे थे। वे तेलगू ब्राह्मण थे किन्तु बाद में जाकर वे वज्जदावन में बस गये थे और उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग वज्जदावन में ही व्यतीत किया। उन्होंने भेदाभेद के सिद्धांत का प्रतिपादन करके भक्ति की विचारधारा को और आगे बढ़ाया। उनके मतानुसार परमात्मा आत्मा और जगत समरूप होते हुए भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। उनमें समानता इस आधार पर है कि आत्मा और जगत पूर्णतः परमात्मा (ईश्वर) पर ही निर्भर हैं और उनका ईश्वर के बिना अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसलिए उनका न केवल

भारत का इतिहास

षंकराचार्य से ही बल्कि विषिष्टाद्वैतवादी रामानुज से भी बहुत मतभेद था। अध्यात्म के क्षेत्र में उन्होंने भी परमात्मा के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण पर ही जोर दिया।

निम्बार्क

कृष्ण

और राधा के उपासक थे तथा उन्होंने कृष्ण और राधा की आराधना को महत्व दिया। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि आचार्य निम्बार्क के पूर्व राधा के अस्तित्व का संकेत कहीं नहीं मिलता है।

माध्वाचार्य

माध्वाचार्य तेरहवीं सदी में भक्ति आन्दोलन के एक अन्य महत्वपूर्ण संत हुए। उनका जन्म 1199 ई. में कन्नड़ जिले में स्थिति वेज्जी में हुआ। उन्होंने तो षंकर के अद्वैतवाद को स्वीकार किया और न रामानुज के विषिष्टाद्वैतवाद को। उन्होंने भागवत पुराण के आधार पर स्पष्ट द्वैतवाद के सिद्धांत को प्रतिपादन किया। माध्वाचार्य के अनुसार ईश्वर आत्मा और जगत से पूर्णतः भिन्न है। ईश्वर ही आत्मा और जगत को नियंत्रित करता है। परमात्मा और आत्मा के बीच सम्बन्ध स्वामी और सेवक की भाँति होता है। ईश्वर की सेवा और भक्ति करते-करते आत्मा भी बहुत-से मामलों में ईश्वर की भाँति हो जाती है।

माध्वाचार्य विष्णु के उपासक थे और विष्णु को ईश्वर के रूप में भक्ति करते थे। वह परमात्मा को एक सम्राट के समान मानते थे। उनका मानना था कि वह समस्त जगत का स्वामी है। उसी की अनुकम्पा और भक्ति से मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

इस प्रकार तेरहवीं सदी के अन्त तक उत्तरी और दक्षिणी भारत के चिन्तनशील हिन्दुओं की विचारधारा पर उपर्युक्त तीन विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों का बड़ा प्रभाव पड़ा था और इन तीनों ही दार्शनिक सिद्धांतों में जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति का अथवा मोक्ष प्राप्ति का एक ही मार्ग — ईश्वर की भक्ति — का मार्ग बताया गया था। ये तीनों ही दर्शन वैष्णव धर्म की शाखाएँ थीं। किन्तु चूँकि उपर्युक्त तीनों ही संतों ने अपने उपदेश संस्कृत भाषा में दिये अतः उनके विचारों का जनसाधारण पर विशेष प्रभाव नहीं हुआ।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

197

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

रामानन्द

अभी तक सभी वैष्णव संत दक्षिण भारत में ही हुए थे। रामानन्द पहले वैष्णव संत थे जिनका जन्म उत्तरी भारत में हुआ। रामानन्द का जन्म उत्तरी भारत में हुआ। रामानन्द का जन्म

चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में प्रयाग में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनकी शिक्षा प्रयाग और बनारस में हुई और उन्होंने भारत के कई भागों का भ्रमण किया था। बहुत ही छोटी आयु में वे रामानुज द्वारा स्थापित रू श्री सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये थे और अपने गुणों के बल पर फिर धर्मगुरु बन गये। उन्होंने अपने ग्रंथ भक्तमाल में गुरु-पिश्य परम्परा के प्रसंग में रामानुजाचार्य के तीन प्रमुख उत्तराधिकारी पिश्यों – देवाचार्य, हयानन्द और राघवनन्द के नामों का उल्लेख किया है। सम्भवतः इसी आधार पर कुछ इतिहासकारों ने रामानुज के उत्तराधिकारी के सिलसिले में रामानन्द का पाँचवाँ स्थान माना है।

4

+

रामानन्द की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा प्रयाग में हुई परन्तु बाद में वे बनारस में बस गये थे। किन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि प्रयाग और बनारस जैसे रूढ़िवाद के गढ़ में भी रामानन्द के विचार किस विचित्र प्रेरणा के फलस्वरूप उदारवादी ही नहीं बल्कि क्रान्तिकारी हो गये। अपने आदिगुरु रामानुज के समान रामानन्द ने अध्यात्म के क्षेत्र में सर्वप्रथम वेदान्त का ही ज्ञान प्राप्त किया परन्तु जब उसके पुश्तक एवं नीरस सिद्धांतों से उनकी तृप्ति न हुई तब उन्होंने रामानुज के श्री सम्प्रदाय के तीसरे धर्मगुरु राघवानन्द से दीक्षा ली। स्वतंत्र विचारों के तो ये थे ही, उनकी व्यापक यात्राओं ने उनके दृष्टिकोण को पूर्णतः सार्वभौम बना दिया और उन्होंने भक्ति मार्ग का अनुसरण करते हुए उसको एक नई दिशा में मोड़ दिया। वह रामानुज के विषिष्टाद्वैतवाद में विश्वास करते थे।

सम्भवतः रामानन्द ने बहुत से ग्रंथों की रचना नहीं की, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनका व्यक्तित्व क्रान्तिकारी था। उनके चरित्र एवं शिक्षा का जो युग परिवर्तक प्रभाव पड़ा वह बहुत से महत्वपूर्ण ग्रंथों का भी न पड़ सका। श्री सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी उन्होंने उसकी मान्यताओं में कुछ परिवर्तन कर दिया था। विष्णु के स्थान पर उन्होंने राम की भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने पुरानी परम्परा त्यागकर भूद्रों को भी अपना पिश्य बनाया और धार्मिक कार्यों में उन्हें लगभग उच्च वर्णों की ही तरह बराबरी से भाग लेने दिया। मध्य युग में स्त्रियों को धार्मिक विचार-विमर्श और कार्यों में भाग लेना वर्जित था। रामानन्द ने इस अवरोध को भी नहीं माना और उन्होंने स्त्रियों को भी भक्ति करने की अनुमति दी तथा उन्हें भी अपना पिश्य बनाया। जनश्रुति के अनुसार उनके बारह पिश्य थे— आनन्दानन्द, कबीर, पीपा, भावानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहरि, रविदास, धन्ना, सैना, पद्मावती तथा सुरसीर। इनमें धन्ना जाट, सैना नाई और रैदास चमार जाति के थे तथा कबीर मुसलमान थे जबकि पद्मावती और सुरसीर दो स्त्रियाँ थी। इस प्रकार रामानन्द ने वैष्णव धर्म के द्वार बिना किसी जन्म, जाति धर्म और लिंग भेद के सभी के लिए खोल दिये।

रामानन्द के पिश्यों की उपर्युक्त तालिका से दो महत्वपूर्ण विचार सिद्ध होते हैं। प्रथम, यह कि रामानन्द केवल धर्म में ही सुधार नहीं करना चाहते थे बल्कि समाज को भी रूढ़ियों के गर्त से निकालना चाहते थे और दूसरा यह कि वह साम्प्रदायिकता के संकीर्ण विभेद को मिटाना चाहते थे। उच्च कुल की ब्राह्मण संतान होते हुए तथा वेदान्त और पुराणों के ज्ञाता होते हुए भी उन्होंने मानव मात्र की समानता पर बल दिया। मध्यकाल के वातावरण में यह आश्चर्यजनक बात थी। मानवता के इस संदेश ने न केवल भक्ति आन्दोलन को एक नया मोड़

भारत का इतिहास

प्रदान किया बल्कि आने वाली पीढ़ियों के ग्रंथकर्ताओं को भी एक नवीन प्रेरणा से ओत-प्रोत कर दिया। भक्ति आन्दोलन के प्रसार में उनका योगदान दो प्रकारका है— प्रथम यह कि उन्होंने क्रान्तिकारी विषय तैयार किए और दूसरा यह कि इन विषयों के समक्ष एक व्यापक और निष्पक्ष आदर्श रखा। स्वतंत्र विचारों के वे पोशक थे और ऐसे विचारों ही उन्होंने प्रोत्साहन दिया।

रामानन्द ने एक और चमत्कारी कदम उठाया। षष्ठीय भक्ति का अभी तक समस्त साहित्य संस्कृत भाषा में उपलब्ध था जो साधारण जनता की समझ से परे था। किन्तु रामानन्द ने जनता की भाषा पर अधिक बल दिया। वह प्रथम वैष्णव संत थे जिन्होंने हिन्दी के माध्यम से उपदेश दिये। उनके पहले के धर्मगुरुओं ने अपने उपदेशों में संस्कृत का प्रयोग किया था अतः उनके संदेश उन्हीं कुछ लोगों तक पहुँच सके थे जो संस्कृत समझते थे। किन्तु चूँकि रामानन्द के उपदेशों का माध्यम हिन्दी था, अतः उनके उपदेश जनसाधारण के भी भली-भाँति समझ में आ गये। अब हर कोई वैष्णव धर्म के उपदेश समझ सकता था।

198

इससे शूद्रों में काफी जागृति आयी। चूँकि रामानन्द ने धार्मिक अनुष्ठानों में अपने निम्न वर्ग के विषयों को उच्च वर्ग के विषयों के समान ही महत्व दिया इसलिए इससे शूद्रों की स्थिति में सुधार होने में बल मिला।

रामानन्द ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए परमात्मा के प्रति प्रेम और भक्ति पर ही जोर दिया। उन्होंने रीति-रिवाज, धार्मिक उत्सवों, उपवासों और धर्म यात्राओं पर इतना जोर नहीं दिया। उनकी भक्ति आन्दोलन को सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने भक्ति आन्दोलन को लोकवादी रूप प्रदान किया। यद्यपि रामानन्द के प्रयासों से भक्ति आन्दोलन को काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई थी और वह जाति-पाति के भेदभाव से बहुत ऊपर उठ चुका था, फिर भी रामानन्द ने पहले से चली आयी किसी सामाजिक परम्परा को नहीं तोड़ा और न ही पूर्ण सामाजिक समानता को स्थापित करने का प्रयास किया। वास्तविकता तो यह थी कि उन्होंने जाति-व्यवस्था का विरोध ही नहीं किया। लेकिन जैसा कि डॉ. आषीर्वादी लाल श्री वास्तव लिखते हैं, उनके उपदेशों से जाति-पाति के बंधन बहुत ढीले पड़ गये थे। शूद्र ब्राह्मण से— ८ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते थे और वे परमात्मा की दृष्टि में समान समझे जाते थे। यह निष्पक्ष ही रामानन्द की महान उपलब्धि थी। ९

कबीर

•

भक्ति आन्दोलन के सन्तों के कबीर ऐसे प्रथम संत हुए जिन्होंने हिन्दू तथा इस्लाम धर्म की एकता पर विशेष बल दिया। कबीर के प्रारम्भिक जीवन के बारे में कोई जानकारी नहीं है। कहा जाता है कि वे बनारस की एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे जिसने लोकलज्जा के भय से उन्हें नवजात अवस्था में एक तालाब के किनारे छोड़ दिया था जहाँ से उन्हें नीरु नामक एक मुसलमान जुलाहा उठाकर ले गया और उसी ने अपने पुत्र की तरह उनका लालन-पालन किया था। उनके माता-पिता की तरह उनके जन्म की तिथि के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। लेकिन अधिकांश विद्वानों का मानना है कि उनका जन्म 1440 ई. के आसपास हुआ।

कबीर बचपन से ही विचारशील प्रकृतिक थे। बड़े होने पर वे प्रसिद्ध वैष्णव संत रामानन्द के शिष्य बन गये थे और रामानन्द के सबसे बड़े क्रान्तिकारी शिष्य माने जाते थे। कबीर अपने गुरु से भी कही आगे बढ़ गये थे। अपने प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा जिसको वह अनुमान कहते हैं उन्होंने मानव जीवन के रहस्य की थाह ले ली और उस दैवी ज्योति के दर्शन कर लिये जो शान्ति की द्योतक है। उन्होंने निःसंकोच रूढ़ियों का परित्याग किया क्योंकि रूढ़ियों से ही अज्ञान और अन्धविश्वास की उत्पत्ति होती है। रूढ़ीवाद ही संकुचित दृष्टिकोण का और साम्प्रदायिक झगड़ों का मूल कारण है। कबीर आडम्बर से दूर रहते थे। जो हिन्दू और मुसलमान परिपाटियों में दोष आ गये थे। कबीर द्वारा उनकी निर्भीक होकर आलोचना की गयी थी। वे न तो जाति प्रथा को मानते थे और न हिन्दुओं के छः दर्शनों को मान्यता दे थे। न वे वेदों में वर्णित चार आश्रमों को ही मानते थे। उनकी यह धारणा थी कि बिना भक्ति के धर्म में कोई सार नहीं है और बिना आत्मा की शुद्धि के परमतत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता है। वह जितना भजन पर बल देते थे उतना उपवास और दान तथा वैराग्य पर नहीं देते थे।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने एक ग्रंथ की रचना की है जिसका नाम कबीर का रहस्यवाद है। इस ग्रंथ में उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि कबीर यौगिक क्रियाओं से परिचित थे और उनको योग का यथेष्ट ज्ञान भी था।

कबीर का उद्देश्य था एक प्रेम-प्रभावित मत का प्रचार जिसके द्वारा विभिन्न मत मतान्तरों को एक किया जा सके। उन्होंने इस्लाम तथा हिन्दू धर्म के उन पक्षों को, जो आध्यात्मिक विकास में योग नहीं देते थे, अमान्य कर दिया और दोनों धर्मों के समान एवं मौलिक तथ्यों को चुनकर अपने दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में संस्कृत एवं फारसी भाषाओं के शब्दों का निःसंकोच प्रयोग किया और हिन्दी भाषा के माध्यम से अपने विचारों को प्रस्तुत किया। उन्होंने जान-बूझकर हिन्दू-मुस्लिम धर्मों के भेद का परित्याग करके उनकी एकता पर बल दिया।

— चीच ।हम 'दक

कबीर ने अपनी एक साखी में कहा है कि, षहिन्दू मन्दिर में जाता हैं और मुसलमान मस्जिद में जाता है पर कबीर एक ऐसे स्थान पर जाता है जहाँ कि दोनों ही विद्यमान हैं। दोनों धर्म एक ही वृक्ष की दो शाखाओं के समान हैं जिनके बीच में एक अंकुर है जो दोनों से श्रेष्ठ हैं। कबीर ने दोनों की प्रथाओं को छोड़कर एक उत्तम मार्ग अपनाया है।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

199

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

200

छब्बै

भारत का इतिहास

अगर तुम कहो कि मैं हिन्दू हूँ तो यह सत्य नहीं, और यह भी सत्य नहीं कि मैं मुसलमान हूँ।^{१७}

कबीर यद्यपि योगी थे किन्तु संयास में उनका विश्वास न था। वह मरहस्थ जीवन में रहकर ही परमतत्व की प्राप्ति के सिद्धांत के समर्थक थे। कबीर अनपढ़ थे, लेकिन उन्होंने बहुत से पदों की रचना की थी। इन पदों में उनके उपदेश निहित हैं जिनका संकलन करके प्रकाशन किया जा चुका है। ष्वास ग्रन्थ नामक ग्रंथ का संकलन उनके अनेक शिष्यों ने मिलकर किया था। यह ग्रंथ बनारस के कबीर चौरा में रखा हुआ है। मागोदास नामक उनके एक शिष्य ने बीजक को ग्रंथ के रूप में संकलित किया था। मार्गोदास के अतिरिक्त कबीर के अन्य महत्वपूर्ण शिष्य गोपाल दास, भगवान दास और धर्मदास थे।

कबीर प्रथम श्रेणी के भक्त थे लेकिन सही अर्थों में दार्शनिक नहीं थे कबीर की विचारधारा में हमें एक अलग ही बात दिखायी पड़ती है और वह है उनका विषुद्ध अद्वैतवाद तथा निर्णय ईश्वर में परम विश्वास य वह ईश्वर को कोई नाम नहीं देना चाहते थे, लेकिन अगर नाम देना ही पड़े तो वे उसे राम कहते थे। उन्होंने मोक्ष प्राप्ति के गुरु की आवश्यकता पर जोर दिया।

कबीर निःसन्देह भक्ति आन्दोलन के एक महान् संत थे। उन्होंने अपने विचारों से भक्ति को एक महत्वपूर्ण मोड़ दे दिया था। निर्गुण भक्ति विशेष रूप से अद्वैतवाद पर आधारित है और अद्वैत एक ऐसा गूढ़ तत्व है जो कि साधारण मनुष्य की बुद्धि एवं कल्पनाके परे है। किन्तु कबीर ने निर्गुण भक्ति को अत्यन्त सरल और आकर्षणपूर्ण बना दिया। उन्होंने सगुण भक्ति को षड्दावली का निर्गुण भक्ति सम्बन्धी मूल तत्वों के प्रसंग में प्रयोग करके उन्होंने उसका संदेश— अशिक्षित एवं शिक्षित दोनों वर्गों तक समान रूप से पहुँचा दिया। उनका राम तो हैं परन्तु दशरथ पुत्र नहीं है। इसी प्रकार उन्होंने अन्य देवताओं की भी निर्गुण शैली में व्याख्या की है।

२।२

कबीर के उपदेशों का जनसाधारण पर गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं में निम्न जातियों के लोगों ने विशेष रूप से उनके उपदेशों का स्वागत किया और उनमें से बहुत ने उन्हें अपना गुरु मान लिया। कबीर की कुछ उक्तियाँ जनसाधारण में बड़ी लोकप्रिय हुईं।

नानक

कबीर के बाद नानक एक दूसरे प्रमुख निर्गुण संत थे। नानक का जन्म 1469 ई. में एक खत्री परिवार में तलवण्डी में हुआ था जो अब ननकाना के नाम से जाना जाता है तथा पाकिस्तान में शेखपुरा जिले में है। कबीर की तरह नानक भी गृहस्थ जीवन को आध्यात्मिक उन्नति के बीच बाधक नहीं मानते थे। इसलिए उन्होंने गृहस्थ जीव का परित्याग नहीं किया और उनके परिवार में उनकी पत्नी और दो पुत्र थे। उनके एक पुत्र का नाम श्रीचन्द और दूसरे का नाम लक्ष्मीचन्द था। गृहस्थ जीवन का पालन करते हुए भी वे अपना सारा समय साधना, उपदेशों और मानव सुधार के कार्यों में लगाते थे। उन्होंने बहुत-से प्रेरणादायक पदों और गीतों की रचना की जिन्हें बाद में सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुन ने एक ग्रंथ के रूप में संकलित कर दिया जो गुरु ग्रंथ साहिब के नाम से जाना जाता है।

कबीर के विपरीत नानक एक सुषिक्षित व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी मातृभाषा पंजाबी के अतिरिक्त फारसी और हिन्दी का भी अध्ययन किया था। गाथाओं के अनुसार नानक ने भारत के प्रमुख तीर्थ स्थानों की तो यात्रा की ही थी, इसके अलावा अपने जीवन के अंतिम 40 वर्षों में उन्होंने कई देशों, जैसे— लंका, ईरान और अरब का भी दौरा किया था। इस दौरान वे विभिन्न सम्प्रदायों के संतों के सम्पर्क में आये जिनसे उन्होंने अध्यात्म के विभिन्न पहलुओं को समझने का प्रयास किया।

कबीर की तरह नानक भी वेदों और कुरान को नहीं मानते थे तथा कबीर की भाँति ही उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों में प्रचलित अन्धविश्वासों और आडम्बरों की कटु आलोचना की तथा पंडित और मुल्ला दोनों को समान रूप से फटकारा। उनका उद्देश्य था — हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना करना। अतः उन्होंने हिन्दू और मुसलमान और यहाँ तक कि अछूतों को भी अपना शिष्य बनाया था।

उंद्रपउजपदं, म्उनं दं दजममो

नानक एक निराकार ब्रह्म में आस्था रखते थे। उनका मानना था कि ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर उसका नाम जपने से मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। वे मुक्ति को ही मानव-जीवन का अंतिम लक्ष्य समझते थे। मुक्ति मिलने से यह तात्पर्य है कि आत्मा अलग अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह परमात्मा में लीन हो जाती है। नानक के उपदेशों में नैतिकता, नम्रता, सत्य, दान और दया

को प्रमुख स्थान प्राप्त था। नानक कर्म और पुनर्जन्म में भी विश्वास रखते थे। नानक के शिष्यों ने धीरे-धीरे एक अलग सम्प्रदाय का रूप ग्रहण कर लिया था और कालान्तर में वह सिक्ख धर्म के रूप में परिवर्तित हो गया था।

बल्लभाचार्य

बल्लभाचार्य वैष्णव सम्प्रदाय की कृष्ण भक्ति शाखा के एक महान् संत थे। उनके पिताका नाम लक्ष्मण भट्ट था जो तेलंगाना के निवासी थे। बल्लभाचार्य का जन्म 1479 ई. में बनारस में उस समय हुआ जब उनके माता-पिता तीर्थयात्रा के लिए बनारस आये थे। बल्लभाचार्य जब केवल 11 वर्ष के थे तभी उनके माता-पिता की मरत्यु हो गयी थी। वे बड़े ही बुद्धिमान और प्रतिभाशाली बालक थे। बताया जाता है कि वे बालक ही थे तभी उन्होंने चारों वेद, छह शास्त्र और 18 पुराणों पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। माता-पिताकी मरत्यु के बाद उन्होंने अपना सारा समय अध्ययन और साधना में लगाया। उन्होंने कई बार सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया था। अपनी शिक्षा-दीक्षा पूर्ण हो जाने पर वे तेलंगाना लौट आये और कुछ समय के लिए विजय नगर के महान् शासक कृष्णदेवराय के दरबार में रहे। उसके बाद उन्होंने उत्तरी भारत में वरन्दावन को अपना स्थायी निवास स्थान बना लिया। यहीं उन्होंने 1520 ई. से कृष्णभक्ति पर उपदेश देना प्रारम्भ किया कबीर और नानक की तरह वे भी गरहस्थ जीवन को आध्यात्मिक उन्नति के लिए बाधक नहीं मानते थे। अतः उन्होंने महालक्ष्मी नामक बनारस की एक कन्या से विवाह किया जिससे उनके अनुक पुत्र पैदा हुए थे। गरहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी उन्होंने अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक कृत्य नहीं छोड़े। उनकी मरत्यु 1531 ई. में 52 वर्ष की आयु में काशी में हुई।



बल्लाभाचार्य भगवान श्रीकृष्ण के उपासक थे और वे कृष्ण की श्रीनाथ जी के नाम से उपासना करते थे। वे श्रीकृष्ण को परब्रह्म, पुरुशोत्तम और परमानन्द के रूप में मानते थे। उनके अनुसार परब्रह्म को हार्दिक भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु इस भक्ति में ईश्वर के प्रति ऐसा प्रेम और लगान होना चाहिए कि भक्त स्वयं को विस्मृत कर दे। उन्होंने षुद्धाद्वैतवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनका मानना था कि ब्रह्म सर्वशक्तिमान है। वह सांसारिक गुणों से रहित है। उसने स्वयं से ही इस जगत की उत्पत्ति की है जो अंत में उसमें ही लीन हो जाता है। ब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप ही जगत है जो आत्मा और

- तत्व से बना है और जो सत्य है। बल्लाभाचार्य ने आत्मा और जगत की ईश्वर के साथ एकता पर बल दिया है।

बल्लाभाचार्य के उपदेशों में एक भावनात्मक प्रेरणा थी जिसके फलस्वरूप उनके अनेक अनुयायी बन गये थे जिनमें 84 को उनके प्रिय शिष्य माना जाता है। बल्लाभाचार्य ने ब्रज प्रदेश, राजस्थान और गुजरात में भक्ति आन्दोलन को काफी लोकप्रिय बनाया। बल्लाभाचार्य के बाद उनके द्वितीय पुत्र विठ्ठलनाथ (1516—1576 ई.) ने भी वैष्णव धर्म की कृष्णभक्ति शाखा के धर्मगुरु के रूप में काफी प्रसिद्धि प्राप्त की। मुगल सम्राट अकबर उनकी विद्वता और सन्त स्वभाव से इतना प्रभावित हुआ था कि उसने उनकी गायों को सरकारी भूमि में भी बिना किसी कर या बाधा के चराने की अनुमति दे दी थी तथा उन्हें जतीपुरा का गाँव भी कर—मुक्त कर प्रदान कर दिया था।

चौतन्य

4

चौतन्य की गिनती भक्ति आन्दोलन के महान संतों में की जाती है। वे वैष्णव सम्प्रदाय की कृष्ण भक्ति शाखा के एक अन्य प्रसिद्ध संत थे। उनका जन्म 1486 ई. में बंगाल प्रान्त के अन्तर्गत नदिया में हुआ था। उनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र था जो बड़ी ही धार्मिक प्रकृति के विद्वान पुरुष थे। उनकी माता सूची भी स्वभाव से बड़ी धार्मिक और पवित्र आचरण की थी। चौतन्य के बचपन का नाम विश्वम्भर था। विश्वम्भर के माता—पिता उन्हें बहुत प्रेम करते थे। वे उन्हें प्यार से गौरंग कहा करते थे क्योंकि चौतन्य बहुत ही सुन्दर और गौर वर्ण के थे। विश्वम्भर अत्यन्त ही प्रतिभाशाली छात्र थे। कहा जाता है कि, उन्होंने केवल 15 वर्ष की अल्पायु में ही संस्कृत भाषा और साहित्य तथा व्याकरण और तर्कशास्त्र पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। बाईस वर्ष की अवस्था में उन्होंने ईश्वरपुरी नामक एक सन्त पुरुष से दीक्षा ले ली। अपने इस गुरु से वे इतने प्रभावित हुए कि वे कृष्ण के परम भक्त बन गये और सदैव उनके नाम का कीर्तन करने लगे। कृष्ण भक्ति के आवेष में वे कभी—कभी मुर्च्छित और समाधिस्थ हो जाते

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

201

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

2002

छल्ले

थे। उनके इस व्यवहार से पहले लोगों ने यह समझा कि वे सम्भवतरु विक्षिप्त हो गये हैं, लेकिन षीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि विश्वम्भर के इस असाधारण व्यवहार का कारण उनकी कृष्ण-भक्ति ही अन्त में 1510 ई. में वे संन्यासी हो गये और उन्होंने अपना नाम बदलकर चौतन्य रख लिया। चौतन्य ने पण्डरपुर, सोमनाथ, द्वारका, मथुरा, वृन्दावन और देश के अन्य अनेक भागों की यात्रा की और अन्त में वे स्थायी रूप से पुरी में ही बस गये और वहीं 1533 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी।

चौतन्य ने ईश्वर पर जिसको वे करुण या हरी के नाम से पुकारते थे, पूर्ण आस्था रखने का उपदेश दिया। चौतन्य का धार्मिक रीति-रिवाजों और आडम्बरों में कोई विश्वास नहीं था। चौतन्य के उपदेशों का सार संक्षेप में इस प्रकार, अगर कोई जीव कृष्ण पर श्रद्धा रखता है और अपने गुरु की सेवा करता है तो वह मायाजाल से मुक्त होकर कृष्ण के चरणों को प्राप्त होता है।¹⁶ उनका मानना था कि श्रद्धा और भक्ति कीर्तन और नृत्य द्वारा ऐसी भाववेषमयी स्थिति उत्पन्न की जा सकती है, जिसमें परमात्मा से साक्षात्कार हो सकता है। उन्होंने आंतरिक और आध्यात्मिक रूप से ऐसे साक्षात्कार पर बड़ा जोर दिया। लेकिन उनके अनुसार यह साक्षात्कार केवल गुरु की सहायता से ही सम्भव हो सकता था। वे पुरोहितों के नियंत्रण और बाह्य आडम्बरों के विरुद्ध थे।

चौतन्य ने बिना जाति और धर्म का भेदभाव किये सभी को उपदेश दिये। अपने अनुयायियों पर चौतन्य का प्रभाव इतना गहरा था कि वे उन्हें कृष्ण का ही रूप मानने लगे थे। यद्यपि चौतन्य के अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी थी किन्तु ऐसा लगता है कि सम्भवतः उन्होंने उन्हें एक सम्प्रदाय के रूप में संगठित नहीं किया था। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके अनुयायियों ने ही स्वयं को एक सम्प्रदाय के रूप में संगठित कर लिया था। उनके 6 मुख्य अनुयायियों को वृन्दावन के 6 गोस्वामियों के रूप में जाना जाता है और यह माना जाता है कि इन्हीं 6 गोस्वामियों ने चौतन्य सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धांतों और रीति-रिवाजों को सुविस्तृत किया था। वृन्दावन के गोस्वामी चौतन्य को ही अपनी प्रेरणा का प्रमुख स्रोत तथा कृष्ण-भक्ति में अपना प्रमुख पथ-प्रदर्शक मानते थे। लेकिन नदिया या नवद्वीप में रहने वाले चौतन्य के शिष्य उन्हें ही कृष्ण समझने लगे थे तथा उनमें ही राधा और कृष्ण का संयुक्त रूप मानने लगे थे और उनकी गौरंग महाप्रभु के रूप में पूजा होने लगी थी।

चौतन्य के उपदेशों और उनकी विचारधारा को न केवल बंगाल और उड़ीस में बल्कि देश के अन्य भागों में भी बड़ी लोकप्रियता प्राप्त हुई। बंगाल और उड़ीसा में निस्सन्देह वैष्णव धर्म को लोकप्रिय बनाने में चौतन्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही। आषीर्वादी लाल श्रीवास्तव (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति) लिखते हैं, उन्होंने जो उपदेश दिये, वे सीधे जनता के हृदय में उतर गये। पीड़ित मानवता को उनका परमात्मा के प्रति प्रेम का सन्देश मरहम-सा लगा, और इसने सिद्ध कर दिया कि मानव हृदय राजनीतिक और सामाजिक विषमताओं के बीच भी ऊँचा उठ सकता है। इराने जीवन को स्फूर्ति साहित्य को रचनात्मक शक्ति और मानव सम्बन्धों को पवित्रता प्रदान की।¹⁷

नामदेव

भारत का इतिहास

नामदेव मध्यकाल में महाराष्ट्र के भक्तिआन्दोलन के सबसे महान् सन्त थे। वे जाति से दर्जी थे और पन्द्रहवीं सदी के प्रथम अर्द्धांश में हुए थे। उन्होंने हिन्दू समाज में प्रचलित जाति पॉति और रीति-रिवाजों का खण्डन किया और बिना किसी जाति और धर्म के भेदभाव के सभी जाति और धर्म के लोगों को अपना शिष्य बनाया। उनके कुछ मुसलमान शिष्य भी थे जो बाद में धर्म-परिवर्तन कर हिन्दू बन गये थे। अपने समकालीन भक्ति संतों की भाँति नामदेव भी एक ईश्वर में आस्था रखते थे और मूर्ति पूजा तथा धार्मिक कर्मकाण्डों के विरुद्ध थे। उनका मानना था कि भगवत्-प्रेम और भक्ति के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त की जा सकती है।

मीरा जिसकी गिनती मध्यकालीन भारत के महान् संतों में की जाती हैं का जन्म 1498 ई. के लगभग कुड़की नामक गाँव में हुआ था। यह गाँव नागौर जिले में मेड़ता से लगभग 21 मील दूर स्थित है। इनके पिता का नाम रतनसिंह था जो मेड़ता के षासक राव दूदाजी के द्वितीय पुत्र थे। मीरा बचपन से ही बड़ी धर्मात्मा थी। उनके पिता रतनसिंह, दादा राव दूदाजी एवं उनकी दादी सभी कृष्ण के भक्त थे अतः इसका मीरा पर गहरा प्रभाव पड़ा था और उनकी आस्था भी कृष्णभक्ति में हो गयी थी।

मीरा का विवाह 1516 ई. में मेवाड़ के षासक महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ हुआ। किन्तु मीरा का वैवाहिक जीवन अधिक लम्बा नहीं चला और सम्भवतः 1523 ई. में ही उनके पति की मृत्यु हो गयी और इस प्रकार मीरा पति-सुख से अल्पकाल में ही वंचित हो गयी। इसके पश्चात् मीरा को सांसारिक जीवन से विरक्ति हो गयी और वह व अपना अधिकांश समय कृष्ण भक्ति तथा साधु-सन्तों के साथ सत्संग में व्यतीत करने लगी। अपनी कृष्णभक्ति और भक्तों की आश्रयदाता के रूप में उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी और साधु-सन्त तथा अनेक स्त्री-पुरुष दूर-दूर से चित्तौड़ आने लगे। मीरा के पति भोजराज के छोटे भाई और मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा विक्रमादित्य को सिसोदिया वंश की राजकुमारी मीरा का साधु-सन्तों तथा अन्य लोगों के साथ चाहे वे कितने ही भक्त क्यों न हो, इस प्रकार स्वच्छन्दता पूर्वक मिलना-जुलना पसन्द नहीं आया और उन्होंने इसका विरोध किया। पर जब विरोध का मीरा पर कोई असर नहीं हुआ तो बताया जाता है कि उन्होंने मीरा को विश देकर उनसे मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। लेकिन सौभाग्य से मीरा पर विश पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। लेकिन इस घटना से विक्षुब्ध होकर तथा राधा से तनाव उत्पन्न हो जाने के कारण मीरा मेवाड़ छोड़कर अपने चाचा वीरमदेव के पास मेड़ता चली गयी। वीरमदेव मेड़ता के सरदार थे। मेड़ता में भी मीरा का अधिकांश समय तपस्या, कीर्तन और नृत्य में व्यतीत होने लगा। लेकिन जब जोधपुर के षासक राव मालदेव ने मेड़तापर आक्रमण कर उसे जीत लिया तो मीरा मेड़ता से पहले मथुरा और मथुरा से अंत में द्वारका चली गयी। उन्होंने अपना पेश जीवन द्वारका में ही कृष्ण की भक्ति में व्यतीत किया तथा वहीं 1547 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी।

मीरा मध्यकालीन भारत की एक महान् संत थी। उनकी कृष्ण की भक्ति में गहरी आस्था थी। उनकी भक्ति में किसी प्रकार के आडम्बर पूर्ण पूजापाठ, रुढ़ियों और बाह्य उपकरणों के लिए कोई स्थान न था। कृष्ण की भक्ति का सरल एवं सरस मार्ग ही उन्होंने अपनाया। उनकी समस्त चेतना केवल एक ही बिन्दु पर केन्द्रित थी जो कृष्ण के भक्ति भाव से ओत-प्रोत थी। उन्हें अपने जीवन के हर कार्य में कृष्ण के सामने होने की अनुभूति होती

रहती थी। अपने आराध्य देव को वह गिरधर के नाम से पुकारती थी। गिरधर के अतिरिक्त मीरा के लिए इस लौकिक और पालौकिक संसार में कुछ भी नहीं था।

मीरा की दृष्टि में माता-पिता, भाई-बन्धु, समस्त सांसारिक वैभव, राजपाट आदि मिथ्या है। यदि कोई सत्य है तो केवल गिरधर गोपाल जो भवसागर के पार उतारने वाले खेवनहार है। मीरा की मान्यता थी। कि संसार का परित्याग कर देने से व ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर देने से ही ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है।

मीरा के द्वारा कृष्ण की भक्ति में अनेक पदों की रचना की गयी थी। मीरा की प्रसिद्धि मुख्य रूप से उनके भजनों के कारण ही है जो राजस्थानी और ब्रजभाषा में रचे गये हैं। मीरा के सभी पद कृष्ण के प्रति असीम प्रेम और भक्ति भावना से ओत-प्रोत हैं। उनके सभी पद कृष्ण को सम्बोधित कर लिखे गये हैं। वे इतने मधुर हैं कि सुनने के साथ ही विरह, प्रेम और भक्ति की कोमल भावनाएँ उठ आती हैं। प्रसिद्ध हिन्दी कवयित्री महादेवी वर्मा ने मीरा के पदों के बारे में लिखा है कि मीरा के पद विश्व के भक्ति साहित्य के अमूल्य रत्न हैं। महाकवि निराला ने तो मीरा को गीत पैली के काव्य की देवी ही माना है। मीरा का निम्नलिखित पद करुण के प्रति उनकी गहरी भक्ति भावना का प्रतीक हैरू

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।

छोड़ दई कुल की कानि, कहा करिहै कोई द्य

संतन ढिंग बैठि बैठि लोक-लाज खोई।

९

अँसुवन जल सीचि — सीचि, प्रेम बेलि बोई। अब तो बेलि फैल गई, जानै सब कोई । भगत देखि राजी हुई, जगत देखि रोई । दासि मीरा लाल गिरधर । तारों अब मोई ।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बे

203

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बे

ळक्खळ छ।ज्ञ च्तजप्रपवदंजमदवउमदं ंहु चपततमदकइमदपहदंदज उँ चमतेमकपंदप जमजतंतमदहेंजंउवदनकपजममतकमतेप

204

दादू

भारत का इतिहास

16वीं शताब्दी में दादू भी भक्ति आन्दोलन के एक महान् संत हुए। इनका जन्म 1544 ई. में अहमदाबाद में हुआ था। उनकी जाति के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। दादू पंथी उनकी कुछ भी जाति न बताकर यह मानते हैं कि उनका पलन-पोशण लोदीराम नामक नागर ब्राह्मण द्वारा किया गया था। उनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि जब दादू दयाल एक षिषु के रूप में साबरमती नदी में बह रहे थे तब लोदीराम नामक ब्राह्मण ने इन्हें बचा लिया और उनका पालन-पोशण किया। दादू के गुरु का नाम ब्रह्मनन्द था। उन्हीं के उन्होंने दीक्षा ली। इसके बाद उन्होंने अनेक स्थानों का भ्रमण किया जिनमें सिरौही, सांभर, अजमेर, आमेर आदि प्रमुख थे। अंत में 1602 ई में वे नरायणा में जाकर रहने लगे। नरायणा जयपुर से 41 मील पश्चिम में जयपुर-अजमेर रेलवे लाइन पर स्थित है। यहीं 1603 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी।

दादू के द्वारा स्थापित पंत ष्दादू पंथ के नाम से जाना जाता है। दादू के अनेक षिष्य हुए, किन्तु 52 षिष्य मुख्य माने जाते हैं। दादू के ये 52 षिष्य बावन थाम्बे (स्तम्भ) कहलाते हैं। इन षिष्यों में भी सुन्दरदास जी और रज्जन जी विशेष उल्लेखनीय हैं। दादू पंथ की प्रधान गद्दी नरायणा मानी जाती है।

दादू के विचार ष्दादू दयाल री वाणी तथा ष्दादू दयाल रा दूहा नामक ग्रंथों में सुरक्षित हैं जिनका उनके षिष्यों द्वारा संकलन किया गया है। इन ग्रंथों के अध्ययन से हमें दादू के विचार और सिद्धांतों की जानकारी प्राप्त हो जाती है। कबीर की तरह दादू भी ब्रह्म को परब्रह्म स्वयंभू परम ज्योतिरूप और निराकार मानते हैं। उनका मानना है कि ईश्वर अत्यंत दयालु है और वह सर्वत्र समाया हुआ है। उनके अनुसार जीव वस्तुतः ब्रह्म में लीन हो जाता है। दादू ने भी कबीर की भाँति गुरु की महिमा पर बड़ा बल दिया है। उनके अनुसार उप निराकार एवं संव्यापी ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए गुरु ही मार्ग दर्शक होता है और वही अपनी ज्ञानरूपी नौका द्वारा षिष्य को भवसागर से पार उतारता है।

सूरदास

सूरदास हिन्दी के एक महान् कवि और भक्त थे। वे सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थी में हुए थे। किन्तु सूरदास के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं की बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध है। यहाँ तक कि उनके जन्म और मृत्यु की तिथियों का भी पता नहीं है। कुछ विद्वानों का मानना है कि अकबर के दरबारी इतिहासकार अबुल फजल द्वारा अपने ग्रंथ 6 अकबरनामा में अकबर के समय में आगरा के जिस अन्ध भाट कवि का उल्लेख किया गया है वह सूरदास ही थे।

सूरदास की तीन रचनायें बहुत ही लोकप्रिय हैं। ये हैं— सूरसारावली, साहित्य लहरी और सूरसागर छ कहा जाता है कि सूरसागर में 1,25,000 पद थे। सूरदास ने यद्यपि अपनी रचनाओं के विषय भागवत पुराण के लिये थे लेकिन उन्होंने जो कुछ लिखा है। वह केवल मात्र भागवत पुराण का ही अनुवाद नहीं है बल्कि वह पूर्णरूपेण एक मौलिक रचना है। सूरसागर न केवल प्रेम और भक्ति से ओतप्रोत रचना है बल्कि वह ष्कृष्ण के बाल चरित्र के चित्रण के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सूरदास ने इसमें निश्ठावान भक्त की भगवद् भक्ति के साथ ही बाल मनोविज्ञान का श्रेष्ठतम ज्ञान प्रदर्शित किया है। सूर के ग्रंथ और पदों ने लोगों को बहुत प्रभावित किया है और ईश्वर की भक्ति के मार्ग पर उन्हें अग्रसर किया है।

2कंजमद

तुलसीदास

सूरदास की भाँति तुलसीदास भी हिन्दी के एक महान् कवि और भक्त थे। उनका जन्म 1532 ई. में एक सरयूपारी ब्रह्मणी परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम तुलसी था। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने अपनी पत्नी रत्नावली के व्यंग्य के कारण संयास ले लिया था। उन्होंने अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ रामचरितमानस की रचना 1574 ई. में प्रारम्भ की थी और उसे 1577 ई. में पूर्ण कर लिया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई और ग्रंथों की भी रचना की जिनमें मुख्य गीतावली कवितावली, विनय पत्रिका आदि हैं।

रामचरितमानस तुलसीदास का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन और वी. ए. स्मिथ जैसे आधुनिक विद्वानों ने रामचरितमानस की एक ऐसी सुन्दर कलाकृति और रचना के रूप में भूरि-भूरि प्रशंसा की है, जिसने कि सारे उत्तरी भारत में लाखों हिन्दुओं के धार्मिक विचारों और चरित्र को गढ़ा है। वे रामायण को हिन्दू धर्म की बाइबिल मानते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के

साथ-ही-साथ रामचरितमानस सामाजिक और नैतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसमें तुलसीदास द्वारा राम को मनुष्य का रूप देकर उनसे शिव की आराधना करवाई गई है यद्यपि तुलसीदास ने बार-बार यह भी कहा है किराम सदा शिव के हृदय में निवास करते हैं। इस प्रकार उन्होंने शैव और वैष्णव सम्प्रदायों को संयुक्त कर दिया है। इसके अलावा उन्होंने विभिन्न वर्गों के कर्तव्यों का भी विप्लेशन कर दिया है। उनकी दृष्टि से राम केवल अवतार ही न थे बल्कि वह युगपुरुष के आदर्श भी थे। ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी तुलसी के राम मानव जीवन के दुःख सुख को भोग करते हैं, सन्तों की रक्षा करते हैं और दुष्टों का दमन करते हैं। तुलसीदास एक आदर्शपुरुष का जीवन चित्रित करना चाहते थे और राम के माध्यम से इस उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें अद्वितीय सफलता प्राप्त भी हो गई। सगुण भक्ति के मूल तत्वों का उन्होंने स्वाभाविक रूप प्रदर्शित किया है। उनकी यह धारणा है कि कलयुग में मोक्ष का केवल एक ही साधन है और वह है—। प्राम नाम का जप और राम की शरणागति। तुलसीदास ने पूर्ण चतुरतासे अपने रूढ़िवादी विचारों पर प्रगतिवाद का आवरण डाल दिया है। इस प्रकार रामचरितमानस और अपनेस्वयं के जीवन के उदाहरण द्वारा तुलसीदास ने भक्ति आन्दोलन के उत्थान और विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने यद्यपि किसी अलग सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की थी किन्तु फिर भी उन्हें आज भी महान् वैष्णव संत और आचार्य माना जाता है।

भक्ति आन्दोलन के प्रमुख सिद्धांत

भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने अपने जो उपर्युक्त विचार और सिद्धांत जनता के सामने रखे थे वे यद्यपि एक जैसे नहीं थे किन्तु फिर भी उनके विचारों में मौलिक समानता विद्यमान थी। इन सन्तों की रचनाओं का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इनके निम्नलिखित सिद्धांत एक जैसे थे—

- (1) भक्ति आन्दोलन के सभी सन्त ईश्वर की एकता में दृढ़ विश्वास रखते थे। उनकी दृष्टि में ईश्वर, अल्लाह, राम रहीम और विष्णु सब एक थे।
- (2) भक्ति आन्दोलन के सभी सन्त ईश्वर की भक्ति को मुक्ति प्राप्त करने का सफल साधन समझते थे। उनकी भक्ति स्वार्थरहित और अनन्य श्रद्धा पर आधारित थी। रामानुज का

भारत का इतिहास

मानना था कि सच्चे मन से ईश्वर की भक्ति करने वाला व्यक्ति जीवन मरण के बन्धन से छूट जाता ।

(3) इन सन्तों का यह मानना था कि ईश्वर के सम्मुख पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण किए बिना ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

(4) ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए सभी संत गुरु की सहायता को आवश्यक समझते थे । (5) भक्ति आन्दोलन के सभी सन्त सामाजिक समानता के समर्थक और जाति प्रथा व छुआछूत के विरोधी थे । उन्होंने जाति प्रथा तथा वर्ग भेद का खण्डन किया और प्राणिमात्र की एकता पर बल दिया । वे जाति प्रथा को ईश्वरीय इच्छा के प्रतिकूल समझते थे और सब मनुष्यों को एक ही ईश्वर की सन्तान समझते थे जैसा कि रामानन्द का कहना था कि, प्जात-पात पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि को होई । ८

(6) ये संत मूर्ति पूजा के कटर विरोधी थे और मूर्ति पूजा को व्यर्थ समझते थे । भक्ति आन्दोलन का प्रभाव

भक्ति आन्दोलन एक जन-आंदोलन था और तत्कालीन हिन्दू धर्म और समाज पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा जिसका उल्लेख हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

(1) मुस्लिम विचारक, लेखक और धर्मी तत्कालीन हिन्दू धर्म उसके सामाजिक संगठन और रीति-रिवाजों के बड़े आलोचक थे । इसलिए हिन्दू समाज के मध्ययुगीन नेताओं और विप्रेषकर धार्मिक विचारकों एवं सुधारकों के लिए युग की स्थिति वातावरण और माँगों की ओर ध्यान देन स्वाभाविक ही था । यही कारण था कि भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने हिन्दू समाज में प्रचलित धार्मिक अन्धविश्वासों और कर्मकाण्डों का विरोध किया जिसके फलस्वरूप अन्धविश्वासों और कर्मकाण्डों पर से लोगों का विश्वास उठने लगा और हिन्दू धर्म का रूप स्वस्थ बनने लगा । साथ ही मूर्ति पूजा पर से भी लोगो का विश्वास उठने लगा ।

(2) चूँकि भक्ति आन्दोलन के सभी सन्त जातिगत भेदभाव और ऊँच-नीच के विरोधी थे और उन्होंने जातीय एकता पर बल दिया तथा उन्होंने ऊँची और नीची सभी जातियों में से बिना भेदभाव के अपने शिष्य बनाये इससे हिन्दुओं में उच्च जाति के लोगों ने अपने बहुत से दुराग्रह त्याग दिये और वे भक्ति सम्प्रदाय के सन्तों के इस संदेश को मानने लगे कि ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं और इन्हें जन्म के आधार पर ही मुक्ति पाने के अयोग्य नहीं माना जा सकता । इससे निम्न जाति के लोगों की सामाजिक एवं धार्मिक दशा में सुधार हुआ । भक्ति आन्दोलन द्वारा निम्न जाति के हिन्दुओं द्वारा जो इस्लाम धर्म ग्रहण किया जा रहा था उस पर रोक लगी ।

(3) भक्ति आन्दोलन से देश में एक नये वातावरण का निर्माण हुआ । मुसलमानों के धार्मिक अत्याचारों से पीड़ित हिन्दुओं के हृदयों को भक्ति की धीतल छाया ने बड़ी राहत पहुँचाई ।

(4) भक्ति आन्दोलन और उसके संतों ने हिन्दू धर्म एवं संस्करति को नष्ट होने से बचाया और यहाँ तक कि अभूतपूर्व राजनैतिक उथल-पुथल और अत्याचारों के वातावरण में भी हिन्दुत्व की ज्योति को जलाये रखा । भक्ति आन्दोलन ने हिन्दुओं में असीम उत्साह का संचार किया जिससे वे इस्लाम के धर्म—प्रचार तथा धर्म परिवर्तन से अपनी रक्षा कर सके ।

(5) भक्ति आन्दोलन के कुछ संतों विशेष रूप से कबीर और नानक ने हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों की एकता पर बल दिया तथा बिना किसी धार्मिक भेदभाव के हिन्दुओं के साथ-साथ मुसलमानों को भी अपना शिष्य बनाया। इससे मध्यकालीन भारत में हिन्दू और मुसलमानों में धार्मिक सद्भाव का विकास हुआ तथा देश में हिन्दू-मुस्लिम एकता का वातावरण निर्मित हुआ।

(6) भक्ति आन्दोलन का जनभाषाओं के साहित्य के विकास में बड़ा योगदान रहा और उन्हें अधिक सम्पन्न बनाया। अधिकांश सन्तों ने जन-भाषा में लोगों को उपदेश दिये तथा उन्हीं में साहित्य की रचना की अतः इससे हिन्दी, बंगला, मराठी और गुजराती आदि भाषाओं तथा उनके साहित्य में काफी विकास हुआ। इस प्रकार जन भाषाओं के उत्थान के इतिहास में तो भक्ति आन्दोलन एक स्वर्ण युग सिद्ध हुआ।

अभ्यास-प्रश्न

1. भक्ति आन्दोलन के उद्भव एवं विकास को रेखांकित कीजिये।
2. भक्ति आन्दोलन के कारण और प्रभावों का वर्णन कीजिये।
3. भक्ति आन्दोलन की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डाले।
4. भक्ति आन्दोलन के प्रमुख जन्तों का वर्णन करें।

इन रंजंतंअं-अपकृ च्त्तपउमउपदपदम वं

कंज्रंउं सपचमदकनजवु नमउचंसमजंजतंकन रंजंतमकमे जमीजंअं जमतेँउलउमक अंतमदपदेँ
रंउं तिमजजंउंजमाज व्रं ।तंदहांज उंजजमतइपन ।द इत्रंपदहकंस अंद, जमचंदांमजंदवजजं
चंसह अह्यदह ।दहंहंकमइमतमदजमउ, कपदमत इंदकेंरखदंतामजंद ईमउमदज कंजं
वजनतनउनसंजवतं अंदकंह ।द ज्ञनइं जंचमजमतपम

200

भारत में सूफी धर्म

भारत का इतिहास

(1200 से 1739 तक)

इस्लामी रहस्यवाद (डनेसपउ उलेजपबपेउ) को ही सूफी धर्म कहा जाता है। सूफी धर्म का भारत में प्रवेश यहां दिल्ली सल्तनत की स्थापना होने (1206 ई.) के कई वर्षों पूर्व हो गया था। परन्तु दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात् ही बाहरी मुस्लिम देशों से बड़ी संख्या में सूफी भारत में आये और वहां विभिन्न भागों में बस गये।

सूफी धर्म की उत्पत्ति

जहाँ तक सूफी धर्म की उत्पत्ति का प्रश्न है, इस बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। डा. यूसुफ हुसैन का मानना है कि सूफी धर्म का जन्म इस्लाम के पक्ष में हुआ था और यह विदेशी विचारों और रस्मों से प्रभावित नहीं हुआ। यद्यपि सूफी धर्म भारत में कई सौ वर्षों तक

भारत का इतिहास

प्रचलित तो रहा लेकिन वह भारतीय विचारधारा और वातावरण से अछूता रहा। ७ डा. यूसूफ हुसैन के इस मत को पूरी तरह से स्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ तक सूफी धर्म के भारत से बाहर और इस्लाम धर्म से जन्म होने का प्रश्न इस बारे में निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु जहाँ तक भारत में सूफी धर्म के इतिहास का सवाल है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह हिन्दू विचारधारा, विश्वास और रीति-रिवाज से बहुत ही प्रभावित हुआ है। उदाहरण के लिए आत्मा तथा परमात्मा के बीच प्रेमिका और प्रेमी जैसे सम्बन्ध होने की बात हिन्दू धर्म की अपनी विशेषता है जिसे कि भारत में सूफियों ने अपना लिया था। इसी प्रकार उपवार करना और षरीर को यातना देना आदि कुछ ऐसी प्रथाएँ थीं जो सुफियों ने हिन्दू धर्म ग्रहण की थीं। इसी प्रकार चिप्ती सम्प्रदाय (सिलसिले) ने भारत में अपने विकास के पारम्भिक चरण बहुत सी हिन्दू प्रथाएँ और रिवाज अपना लिये थे। ऐसी प्रथाओं में षेख (खानकाह का प्रधान) को, झुककर प्रणाम करना, कमण्डल रखना, नवीन अनुयायियों के सिर का मुण्डन, भक्त मण्डलियाँ (सभा) आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार जैसा कि आषीर्वादी लाल श्रीवास्तव (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति) मानते हैं, श्भारत से बाहर मुस्लिम देशों में सूफी धर्म का मूल आकार-प्रकार जो भी रहा हो, लेकिन भारत में आने के बाद इसका रूप काफी बदल गया। ७

में

वहादतुल वुजुद (आत्मा परमात्मा की एकता) का सिद्धान्त

सूफी लोग आत्मा और परमात्मा की एकता के सिद्धान्त में जिसे वे वहातुल बुजुद के नाम से पुकारते थे, विश्वास करते थे। इसमें हक को परमात्मा और खलक को सशिट माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सुशिट की विभिन्नता में ईश्वर की एकरूपता ही निहित है और सभी देखे जाने वाले पदार्थों के पीछे वही वास्तविकता है। षेख मुहीउद्दीन इब्दुल अरबी (1165–1240 ई.) ने इस सिद्धान्त को जिसका कि उल्लेख फुतहात-ए-मक्किया नामक ग्रंथ में मिलता है, इन षब्दों में व्यक्त किया गया है, ईश्वर के सिवा कुछ नहीं है, ईश्वर के अतिरिक्त वहाँ किसी का अस्तित्व नहीं है, यहाँ तक कि षहाँ ७ जैसा भी कुछ नहीं है और सभी चीजों का सार एक ही है। १ डॉ. आषीर्वादी लाल श्रीवास्तव (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति) लिखते हैं कि, श्सूफी लोग ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित करने के लिए आतुर रहते थे और वे आत्मा के परमात्मा में लीन हो जाने की सम्भावना पर विश्वास करते थे। कहा जाता है कि सूफी इस धुन में इतने खो जाते थे कि उन्हें परमात्मा से एक क्षण के लिए भी ध्यान हटाना गवारा नहीं होता था। १ परमात्मा में लीन हो जाने के इन आदर्ष को सूफी मारिफात या वस्ल (एकीकरण) के नाम से पुकारते हैं। परमात्मा में लीन हो जाने को इस यात्रा में उन्हें निम्न 10 अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता तौबा (पश्चाताप), वारा (विरक्ति), जहद (पवित्रता), फक (निर्धनता), सब्र (धैर्य), षुक्र (कष्टज्ञता), खौफ (भय), रजा (आषा), तबक्कुल (सन्तोष) और रजा (ईश्वर की इच्छा के प्रति अधीनता) ।

था

सूफियों के दो मुख्य लक्षण होते थे – (1) परमात्मा से सीधा बौद्धिक और भावनात्मक सम्पर्क स्थापित करना, और (2) इस्लाम एवं मानवता की सेवा करना। यह सेवा केवल मुसलमानों

तक ही सीमित नहीं थी बल्कि सूफी सन्तों द्वारा हिन्दुओं और विषेशकर निम्न जातियों के हिन्दुओं को भी इस्लाम

छात्र

207

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छात्र

पृष्ठ

206

का उपदेश दिया जाता था। सूफियों के उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक निम्न जाति के हिन्दू मुसलमान हो गये थे और इस प्रकार भारत में इस्लाम के प्रसार से सूफी सन्तों की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी।

सूफी सन्त खानकाओं में रहते थे। उनके खानकाह और जमैयत खाने आमतौर पर नगर के बाहर हरिजन और निम्न जातियों की बस्तियों के पास हुआ करते थे। ये खानकाह साधारणतः मिट्टी के बने होते थे। इनमें एक या दो कमरे होते थे और घास-फूस से छाया रहता था। सूफी सन्त जमैयतखाना में ही अपने शिष्यों को उपदेश दिया करते थे। सूफी सन्त एक से अधिक पत्नियाँ भी रखते थे। उदाहरण के लिए जैसा कि बताया जाता है शेर मुइनुद्दीन चिश्ती के दो पत्नियाँ थीं। सूफी, विषेशकर चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी, गरीबी का जीवन व्यतीत करते थे और उनकी आजीविका का मुख्य साधन सर्वसाधारण द्वारा स्वेच्छा से दी गयी भिक्षा होती थी। उनमें से कुछ खेती द्वारा भी जीविका कमाते थे। परन्तु चिश्तियों के विपरीत सुहरावर्दी सम्प्रदाय के सूफी सुल्तानों द्वारा दी गयी भेंटें स्वीकार करते थे और टाट-बाट का जीवन व्यतीत करते थे।

मुख्य सूफी सम्प्रदाय

भारत में सूफी कई सम्प्रदायों में बँटे हुए थे। इनमें चिश्ती, सुहरावर्दी, नक्शबन्दी और कादिरि प्रमुख हैं। इन सम्प्रदायों को षलिलसिले के नाम से पुकारा जाता था। सुहरावर्दी सम्प्रदाय मुख्य रूप से सिन्ध, मुल्तान और पंजाब तक ही सीमित था यद्यपि सुहरावर्दी सन्त दिल्ली और अवध में भी पाये जाते थे जबकि चिश्ती समादाय भारत के अनेक भागों में, जैसे—अजमेर, राजस्थान के कुछ अन्य नगरों और पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल, उड़ीसा तथा दक्षिण के अनेक भागों में फैला हुआ था।

चिश्ती सम्प्रदाय

चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी सन्त पूर्णतः अपने आप को सुल्तानों, राजनीति और सरकारी सेवा से अलग रखते थे और उनके प्रति घण्टा और उदासीनता का भाव रखते थे। अधिकांश चिश्ती

भारत का इतिहास

सूफी संत अत्यंत दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते थे। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति को मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में बहुत बड़ी बाधा मानते थे। उदाहरण के लिए षेख मुईनुद्दीन चिश्ती और षेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी का अपना स्वयं का कोई घर नहीं था। षेख फरीदगंज-ए-षंकर ने जब उनके जीवन के बाद के वर्षों में उनका परिवार बहुत अधिक बढ़ गया तभी अपने परिवार के लिए एक छोटा-सा कच्चा घर बनाया था। साधारणतः चिश्ती संतों के घरों में सदैव भूख की स्थिति बनी रहती थी। उनकी जीविका का मुख्य साधन सर्वसाधारण द्वारा दी गयी भेंटें होती थीं। सम्भवतः 13 वीं सदी में हमीदुद्दीन नागौरी ही एकमात्र ऐसे चिश्ती सन्त थे जिन्होंने जीविका के लिए भेंटों की बजाय कृषि करना अधिक उचित माना।

चिश्ती सन्त इच्छाओं का दमन करने के लिए जिनसे कि मनुष्य को कभी सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता, भूखे मरना मुख्य आवश्यकता मानते थे। कहा जाता है कि षेख फरीद चौबीस घण्टों के दौरान भोजन के रूप में एक गिलास शर्बत, कुछ मुनक्के और एक ज्वार की रोटी लेते थे। बहुधा चिश्ती सन्तों के पास अपना तन ढकने के लिए पर्याप्त कपड़े भी नहीं होते थे। षेख मुईनुद्दीन चिश्ती अपना शरीर ढकने के लिए केवलमात्र एक कपड़ा प्रयोग करते थे जिसमें कि जगह-जगह पैबन्द लगे हुए होते थे। षेख फरीद अपने फटे कपड़ों में ही बड़ा आध्यात्मिक सुख अनुभव करते थे।

षेख मुईनुद्दीन चिश्ती

मुईनुद्दीन चिश्ती भारत में चिश्ती सम्प्रदाय के प्रथम सन्त थे। उनकी दरगाह अजमेर में है और वे ख्वाजा के नाम से जाने जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि उनका जन्म 1141 ई. के लगभग पूर्वी ईरान में स्थित सिजिस्तान नामक प्रान्त में हुआ था वे अपनी युवावस्था में ही भारत पर मुहम्मद गौरी के आक्रमण तथा तराइन के द्वितीय युद्ध में अजमेर के चौहान शासक पृथ्वीराज तृतीय की पराजय के पूर्व ही भारत आ गये थे और कुछ समय तक लाहौर में रहने के बाद फिर अजमेर आकर वहीं स्थायी रूप से बस गये थे। षेख मुईनुद्दीन ने दो विवाह किये थे और कहा जाता है कि उनकी एक पत्नी हिन्दू और दूसरी मुसलमान थी। अजमेर में ही 1236 ई. में उनकी मृत्यु हो गई थी। ख्वाजा का मानना था कि ईश्वर के समक्ष सभी बराबर हैं और मानवता की सेवा करना ही ईश्वर को सर्वोच्च भक्ति है। उन्होंने हिन्दुओं के प्रति बड़ा ही उदार दृष्टिकोण अपनाया था। यही कारण था कि वे हिन्दू और मुसलमानों में समान रूप से प्रिय थे।

षेख हमीदुद्दीन नागौरी

षेख हमीदुद्दीन नागौरी मुईनुद्दीन चिश्ती के मुख्य शिष्य थे। मुईनुद्दीन चिश्ती ने उनकी साधना तथा भक्ति से प्रभावित होकर उनको सुल्तान-उत-तारिकीन (सूफियों के सुल्तान) की उपाधि दी थी। वे भी मुईनुद्दीन चिश्ती की तरह गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे और अपनी पत्नी सहित नागौर के पास सुवाल नामक गाँव में एक कच्ची झोंपड़ी में रहते थे। अपनी जीविका के लिए वे एक छोटे-से भू-भाग के खेत में खेती करते थे और एक साधारण ग्रामीण की तरह रहते थे। भारत में हमीदुद्दीन नागौरी ही एकमात्र ऐसे चिश्ती संत थे जो जीविका के लिए सर्वसाधारण से किसी भी प्रकार की भेंट स्वीकार नहीं करते थे और कृषि कार्य से ही अपना काम चलाते थे। उनकी मृत्यु 1276 ई. में नागौर में हुई।

कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी

कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी षेख मुइनुद्दीन चिप्ती के प्रमुख षिश्य और भारत में चिप्ती सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध सूफी संत थे। उनका जन्म फरगाना के औस नामक स्थान पर हुआ था। किन्तु वे इल्तुतमिष के शासनकाल में दिल्ली में आकर बस गये थे। सुल्तान इल्तुतमिष उनका बड़ा सम्मान करता था और उन्हें अपना गुरु मानता था। उसने उनके अपने महल के ही पास रहने की प्रार्थना की थी किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया और शहर के बाहर एक खानकाह में रहने लगे। इल्तुतमिष ने उन्हें षेख –उल–इस्लाम का पद स्वीकार करने की प्रार्थना की तो उन्होंने इसे भी स्वीकार करने से मना कर दिया। षेख कुतुबुद्दीन काकी रहस्यवादी गीतों के बड़े प्रेमी थे। उनकी मृत्यु 1235 ई. में दिल्ली में हुई।

षेख फरीदुद्दीन गंज–ए–षकर

षेख फरीदुद्दीन षेख कुतुबुद्दीन काकी के सबसे प्रिय षिश्य थे। उनका जन्म मुल्तान के पास कहिवाल नामक जगह पर 1175 ई. में हुआ था। वे छोटी उम्र में ही षेख कुतुबुद्दीन काकी के षिश्य हो गये थे। बाद में वे पहले कुछ समय हाँसी में रहे और फिर वहाँ से अजोधन चले गये और वहीं स्थायी रूप से बस गये थे। अजोधन में ही 1265 ई. में उनकी मृत्यु हुई और वहीं उन्हें दफना दिया गया। जैसा कि सियारुल औलिया से हमें जानकारी मिलती है षेख फरीदुद्दीन के कई पत्नियाँ और सन्तानें थीं और वे बड़ा ही दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते थे तथा उनकी सदैव ही भूखों मरने की नौबत बनी रहती

थीं।

षेख फरीदुद्दीन जनसाधारण में षेख फरीद के नाम से प्रसिद्ध थे। उन्होंने अनेक षिश्यों को शिक्षा दी थी और बहुत से खानकाह स्थापित किये थे। उनके प्रमुख षिश्यों में षेख निजामुद्दीन औलिया सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। षेख फरीद ने हाँसी और अजोधन में सूफी धर्म का प्रचार किया। ऐसा माना जाता है कि उन्हीं के प्रयत्नों से चिप्ती सम्प्रदाय एक अखिल भारतीय सम्प्रदाय बन गया था।

निजामुद्दीन औलिया

षेख निजामुद्दीन औलिया षेख फरीद के सबसे मुख्य षिश्य थे। उनका जन्म 1236 ई. में बदायूं में हुआ था। वे बीस वर्ष की आयु में अजोधन आ गये और यहीं षेख फरीद के षिश्य बन गये। 1258 ई. में वे अजोधन से दिल्ली आये और वहाँ गयासपुर में उस स्थान पर बस गये जहाँ कि आजकल उनकी दरगाह स्थित है। 1265 ई. में उनके गुरु षेख फरीद ने उन्हें अपना खिलाफतनामा बख्शा और चरिती सम्प्रदाय के सिद्धांतों का प्रचार करने का आदेश दिया जिसे उन्होंने बड़ी सफलता से पूरा किया। इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी (तारीखे फीरोजशाही) लिखता है कि, षेख निजामुद्दीन ने अपने द्वार सभी लोगों के लिए खोल दिये थे और उन्होंने अमीरों तथा सामान्य व्यक्तियों, धनी तथा निर्धनों, शिक्षितों और अशिक्षितों, षहरियों और देहातियों, सैनिकों तथा सेनानायकों और स्वतंत्र व्यक्तियों तथा दासों सभी को अपना षिश्य बनाया था। ये लोग बहुत–सी अनुचित बातों से दूर रहते थे क्योंकि वे स्वयं को षेख का षिश्य मानते थे। जनसाधारण का झुकाव मजहब और नमाज की ओर हो गया था और उनके स्त्री–पुरुष, युवक और वृद्ध, दुकानदार और नौकर, बच्चें और गुलाम सभी

भारत का इतिहास

उनकी खानकाह में नमाज पढ़ने आते थे। बहुत से लोग जो प्रायरू षेख के दर्शनों को आते थे, नियमानुसार अपनी चप्प और इषराक की नमाज पढ़ते थे।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छब्बै

209

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

210

छब्बै

—

निजामुद्दीन औलिया ने अपने जीवनकाल में बड़ी ख्याति प्राप्त की और वे महबूबे इलाही (अल्लाह के प्रिय) के नाम से प्रसिद्ध हो गये। उनके प्रचार कार्य ने भारत में चिश्ती सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाने में बहुत योगदान दिया। निजामुद्दीन औलिया सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद से लेकर सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक तक दिल्ली के सात सुल्तानों के समकालीन थे किन्तु वह इनमें से किसी के भी दरबार में कभी नहीं गये। कहा जाता है कि सुल्तान जलालुद्दीन खलजी षेख निजामुद्दीन से भेंट करने के लिए बड़ा उत्सुक था। किन्तु षेख ने उससे मिलने से इन्कार कर दिया था। सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी ने जब उनको दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया तो उन्होंने इस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया।

सुहरावर्दी सूफी सम्प्रदाय— बहाउद्दीन जकारिया

भारत में चिश्ती सम्प्रदाय के बाद सुहरावर्दी सम्प्रदाय दूसरा प्रमुख सूफी सम्प्रदाय था। इस सम्प्रदाय का प्रसार मुख्य रूप से उत्तर-पश्चिम भारत में हुआ था। इस सम्प्रदाय के संस्थापक षेख षिहाबुद्दीन सुहरावर्दी थे। भारत में उनके अनेकों शिष्य थे जिनमें मुल्तान के षेख बहाउद्दीन जकारिया विशेष प्रसिद्ध थे। वास्तव में भारत में सुहरावर्दी सम्प्रदाय को संगठित करने का श्रेय बहाउद्दीन जकारिया को ही है।

वे उनका जन्म मुल्तान के समीप कोट अरोर नामक स्थान पर 1182–83 ई. में हुआ था। युवावस्था ही अध्ययन के उद्देश्य से इस्लामी शिक्षा के केन्द्र खुरासान बगदाद, बुखरा, मदीना आदि का भ्रमण कर चुके थे। बगदाद में वे षेख षिहाबुद्दीन सुराहवर्दी से मिले थे और वहीं वे उनके शिष्य बन गये थे। बाद में अपने गुरु के निर्देशानुसार उन्होंने मुल्तान में एक खानकाह स्थापित की थी और वहीं रहकर काफी समय तक वे सुहरावर्दी सम्प्रदाय के प्रसार के लिए कार्य करते रहे थे। यहीं 1262 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी।

+

बहाउद्दीन जकारिया की गिनती भारत में 13 वीं शताब्दी के बहुत ही प्रभावशाली सूफी सन्त के रूप में होती है। चिश्ती सन्तों की तरह वे निर्धनता का जीवन जीने और शरीर को यातनाएँ देने में विश्वास नहीं करते थे, बल्कि वे एक आरामदेह और संतुलित जीवन व्यतीत करने में विश्वास रखते थे। वे आत्मदमन और उपवासों में अधिक आस्था नहीं रखते थे। किन्तु

वे इस्लाम के नियमों का दृढ़ता से पालन करने में विश्वास रखते थे। बहाउद्दीन जकारिया धन के संग्रह को अनुचित नहीं मानते थे। उन्होंने स्वयं ने बड़े पैमाने पर धन संग्रह किया था। चिष्टी सन्तों के विपरीत वे अपने समय के राजनीतिक मामलों में भी भाग लिया करते थे। यही कारण था कि बहुत से लोग और विशेष रूप से उच्च वर्ग के लोग उनके अनुयायी बन गये थे। उन्होंने सुहरावर्दी सम्प्रदाय को चिष्टी सम्प्रदाय से बिल्कुल भिन्न व्यवस्था पर संगठित किया था।

षेख सदुद्दीन आरिफ

षेख बहाउद्दीन जकारिया की मृत्यु के बाद उनके पुत्र षेख सदुद्दीन आरिफ उनके उत्तराधिकारी हुए और मुल्तान में उनका स्थान ग्रहण किया जबकि उनके शिष्य सैय्यद जलालुद्दीन सुर्ख बुखरी ने उच्छ में एक प्रभावशाली सुहरावर्दी सूफी केन्द्र की स्थापना की। इस प्रकार भारत में सुहरावर्दी सम्प्रदाय मुल्तान और उच्छ की दो शाखाओं में विभाजित हो गया। बहाउद्दीन जकारिया के पश्चात् सुहरावर्दी सूफियों ने वंशानुगत उत्तराधिकार का नियम अपना लिया। सदुद्दीन आरिफ मुल्तान की सुहरावर्दी शाखा के लगभग 23 वर्ष का प्रधान रहे। धार्मिक एवं राजनीतिक मामलों में उनके विचार अपने पिता से मौलिक रूप से भिन्न थे। अपने पिता के विपरीत धन संचय को वे अपने आध्यात्मिक विकास में बाधक मानते थे। इसलिए कहा जाता है कि अपने पिता की सम्पत्ति में से जो हिस्सा उनको प्राप्त हुआ था, उनमें से उन्होंने 7 लाख टंका दान कर दिया था। यही नहीं उन्होंने खाकाह के जीवन में भी सादगी ला दी थी।

सैय्यद जलालुद्दीन सुर्ख बुखरी

जलालुद्दीन सुर्ख बुखरा के निवासी थे। वहाँ से वे मुल्तान आये और यहाँ बहाउद्दीन जकारिया के शिष्य बन गये थे। जलालुद्दीन सुर्ख बड़े प्रभावशाली सूफी सन्त थे। उनके विचारों से प्रभावित होकर उच्छ बहुत से हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था। उनके नेतृत्व में सुहरावर्दी सम्प्रदाय की उच्छ शाखा ने सिन्ध के राजनीतिक और धार्मिक जीवन में बहुत महत्व प्राप्त कर लिया था।

51.

सैय्यद जलालुद्दीन मखदूम-ए-जहानियाँ (१३०८-१३८३ ई.)

सैय्यद जलालुद्दीन मखदूम-ए-जहानियाँ सैय्यद जलालुद्दीन सुर्ख बुखरी के पौत्र थे। उनकी गिनती अपने समय के महान् सुहरावर्दी सन्तों में की जाती थी। उन्होंने भारत से बाहर अनेक इस्लामी देशों की यात्रा की थी और वहाँ वे अपने गुरु के बहुत से सूफी सन्तों के सम्पर्क में आये थे। मुहम्मद बिन तुगलक ने उनके विचार से प्रभावित होकर उन्हें षेख-उल-इस्लाम के पद पर नियुक्त कर दिया था। मुहम्मद बिन तुगलक के बाद उसका उत्तराधिकारी फीरोज तुगलक भी उनका बड़ा सम्मान करता था।

षेख रुकनुद्दीन अबुल फथ

सदुद्दीन आरिफ की मरत्यू के बाद उनके पुत्र रुकनुद्दीन अबुल फथ सुहरावर्दी सम्प्रदाय की मुल्तान शाखा के प्रधान बने। उन्होंने सुहरावर्दी सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाने और उसका



प्रचार करने के लिए बहुत कार्य किया। आधुनिक विद्वानों का मत है कि सुहरावर्दी सम्प्रदाय के इतिहास में रुकनुद्दीन को वही स्थान प्राप्त है जो चिष्टी सम्प्रदाय में निजामुद्दीन औलिया का है। उन्होंने लगभग आधी सदी तक सुहरावर्दी सम्प्रदाय के विचारों का खूब प्रचार किया। जियाउद्दीन बरनी लिखता है कि सिन्ध की समस्त जनता उनका खूब सम्मान करती थी और अनेकों उलेमा तक उनके विचारों से प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गये थे।

कादिरि सम्प्रदाय

कादिरि सम्प्रदाय की स्थापना बगदाद के शेख अब्दुर कादिर जिलानी के द्वारा 12 वीं शताब्दी में की गयी थी। भारत में इस सम्प्रदाय के प्रथम सन्त शाह नियामतुल्ला और नासिरुद्दीन मुहम्मद जिलानी थे और वे 15 वीं शताब्दी के मध्य में हुए थे। मुहम्मद जिलानी सिन्ध में उच्छ में बस गये थे।

मुगलकाल में शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दारशिकोह कादिरि सम्प्रदाय का अनुयायी बन गया था और उसने कादिरि सम्प्रदाय के सूफी संत मिया मौर से लाहौर में भेंट भी की थी। दारा द्वारा कादिरि सम्प्रदाय से ही सूफी धर्म के बारे में ज्ञान प्राप्त किया गया था और सूफियों पर उसने दो स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की थी।

नक्शबन्दी सम्प्रदाय

नक्शबन्दी सम्प्रदाय की गिनती भी एक प्रमुख सूफी सम्प्रदाय के रूप में की जाती थी किन्तु भारत में इसका प्रवेश बहुत बाद में मुगल में हुआ। भारत में नक्शबन्दी सम्प्रदाय का प्रचार ख्वाजा बकी बिल्लाह (1563–1603 ई.) द्वारा किया गया था। वह इस सम्प्रदाय के जन्मदाता ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्दी (1317–1389 ई.) के सातवें उत्तराधिकारी थे। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सनातन इस्लाम में आस्था रखते थे और इस्लाम धर्म में किसी भी प्रकार के परिवर्तन किये जाने के विरोध थे।

अभ्यास—प्रश्न

1. सूफी शब्द का अर्थ, उत्पत्ति एवं इसके विकास पर प्रकाश डालें।
2. सूफी धर्म के सिद्धांतों एवं भारत में इसकी भूमिका का वर्णन करें।
3. सूफीवाद के प्रमुख संतों का परिचय दें।
4. मध्यकालीन सांस्कृतिक समन्वय में सूफी सन्तों के योगदान का उल्लेख करें।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

छात्र

211

भारत का इतिहास

(1200 से 1739 तक)

छात्र

इकाई पाँच

मुगल प्रशासन, भू-राजस्व एवं मनसबदारी

मुगल केन्द्रीय प्रशासन

शासन की धुरी मुगल सम्राट ही हुआ करते थे और राज्य के सारे मामले राजा के आगे पीछे घूमा करते थे लेकिन अत्यन्त केन्द्रीकृत मुगल प्रशासन की विविध गतिविधियों को संचालित करना अकेले, बादशाह के लिए मुमकिन नहीं था सरकार का कार्य अच्छे तरीके से चलाने के लिए एक मंत्रिपरिशद का होना आवश्यक था मुगल शासकों के काल में शाही नीति के इन वजीरों की हैसियत शासकों के साथ बदलती रहती थी बाबर ने मेहदी ख्वाजा को अपना प्रधान मंत्री और जैनुद्दीन को अपना सद्र बनाया था। लेकिन हुमायूँ के जमाने में किसी को भी सचिव से अधिक पद की हैसियत अता नहीं की गई। मुगल सम्राट अकबर द्वारा उठाए गए अधिकांश कदमों का स्रोत, जो वह स्वयं को मानता था उचित नहीं हैं क्योंकि इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि उसे सलाह मशविरा देने के लिए एक योग्य और समझदार मंत्रियों पर आधारित एक परिशद अवश्य थी।

वकील

}

र

मुगल प्रशासन में मंत्रिपरिशद के लिए विजारत शब्द का प्रयोग किया गया है। जब बाबर ने भारत में मुगल साम्राज्य की बुनियाद रखी थी तो उस समय वजीर की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। लेकिन हुमायूँ की अचानक मौत के बाद वजीर की स्थिति में काफी तब्दीली हुई। हुमायूँ का उत्तराधिकारी अकबर नाबालिक था और इसे स्थिति में बैरम खान न सिर्फ उसका शिक्षक अभिभावक बल्कि उसका वकील भी रहा। जिसका कार्य अकबर के नाम पर राज्य प्रमुख के समस्त कार्यों का मुकम्मल पूर्ति करना था। इस तरह वकील का काम अचानक काफी महत्वपूर्ण हो गया और शीघ्र ही उसे वकील ए-मुतलक के नाम से जाना जाने लगा। 1556-1560 तक बैरम खान ने अकबर के समस्त अधिकारों का उपयोग किया इस तरह उसकी हैसियत सर्वोच्च शक्तिमान हो गई थी। परन्तु 1560 तक अकबर ने बैरम खान का समस्त सत्ताधिकार छीन लिया और उसकी गलतियाँ बता कर उसे बर्खास्त कर दिया एवं बैरम खान को तीर्थयात्रा के लिए मक्का जाने का आदेश दे दिया गया।

अकबर के जानपीनों ने उसी की नीति का अनुसरण किया और भविष्य में कोई भी वकील बैरम खान की भांति शक्तियों का उपयोग नहीं कर सका। शाहजहाँ ने अपने शासनकाल के पहले 14 वर्षों तक एतमा-दौला के पुत्र आसफखान को वकील के पद पर रखा और उसके बाद इस पद को ही समाप्त कर दिया गया। 1560-1657 की अवधि में सिर्फ दस वकील पद के अधिकार एवं कर्तव्यों को चार मंत्रियों के बीच दिया गया।

1. दीवान या वजीर

राजस्व एवं विलीन मामलात का जिम्मेदार था।

212

2. मीर बख्शी – जिस पर सेना के प्रशासन एवं संगठन की जिम्मेदारी थी।

3. सद्र यह धार्मिक एवं न्याय विभाग का प्रमुख था

।सं

4. मीर समत मुख्य कार्यकारी अधिकारी ।

इसकी विशेष जिम्मेदारी राज्य के कारखाने और मंगर की देखभाल एवं नियंत्रण करना था ।

दीवान अथवा वजीर

दीवान शब्द फारसी मूल का है इसका प्रयोग खजाना विभाग के लिए आरंभ में किया गया था। सल्तनत काल में इस शब्द का प्रयोग वजीर के विभाग के लिए किया जाता था। जिसके अन्तर्गत राजस्व और वित्त आते थे। लेकिन मुगल काल में इसे निश्चित कार्य प्रदान किया गया और इसे राजस्व एवं वित्त तक की सीमित रखा गया। अकबर के दौर में राजा टोडरमल को दीवान-ए-अशरफ के पद से नवाजा गया वजीर शब्द का प्रयोग केवल मुगल बादशाह के वित्त मंत्री के लिए ही किया जाता था जबकि दीवान शब्द का प्रयोग प्रांतों के राजस्व के प्रभारी अधिकारी के साथ ही जमींदारों एवं मनसबदारों के वित्तीय प्रबंधकों के लिए भी किया जाता था। अकबर के समय में दीवान का पद मुजफ्फर खान, राजा टोडरमल और ख्वाजा मंसूर के आता जाता रहा।

1582 में टोडरमल के षाही दीवान बना दिया गया और उन्हें वित्तीय प्रशासन में सुधार के लिए विशेष योजना तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपी गई। दीवान के दायित्वों के सम्बन्ध में अबुल फजल लिखता हैं कि ९ वजीर, जिसे दीवान भी कहा जाता है,

वित्तीय मामलों में मुगल बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। वह षाही खजाना का प्रबंधक होता है, सभी खातों की जांच करता है। इस प्रकार राजस्व विभाग की प्रमुख हैसियत से वह उस प्रत्येक अधिकारी पर नजर रखता था जो जागीर से तनखाह पाते थे। राजस्व विभाग के साथ ही उस पर राज्य के प्रमुख अधिकारी का दायित्व भी था इस कारण प्रांतों के गवर्नर से लेकर आमिल एवं पटवारी तक सभी प्रांतीय अधिकारियों पर उसका नियंत्रण रहता था वित्त मंत्री की हैसियत से खजाने में आने और उस से बाहर जाने वाली पाई न्याई तक पर उसकी पूरी निगरानी रहती थी।

इस प्रकार दीवान वजीर की तीनों जिम्मेदारियों उसे केन्द्रीय सरकार के तीनों विभागों और प्रांतीय प्रशासन के हर क्षेत्र से जोड़े रखता था। इसके अतिरिक्त, इस विभाग के अन्तर्गत अन्य विभागीय शाखाएं भी थी जिनमें प्रत्येक का अलग प्रमुख होता था। जैसे दीवान-ए-खालसा खालसा राजा की भूमि के लिए, दीवान-ए-तन नकद तनखाहों के लिए, दीवान-ए-जागीर राजस्व के कसूर्य के लिए दिए जाने वाले वेतनों के वास्ते, दीवान-ए-तौजीह सेना के लेखा जोखा, दीवान-ए-बयुतात मीर समन के विभाग कारखानों इत्यादि के लिए दीवान-ए-सादात

धार्मिक मामलों का लेखा जोखा, खजांना मुस्तौफी लेखा परीक्षक और मुषरिफ मुख्य लेखापाल ।

मीर बख्शी वकील के मातहत जिन अधिकारियों का उल्लेख अबुल फजल करता है उसमें मीर बख्शीसब से अधिक षक्तिषाली था। इन्ने हसन के अनुसार श्मुगल सम्राज्य के मीर बख्शी के पास सैन्य विभाग के प्रमुख की हैसियत से दीवान-ए-आरिज के समस्त अधिकार होते थे। मनसबदारों की नियुक्ति आदेश मीर बख्शी के द्वारा ही जारी होते थे। घोड़ों के दागने और सिपाहियों का मुआयना करने का काम उसी के जिम्मे था वह सरखत (तर्ज) नामक परवाने पर हस्ताक्षर कर के मासिक वेतन भी जारी करता था। स्वयं मीर बख्शी उच्च श्रेणी का मनसबदार होता था और वही मनसबदारी व्यवस्था के

सुचारु संचालन के लिए उत्तरदायी होता था। वह मनसबदारों के पद पर सक्षम लोगो की नियुक्ति हो उसकी देखरेख भी करता था। वह नौकरी के पाने के इच्छुक उम्मीदवारों को सम्राट के समक्ष प्रस्तुत करता था। प्रातों से वाकिया नवीस खबरें सीधे मीर बख्शी के पास भेजते थे। मीर बख्शी ही षाही महल के एवं राजधानी के पहरेदारों की सूची भी तैयार करता था। विषिष्ट मेहमानों एवं राजदूतों को सम्राट के सामने ष पैरा करने की जिम्मेदारी भी मीर बख्शी की ही थी।

धार्मिक मामलों की देखभाल करने के लिए एक धार्मिक विभाग बनाया गया था जिसका प्रमुख षसद्र होता था। इस का मुख्य कार्य षरीयत की रक्षा करना था, अतः षरीयत के ज्ञान की बढ़ोतरी करना और षरीयत के अनुसार न्याय प्रदान करना इसकी जिम्मेदारी थी। मुगल काल में इस विभाग के प्रांतों एवं

सरकारें में इसकी षाखाएं खोली गई एवं दूर सुबे में एक प्रभारी सद्र होता था। केन्द्रीय प्रषासन में साम्राज्य के सद्र को सदुस- सदूर या संद्र-ए-कुल कहा जाता था। सहस-सदूर की विषेश जिम्मेदारी उलमा के उपर कड़ नजर रखना, षिक्षा और दान नकद एवं भूमि के साथ न्याय विभग पर भी निगरानी रखना था। सद्र दान में दी जाने वाली भूमि का भी निराक्षण करता था ऐसी भूमि लगान मुक्त होती थी और इसको सयूरगल या मदद-ए-माष कहा जाता था। वह मुगल बादषाह द्वारा प्रदान की जाने वाली छात्रवृत्ति वजीफों का भी निरीक्षण करता था। सद्र का यह दायित्व था कि इन अनुदानों का दुरुपयोग न होने पाए।

मीर समन (सामा)

यह केन्द्रीय भंडार का प्रभारी होता था। जिन से राज्य की आवष्यकताओं के साथ ही षाही परिवार की आवष्यकताओं की भी पूर्ति होती थी, उसका पद दीवान और मीर बख्शी के समकक्ष था। सम्राट से उसका सीधा संपर्क रहता था। मीर सामा के विभाग का संबंध सभी प्रकार की चीजा से था जैसे हीरे जवाहरात या अस्त्र-षस्त्र, गोला-बारूद वगैरह मुगल साम्राज्य में बड़ी संख्या में कारखाने थे। राजधानीके अतिरिक्त दूसरी जगहों पर भी कारखाने स्थित थे। मीर सामा के मातहत कार्य करने वाले अधिकारी ओर कर्मचारी पर्याप्त संख्या में थे, विषेश कर दीवान-ए-बयुतात विभाग वित्तिय कार्यों का दायित्व, मुषरिफ मुख्य

भारत का इतिहास

लेखापाल, दारोगा कारखानों की देखभाल करने वाला, एवं तहवीलदार कारखानों के लिए आवश्यक नकदी एवं माल का प्रभारी, कार्यरत थे।

प्रांतीय प्रशासन

बाबर और हुमायूँ को अपने संक्षिप्त राज्य काल युद्धों एवं हार जीत में गुजारने पड़े थे उन्हें प्रशासनिक ताने बाने को मजबूत करने का मौका पूर्ण तौर पर नहीं मिल सका। अकबर ने प्रांतीय प्रशासन का एक नया आधार दस वर्ष की राजस्व बंदोबस्ती या पब-प-वैसं के बाद बनाया अकबर ने साम्राज्य को बाहर सूबों में बाँट दिया था। इस प्रत्येक सुबे का एक राजधानी नगर था। अबुल फजल के अनुसार अकबर के 12 प्रांत थे

इलाहाबाद, आगरा, अवध, अजमेर, अहमदाबाद, बिहार, बंगाल, दिल्ली, लौहार, मुल्तान एवं मालवा बाद में बरार, खानदेश और अहमद नगर की विजय के साथ इनकी संख्या हो गई थी। अकबर द्वारा किया गया यह विभाजन भविष्य में भी मुगल साम्राज्य में चलता रहा। जहाँगीर के दौर में कोंगड़ा फतहकर को लाहौर के प्रांत में मिला दिया था। शाहजहाँ ने कश्मीर, थट्टा और उड़ीसा को अलग-अलग करके उन्हें स्वतंत्र सूबा बना दिया।

औरंगजेब ने गोलकुंडा एवं बीजापुर को जीत कर के कुल सूबों की संख्या 20 कर दी थी।

प्रशासन की आसानी के लिए प्रत्येक सूबे को अनेक इकाइयों में बाँटा गया था। इन इकाइयों को सरकार कहा जाता था। प्रत्येक सरकार को पुनः परगना या महल में तकसीम किया गया था। इन परगनों में जिले या दस्तूर बनाए गए थे जोकि प्रशासन की सब से छोटी इकाई होती थी। परगनों के मातहत गाँव होते थे।

अकबर के समय में एक प्रांत के प्रमुख को सूबेदार अथवा पिपहसार कहा जाता था। परमात्मा सरन के अनुसार सूबेदार बादशाह का उप- शासक होता था। अलग-अलग प्रांतों में वहाँ की स्थिति और आवश्यकता के अनुसार अलग-अलग प्रकार के गवर्नर होते थे। उसकी नियुक्ति सम्राट की आज्ञा से होती थी। प्रजा और सेना का कल्याण गवर्नर के न्यायपूर्ण प्रशासन पर निर्भर करता था। सभी प्रमुख अमीरों एवं अधिकारियों को आदेश था कि वे गवर्नर से सहयोग करें। प्रांतीय गवर्नर की सहायता के लिए प्रांतीय दीवान होता था। इसका कार्य महजों से राजस्व एकत्र करना, रोकड़ बही और रसीदों के हिसाब का लेखा-जोखा रखना, दान की भूमि की देखभाल करना था। इसके अतिरिक्त उसे सम्राट की और से इस बात के भी निर्देश थे कि वह कृषि के समर्थन को बढ़ावा दें, खजानों के काम-काज पर नजर रखे, किसानों पर

लगाए गए करों अबवाब (इंज) पर पूरी निगरानी रखे। संक्षेप में प्रांत के विभिन्न विभागों का व्यय निर्धारण पूरी तरह उसके हाथ में था।

प्रांत का दूसरा महत्वपूर्ण अधिकारी बख्शी हुआ करता था। सेना और मनसबदारी व्यवस्था का प्रबंधक होने के नाते केन्द्र और प्रांत के बीच कड़ी का कार्य करता था। उसकी नियुक्ति मुगल सम्राट द्वारा मीर बख्शी की सिफारिश पर होती थी। उसका मुख्य कार्य सैनिकों की भर्ती करना, सैनिक टुकड़ियों को चुस्त-दुरस्त करवाना, सेना के घोड़ों इत्यादि का निरीक्षण करना, मनसबदारों एवं उसके मातहतों के वेतन बिलों की स्वीकृति देना था। प्रांतों में नवीस या खुफिया नवीस गुप्त रूप से महत्वपूर्ण खबरों को उपलब्ध कराते थे। न्याय विभाग प्रांत

के अधीन होता था, फिर भी प्रांतीय सदर को न्याय विभाग का दायित्व भी दिया जाता था। इस रूप में वह सरकार में जिला स्तर पर काजियों की नियुक्ति के लिए नामों की सिफारिश करता था। उसे मीर-ए-अदल भी कहा जाता था।

स्थानीय प्रशासन

बेहतर व्यवस्था एवं अमन व चैन बनाए रखने के लिए प्रांतों को सरकारों में तकसीम किया गया था। ये सरकारें पुनः परगानों या महलों में विभाजित की गई थी। परगाना के नीचे ग्राम पंचायतें होती थीं।

सरकार

सरकार का कार्यकारी प्रमुख फौजदार होता था। प्रशासनिक नियमावली एवं आईन-ए-अकबरी से पता चलता है कि स्थानीय प्रशासन में फौजदार को मुगल साम्राज्य का सीधा प्रतिनिधि माना जाता था। विशेष रूप से कानून और व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी उसे सौंपी गई थी इसके अतिरिक्तकरों की बसौली में आमिल या असल गुजार की सहायता और अपने सरकार की सीमाओं एवं ग्रामीण क्षेत्रों की रक्षा में भी उसका सहयोग वांछनीय था। स्थानीय फौजों का निरीक्षण राजस्व एवं न्याय के मामलात में भी उसका हस्तक्षेप बना रहता था।

फौजदार के बाद सरकार में अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी आमिल या अमल गुजार था। उसका खास काम संपूर्ण राजस्व विभाग का सुचारु कार्य संपादन सुनिश्चित करना था। वह प्रांतीय दीवान की खास निगरानी एवं निर्देशों के अन्तर्गत कार्य करता था। किसानों की रक्षा करना, डाकुओं, हत्यारों को दण्डित करना, खेती को प्रोत्साहित करना, उपज की गुणवत्ता बढ़ाना, खेती की भूमि उपलब्ध कराना भी उसकी जिम्मेदारियों में शामिल था। अमलगुजार किसानों को ग्रामीण जमीनदारों इत्यादि के शोषण से भी बचाता था। वह खेती की जाने वाली भूमि संबंधी रिपोर्टों का परिमार्जन करता था। वह सर्वेक्षकों का मूल्यांकन करने वालों पर भी अपना नियंत्रण रखता था। वह खालसा भूमि का राजस्व भी वसूल करता था। आमिल को हर महीने मुगल सम्राट के दरबार में विशेष विवरणी भेजनी पड़ती थी विशेषकर उसके क्षेत्र में प्रजा की स्थिति, जागीरदारों की, पड़ोसी बाण्डियों की, विद्रोहों के दमन की, बाजार भाव की, गरीबी अवस्था की, ऐसी सभी जानकारियाँ वह भेजता था। इस प्रकार आमिल मुगल प्रशासन का एक महत्वपूर्ण होता था। वह ऐसा साधक था जिसके माध्यम से केन्द्रीय शासन लोगों की नब्ज खोल सकती थीं।

Ö -

सरकार का एक और महत्वपूर्ण अधिकारी कोतवाल भी होता था उसके प्रशासनिक अधिकार शहर और उसके उपनगरों तक ही सीमित थे। उसका खास काम असामाजिक तत्वों को दंड देना, शिकायतों को अविलंब दूर करना और शहर पर आम निगरानी रखना था। वह नगर के सभी हल्के के सभी लोगों की विस्तृत जानकारी रखता था तथा वह बाहरी तत्वों के आवागमन की जांच पड़ताल के वास्ते गुप्तचर की सेवाएँ भी लेता था। शहर में होने वाली तमाम चोरियों और डकैतियों की जिम्मेदारी कोतवाल पर थी। मुगल कालीन सरायों पर भी कोतवाल का नियंत्रण रहता था। कोतवाल एक महत्वपूर्ण अधिकारी था जो शहर की सम्पूर्ण सुरक्षा व्यवस्था संभालता था। पुलिस व्यवस्था के अतिरिक्त कोतवाल को बाजार का भी नियमन करना,



जमाखोरी रोकना एवं माप तौल का निरीक्षण भी उसी की जिम्मेदारी थी।

सरकार का एक महत्वपूर्ण अधिकारी काजी भी था। काजी का मुख्य काम न्यायिक प्रशासन ही था। परन्तु वह गरीबों की देखभाल करने वाले विभाग एवं धार्मिक कार्यों के लिए सुरक्षित कोश का भी प्रभारी होता था। औरंगजेब के शासनकाल में वह जकात और जजिया करों की वसूली के लिए उत्तरदायी था।

परगना

सरकार के अधीनस्थ परगना जो मुगल प्रशासन का प्रशासनिक उप संभाग था। षेरशाह के दौर से ही परगना में तीन महत्वपूर्ण अधिकारी, शिकदार, आमिल या अमीन और कानूनगों थे। परगना का कार्यकारी प्रमुख शिकदार होता था। परगने में उसके वही कार्य थे। इस प्रकार परगने की कानून और व्यवस्था के साथ ही अपराधियों को दण्ड देना भी उसी के दायित्व होते थे जो सरकार में अमल गुजारा के होते थे। राजस्व निर्धारण एवं उगाही के अपने कार्य में उसे किसानों का सीधा संपर्क करना होता था कानूनगों का पद भी परगने के प्रशासन से जुड़ा हुआ था। अबुल फजल का कहना था कि कानूनगों किसानों का आश्रयदाता था क्योंकि वहीं फसलों और कातकारों का पूर्ण विवरण रखता था। आमिल के साथ वही मुख्य रूप से सर्वेक्षण, मूल्यांकन एवं राजस्व वसूली के कार्य से संबंधित था।

गाँव

एक परगने में

बहुत गाँव होते थे। मुगल शासक ग्राम को एक स्वायत्त संस्था मानते थे और गाँव के स्थानीय प्रशासन में जैसे ग्राम प्रधान जिसे खूत, मकदम या चौधरी कहा जाता था, संरक्षण प्रदान करते थे। यही व्यवस्था गाँव और शासक के बीच कड़; का कार्य करता थीं। उसी के माध्यम से ग्राम के रहवासी मुगल शासक तक अपनी फरियाद पहुँचाते थे। ग्राम प्रधान का कार्य मुख्यतः आम निगरानी एवं सुरक्षा रखना, विवादों को निपटाना और गाँव से राजस्व वसूली में शासन को सहयोग प्रदान करना था।

मुगल भू राजस्व व्यवस्था.

मुगल काल में भू-राजस्व ही आय का मुख्य आधार स्रोत था। अतः मुगल कालीन ग्रंथों में इस संबंध में उसकी मात्रा संबंधित आंकलन एवं वसूली इत्यादि पर अधिक बल दिया गया है। राजस्व के आंकलन के लिए जन्त पद्धति को एक मानक पद्धति की रूपद में अपनाया गया था। इसके अनुसार फसल के अर्न्तगत क्षेत्र का मूल्य निर्धारित किया जाता था और उसके आधार पर मानक दरों को

लागू करके राजस्व की वसूली की जाती थी। आईने दह साला नामक शीर्षक के अन्तर्गत तालिकाओं में छले से लेकर चौबीसवें शासकीय वर्ष तक प्रतिवर्ष निर्धारित दर का ब्यौरा दिया गया है। अबुल फजल ने इस बात का विस्तृत ब्यौरा दिया है कि आइन के रचना काल सन 1595 (दस वर्षों की आइन) में 8 प्रांतों में क्या-क्या नकद दरें थी (दरस्तूर अमल) विवरण से पता चलता है कि एक प्रांत में फसलों की दरें समान रूप से निर्धारित नहीं की गई थी। षेरशाह के जमाने में आईने के आधार पर राजस्व दरों का आंकलन होता था। लेकिन

अबुल फजल के अनुसार अकबर के दस्तूरों का उद्देश्य भी प्रति बीघा उपज का एक तिहाई भाग वसूल करना था। लेकिन आमतौर पर भू राजस्व कुल कृषि उपज का लगभग आधे भाग तक निर्धारित किया जाता था। भू राजस्व प्रणाली इस तरह की बनी थी कि जिससे ऐसे लोगों से भी वसूली की जा सके जो देने की स्थिति में नहीं थे। निर्धारित की गयी समान दर से छोटी जोत वाले किसान पर भारी दबाव पड़ता था। गरीब किसान मोटे अनाज की ही कृषि में लगा रहता था और लाभकारी तिजारती फसले उगाने का कृषि कार्य अमीर वर्ग के किसान ही किया करते थे। ऐसी स्थिति में नकद के रूप में राजस्व वसूली से गरीब किसान और भी गरीब होता गया।

दस्तूर का अर्थ था किसान से किया गया कर का दावा। आइन-ए-अकबरी में लिखे गए प्जमा या नकदी का मतलब था राजस्व की वसूली। जागीर देने को प्रणाली में यह व्यवस्था थी कि प्रदेश की जमा (जमादायी) जागीरदार को दी जाने वाली तलब (वेतन) की राशि के बराबर हो। अबुल फजल के मुताबिक जमा वेतन के बराबर होती थी। जमा निबल आयें होती थी। अर्थात् कुल वसूली में से वसूल करने के व्यय को तथा दूसरों के मिलने वाले भतते के घंटा कर जो राशि बचती थी उसे जमा कहते

थे और यह वह राशि होती थी। जिसको मुगल प्रशासन की नजर में जागीरदार संबंधित प्रदेश से प्राप्त कर सकता था। जब्ती प्रांतों में किसान को अपनी उपज का लगभग आधा भाग ही देना पड़ता था। भू-राजस्व के महत्वपूर्ण दावेदार थे जमींदार तथा स्थानीय ग्रामीण अधिकारी वर्ग। ग्रामीण समाज में दो श्रेणियां थी। एक श्रेणी षूत या प्रधान की और दूसरी श्रेणी थी ष्वालाहारों की। राजस्व अर्थात् जागीर खालसा जमींदारी वसूल करने की वैकल्पिक तथा समान कार्य करने वाली संस्थाएं थी।

राजस्व के आंकलन एवं वसूली का कार्य राजस्व मंत्रालय (दीवान-ए-विराजत) को सौंपा गया था। दीवाने कुल या वजीर (दीवाने आला) सब से प्रमुख अधिकारी होता था इसके अधीन कई राजस्व अधिकारी होते थे। अकबर ने बेहतर प्रशासनिक तंत्र की स्थापना एवं उसके विकास की ओर ध्यान दिया। यही प्रशासनिक ताने बाने 18 वीं शताब्दी के मध्य तक कार्य करते रहे।

सरकार का मुख्य राजस्व अधिकारी दीवान होता था। उसे अपने अधीनस्थ परगनों में वसूली करनी पड़ती थी। परगनों का भू-राजस्व प्रशासन का मुख्य अधिकारी आमिलाया अमल गुजार था। महान इतिहासकार आई. एच. कुरैषी के अनुसार उसके कार्यों से प्रतीत होता है कि किसानों एवं गांवों के प्रधानों से उसका सीधा संबंध होता था। वह परगना में कोश के संचालन पर भी निगरानी रखता था। अकबर के शासनकाल में आमिल समस्त परगना प्रशासन का प्रमुख था। उसे भू राजस्व की वसूली का कार्य तथा उससे सीधे संबंधित मामले सौंपे गए थे। आमिल को यह सुनिश्चित करना था कि सभी कृषि योग्य जमीन पर काफ्त हो तथा कृषि योग्य जमीन आंकलित कर वसूल किया जाए। खुलासा षुल- सियाक के अध्ययन से यह जानकारी प्राप्त होती है कि नरक करार के अर्न्तगत जितना कुल क्षेत्र होता था, उसे कृषि के अर्न्तगत लाया जाता था और खेती वाले उस क्षेत्र में कोई कमी नहीं होने दी जाती थी। वह प्रत्येक टप्पा में ३ टप्पादार बहाल करता था। इस टप्पादार को टप्पा

भारत का इतिहास

में ही रहना पड़ता था एवं हर गांव और हर किसान से संबंध बनाए रखना पड़ता था। ताकि कृषि भूमि परती न रह जाए और किसानों का पलायन न हो।

आंकलन पद्धति

जब्त प्रणाली के पूर्व आंकलन की दो पद्धतियों प्रचलित थी (क) गल्ला बख्शी या फसल में हिस्सा (ख) मुक्ताई या संयोजना सम्पूर्ण मुगलकाल में ये दोनों तरीके जारी रहे। फसलों को काट कर उनके ढेर लगा दिए जाते थे। फिर सभी पक्षों के सामने करार करके उन्हें बांटा जाता था। बटाई या औली का खेतों की बुआई के बाद विभाजित किया जाता था। अनाज निकालने के बाद उनके ढेर लगाए जाते थे फिर उनके बीच उसका बंटवारा कर दिया जाता था। प्रत्येक आदमी अपना हिस्सा अपने घर ले जाता था ताकि उसे साफ करके लाभ कमा सके। मोरलैण्ड के मतानुसार संयोजन एक ऐसी प्रणाली थी जिसके अर्न्तगत एक किसान को बादशाह के प्रति यह जिम्मेदारी हो जाती थी कि उसे पट्टे पर जो जमीन दी जाती थी और जिस पर वह अपने हिसाब से फसल लगाता था, उसके बदले में वह एक निर्धारित राशि का भुगतान करें।

आइन एवं औरंगजेब के फरमान में इस बात की खास तौर से सिफारिश की गई है कि ऐसे जरूरतमंद किसानों एवं कृषकों को जो कृषि औजार खरीदने में असमर्थ हैं, नकद सहायता प्रदान की जाए। टोडरमल की सिफारिश से ऐसा पता चलता है कि ऐसे किसानों को कर्ज दिया जाना चाहिए जिनके पास बीज या पशु नहीं हैं और जिनकी परिस्थितियाँ कष्टप्रद हैं। अकाल के समय आंकलित राजस्व की राशि में बड़े पैमाने पर छूट दी जाती थी। मुगल प्रशासनिक तन्त्र इस बात को अच्छी तरह जानता था कि राज्य की आय में सबसे बड़ा योगदान करने वाले के रूप में किसान वर्ग का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण व सर्वोपरि है।

मनसबदारी प्रथा

मनसबदारी व्यवस्था तक विशिष्ट प्रशासनिक व्यवस्था थी जिसका प्रचलन मुख्य रूप से महान मुगल षहनशाह अकबर द्वारा आरंभ किया गया था।

अकबर के बाद कुछ मामूली संशोधन के उपरांत भी यह प्रथा मुगल सल्तनत के सैन्य व सिविल निजी सेवाओं का आधार बनी रही। मनसबों में संख्याओं का जोड़ा, सम्मिलित होता था। पहली संख्या, जात, वेतन जलब—ए—खासा तथा शासकीय अधिक्रम में स्थिति या पद ओहदों को निर्धारित करती थी, दूसरी संख्या, सवार रखे गए घुड़सवारों की संख्या तथा वेतन (तलब—ए—ताबीनान) के खर्चा का पूरा करने के लिए अपेक्षित राशि सूचित करती थी। कुल देय वेतन जागीर का (वेतन के दावे के बराबर आंकलन राजस्व वाला भाग) निधारण या नकद भुगतान द्वारा चुकता कर लिया था मुगल सम्राट अकबर ने यह अनुभव कर लिया था कि सशक्त व सुव्यवस्थित केन्द्रीय व्यवस्था की स्थापना के लिए स्पष्ट नियमों पर आधारित एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था कायम करने की जरूरत है जिससे उमरा वर्ग को अपनी अधीनस्थ स्थिति तथा शासन के प्रति उनकी जिम्मेदारियों का पूरा ज्ञान प्राप्त हो तथा प्रशासनिक पदों पर बहाली तथा तरक्की की योग्यता तथा कार्य कुशलता को अहमियत दी जाए।

अकबर के शासनकाल के 11 वें वर्ष (1566—67) में पहली बार मनसब प्रदान किए जाने का पता चलता है। यह कोई पदवी या पद नहीं था। इस से मुगल प्रशासनिक सेवा अनकम में

किसी आदमी या अमीर की स्थिति का बोध होता था इस प्रकार मनसब का अर्थ पद या श्रेणी नहीं यह एक दोहरी जात एवं सवार पर आधारित प्रणाली थी। 1573-74 में संख्यात्मक ओहदा (मनसब) संस्थापित किया गया। रईसों एवं अमीरों को एक संख्या प्रदान की गई जो उनके वेतन का और उन जानवरों (हाथी, घोड़े, उँट, बोझा ढोने वाले जानवर एवं गाड़ियाँ) की संख्या का निर्धारण करती थी जिन्हें अपने व्यक्तिगत जिम्मेदारी के तौर पर उन्हें रखना पड़ता था। अधिक महत्व की बात यह है कि उन्हें अपने मनसब की संख्या के बराबर घुड़सवार रखने पड़ते थे। सवार पद से मनसब की श्रेणी का बोध भी होता था प्रथम श्रेणी के मनसबदार को अपने जात पद के बराबर सैनिकों की व्यवस्था करनी होती थी। इस प्रकार 5000/5000 जात एवं सवार मनसब होने का अर्थ यह था कि उस मनसबदार को अपने जात मनसब के बराबर ही घुड़सवार सैनिकों के रखरखाव की जिम्मेदारी थी इस प्रकार वह प्रथम श्रेणी का मनसबदार कहलाता था। दूसरी श्रेणी के मनसबदार को अपने पद से कुछ कम या आधे घुड़सवार सैनिकों का इन्तजाम करना पड़ता था तथा ऐसी अवस्था में उसके मनसब का उल्लेख 5000/3000 जात व सवार पर आधारित था। तीसरी श्रेणी के मनसबदार को अपने जात मनसब के आधे से भी कम घुड़सवार सैनिक रखने होते थे। उदाहरण के की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। इन दायित्वों के निर्वहन हेतु कुछ धनराशि (बाराबंदी) प्रदान की जाती थी। बकाया अदायगी निरीक्षण के समय फौजी जिम्मेदारियों को पूर्ण रूपेण पालन किए जाने की हालत में देय होती थी। सबसे बड़ा मनसब 7000/7000 जात व सवार होता था जो सिर्फ राजकुमारों षहजादों तथा खास बड़े अमीर व विषिष्ट व्यक्तियों को ही प्रदान किया जाता था।

मनसबदारी प्रथा के संबंध में अकबर के उत्तराधिकारियों ने कई खास तब्दीलियाँ की गई थी। लेकिन जात तथा सवार पदों की जोड़ व्यवस्था इसी प्रकार की बनी रही। जहांगीर के दौर में सवार पद में दो अस्पा (दो घोड़े) तीन अस्पा (दो घोड़े) की व्यवस्था की गई। अकबर के समय में यह नियम था कि किसी मनसबदार का सवार पद उसके जात पद से अधिक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह भी नियम था कि अधिकतम पद 5000/5000 जात व सवार रहेगा। इस कानून का पालन सिद्धान्त रूप में दो. अस्पा, सिंह— अस्पा की व्यवस्था द्वारा ही संभव हो सका। किसी मनसबदार से खुष होने पर अगर बादशाह उसके ओहदा या प्रतिष्ठा में इजाफा करना चाहता था तथा किसी वजह से उसकी जात में इजाफा संभव नहीं होना था, तो ऐसी अवस्था में दो अस्पा सिंह अस्पा द्वारा उसके सवार पद में बढ़ोत्तरी करके उसे अच्छे कार्य के लिए बतौर इनाम अता कर दिया जाता था। सवारों की संख्या पर ही किसी मनसबदार की श्रेणी व प्रतिष्ठा निर्भर करती थी। इन फौजियों के लिए अलग से राशि प्रदान की जाती थी। उदाहरण स्वरूप किसी मनसबदार को 5000/5000 जात व सवार के मनसब से नवाजा गया तो उनके वेतन की दर 8000 दाम मुकर्रर होती थी ऐसी हालत में मनसबदार को 5000 ₹ 8000 दाम के हिसाब से वेतन देय था। लेकिन सवार पद में दो अस्मा, सिंह अस्पा होने की दशा में अदायगी का कम इस प्रकार होता

था 2000 9000 3000 16000 ऐसे मनसबदार को घुड़सवारों की तादाद भी वास्तव में 8000 रखनी अनिवार्य थी। षाहजहाँ के शासनकाल में इस व्यवस्था में कुछ सुधार किए गए। पूर्व से ही बराबर यह शिकायत चली आ रही थी कि जागीरों की अनुमानित आय (जमा) तथा वास्तविक आय (जमा) में काफी फर्क हो गया है। इस तरह जागीरों से होने वाली आमदनी वास्तव में कम होने लगी थी और इस तरह वेतन की वसूली कम होने की शिकायत आती

भारत का इतिहास

थी क्योंकि मनसबदारों तथा उसके मातहत दस्तों का आर्थिक नुकसान उठाना पड़ रहा था। अतः जागोरों की वास्तविक वसूली के आधार पर माहाना (डवदजी बंसम) जागीरों, षषमाहा (प. डवदजीसल) तिमाहा (जितमम डवदजीसल) की व्यवस्था आरंभ की गई। इसके अनुसार यदि किसी जागीर से राजस्व की वसूली 50 प्रतिषत तो उसको षषमाहा जागीर जाना जाता था तथा वसूली यदि कुल जमा का एक चौथाई (25 प्रतिषत) होती थी, तब उसे तिमाही जागीर मानी जाती थी। इस प्रकार यदि किसी मनसबदार को षषमाहा जागीर अता की जाती थी। तो उसकी जिम्मेदारियों का भी उसी अनुपात से निर्धारण करके कटौती (तखफीफ) कर दी जाती थी।

मुगल मनसबदारों की साम्राज्य के प्रशासनिक व्यवस्था एवं विस्तार में प्रमुख भूमिका थी। वे साम्राज्य के विस्तारपूर्ण क्षेत्रों में शांति अमन व चैन स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य अनजानम देते थे, परन्तु यह भी सच है कि उनके कारण राजस्व के स्रोतों का अपवाद भी हुआ। मनसबदारों ने एक और मुगल साम्राज्य के विस्तृत क्षेत्रों को एकता के सूत्र में बांधा तथा व्यापार, वाणिज्य की तरक्की हेतु भी वातावरण तैयार किया। दूसरा पक्ष यह भी रहा है कि मनसबदारों के निर्वहन पर होने वाले बढ़ते हुए इखराजात (खर्चों) की वजह से कृषि उत्पादन अधिषेश की अधिकतम वसूली की गयी। इस कारणवश, काफ़्तकारों, छोटे किसानों के पास कृषि खेती को अधिक उन्नत बनाने या उसको और तरक्की व नई तकनीक का इस्तेमान करके पैदावार बढ़ाने का प्रयास नहीं किया जा सका। ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे किसानों की अवस्था दयनीय बनी रही।

अभ्यास—प्रश्न

1. मुगल काल में केन्द्रीय एवं स्थानीय प्रशासन पर प्रकाश डालें।
2. मनसबदारी प्रथा क्या थी? वर्णन करें।

भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक)

मुगल काल में कला, स्थापत्य, साहित्य, विज्ञान एवं तकनीकी

पूर्व आधुनिक काल के विश्व इतिहास में मुगल साम्राज्य (1526 ई. से 1740 ई.) एक वषट् एवं महत्वपूर्ण केन्द्रीकृत साम्राज्य के रूप में स्मरण किया जाता है। सत्रहवीं शताब्दी में मुगल बादशाह भारतीय उपमहाद्वीप के अधिकांश भाग में रहने वाले 100 से 150 मिलियन व्यक्तियों पर शासन करते थे। इसके समकालीन ईरान के सफविद् एवं तुर्की के ऑटोमन साम्राज्य क्षेत्र व साधनों में छोटे थे, केवल चीन के मिंग साम्राज्य के साथ इसकी तुलना की जा सकती है। झहान मुगल शासकों की सम्पत्ति एवं शान-शौकत एक विलक्षण कथा है। इस वैभव पूर्ण स्थिति ने दरबार व समाज में सांस्कृतिक क्रियाओं, शिष्टाचार, स्थापत्य, संगीत, काव्य, चित्रकला व चिन्तन को नयी गतिविधियां आयाम एवं विषिष्टता प्रदान की जो मुगल राजनीतिक व्यवस्था के पतन के पश्चात् भी परवर्ती काल के शासकों व आम जन दोनों के आचार-व्यवहार को प्रभावित करती रही।

मुगल शासन प्रणाली ने भारतीय समाज में सभी धर्मों व जातियों को संयुक्त करके एक श्रेष्ठ जन गण की संरचना की जिसके प्रभाव व क्रिया-कलापों ने कला, स्थापत्य व साहित्य के सभी क्षेत्रों को एक नयी स्फूर्ति दी। ज्ञानी समृद्धि व वैभव की छाप सभी क्षेत्रों में आयी। मुगल सम्राट व उनके सामन्तगण सदैव उत्सुक रहे कि स्थापत्य व कला के क्षेत्र में सदैव नयापन आता रहे लेकिन वह सामन्ती स्वभाव को ही प्रदर्शित करे। मुगल व्यवस्था एक उच्च स्तरे के सैन्य कौशल पर टिकी हुई थी, इस कारण सैन्य क्षेत्र में विज्ञान एवं तकनीकी को लेकर आविष्कारों के प्रति शासकों का रुझान बना रहा। इसके अतिरिक्त दरबारी संरक्षण में भी वैज्ञानिकों को प्रोत्साहित किया जाता रहा लेकिन इसी अवधि में विश्व के अनेक भाग प्रतिस्पर्द्धा में आगे निकल गये। मुगल साम्राज्य भू राजस्व के विषाल संग्रह की पद्धति पर अपनी क्षमताओं को विकसित कर रहा था, पर इस तन्त्र के कृशकों एवं श्रमिकों के शोषण की अनेक परिधियों को जन्त दिया। समाज में धार्मिक व सांस्कृतिक समन्वय की भावना को कमजोर बनाने वाली जाति-व्यवस्था व उसकी पहचान को बल मिला जिसने साम्राज्य के उनके षत्रु उत्पन्न कर दिये। मुगल साम्राज्य स्वयं सादा व सरल सपाट जीवन पर विश्वास करने लगे। सत्रहवीं के उत्तरार्द्ध में आये वित्तीय संकट ने राजनीतिक सोच को संकीर्ण कर दिया व कलाकार भी संरक्षण के अभाव में बिखर गये। उन्होंने क्षेत्रीय शक्तियों के दरबार में शरण ली जिसके फलस्वरूप स्थानीय व प्रान्तीय स्तर पर साहित्य व कलाओं का विकास हुआ।

मुगल कला

चित्रकला

मुगल

पैली भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन एवं उल्लेखनीय स्थायित्व का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें भी ईरानी प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है लेकिन स्थापत्य की भांति विकसित अवस्था में यह पैली सर्वदा भारतीय है। अपनी सुरुचि और परिष्कार तथा कूची के स्पर्ष, कोमलता और हासिए की कषीदाकारी से वह तत्काल पहचानी जा सकती है। भारतीय कलाकारों ने अपनी लगन व निष्ठा से स्थानीय प्रेरणा और विशयों के माध्यम से उसे एक प्रभावशाली रूप प्रदान किया है।

मुगल पैली का इतिहास हुमायूँ (1555 ई.) के पुनरागमन से प्रारम्भ होता है। हुमायूँ ईरानी दरबार से जब भारत आया तो अपने साथ मीर सैयद अली और अब्दुल समद नामक दो प्रसिद्ध चित्रकारों को लाया था। ये दोनों ही ग्रन्थ चित्रण में पारंगत थे और इनकी देखरेख में भारत के अनेक चित्रकारों ने

महत्वपूर्ण कार्य किये। मीर सैयद अली ने दस्ताने अमीर हमजा को चित्रित किया। इन दोनों चित्रकारों ने अपने निरीक्षण में अकबर के आदेश पर फतेहपुर सीकरी के कमरों में भित्ति चित्रों का निर्माण कराया। उसके दरबार हाल और आवासों की दीवारें अनेक चित्रों से आच्छादित हैं। इन चित्रों का स्वरूप भित्ति चित्रों तथा पैली लघुचित्रों की थी।

मुगल पैली की चित्रकला में हिन्दू चित्रकारों का अपना महत्वपूर्ण योगदान है। इस काल में अनेक हिन्दू चित्रकार भारतीय चित्रकार को अपने भव्य चित्रों गरिमा प्रदान कर रहे थे। अकबर दरबार के हिन्दू चित्रकार बसावन एवं दसवन्त मुख्य कलाकार थे। अबुल फजल ने

भारत का इतिहास

दसवन्त के सम्बन्ध में लिखा है कि वह प्रधान आचार्य बन गया था। अबुल फजल ने बसावन की भी पर्याप्त प्रशंसा की है। वाक्याते बाबरी में बाईस चित्रकारों के नामों का उल्लेख है। किन्तु इन चित्रकारों में हिन्दू चित्रकार ही अधिक हैं अबुल फजल द्वारा निर्दिष्ट 17 कलाकारों में केवल चार ही मुसलमान हैं, पेश 13 हिन्दू। आशय है कि मुगल पैली का विकास अकबर की उदार तथा संहिंशु नीति के कारण हुआ और उसके प्रधान हिन्दू चित्रकार थे।

मुगल पैली के अधिकांश चित्रों का निर्माण कागज पर हुआ। इस पैली के कलाकार पहले खाका खींचकर अपने आलेख को रेखांकित करने के बाद चित्र निर्माण करते थे। मुगल पैली के सम्बन्ध में स्मिथ ने लिखा है, ईरानी ग्रंथ चित्रों में तो पहले खाका लाल या काली चोक से खींचकर उसमें तत्काल रंग भर लिया जाता था। बहुमूल्य ग्रंथों के लिए बड़ा उलझा हुआ तरीका काम में लाया जाता था। ग्रंथ में पृष्ठ खाली छोड़कर चित्र अलग बनाकर उसके ऊपर बाद में चिपका देते थे। पन्ने पर पहले बारीक लेप कर लिया जाता था। लेप अरबी गोंद के पानी में घुला हुआ होता था। तब उसकी चिकनी जमीन पर खाका खींचा जाता था। फिर तेल चित्रण की भाँति एक पर एक रंगों की परत डाली जाती थी। आभूषणों से, हीरा-मोती और स्वर्ण का आभास करने के लिए उनके कणों का उपयोग होता था यह सारी क्रिया भारतीय चित्रकार गिलहरी के बालों के ब्रूष से सम्पन्न करते थे। अनेक बार तो बारीकी केवल एक बाल के बुष से सम्पन्न की जाती थी। उसमें असाधारण नेत्र शक्ति और एकाग्रता की आवश्यकता होती थी। भारतीय मुगल पैली के चित्रों चित्रण का प्राधान्य है। महाभारत का रज्मनामा, रामायण का अनुवाद, अकबरनामा, दस्ताने हम्जा, रसिक प्रिया आदि ग्रंथों के चित्रण हुए हैं। इस प्रकार यह युग साहित्य और चित्रकला को निकट लाने में सफल हुआ।

मुगल पैली व्यक्तिवादी है। उसमें व्यक्ति चित्रण व प्राकृतिक चित्रण की प्रधानता है। अकबर और जहांगीर के काल (1556-1605, 1605-1627) में खड़े व्यक्ति का पार्श्व चित्रण ही अधिक हुआ। क्रमशः नर-नारी के स्वाभाविक चित्रण की ओर प्रगति हुई। मुगल बादशाहों के अनेक यथार्थ चित्रों की रचना इस काल में हुई। अकबर और उसके मित्रों के चित्र अकबर और उसके निकट बैठे हुए सलीम का चित्र, नारी की फरियाद सुनते हुए अकबर का चित्र इसी प्रतिकृति चित्रण के चित्र हैं।

मुगल पैल के चित्रकारों ने पशु और पक्षियों के चित्रांकन में अपनी अनुपम कला का प्रदर्शन किया। जहांगीर द्वारा बनवाया गया मुर्गे का चित्र सुन्दर है। आज यह कलकत्ता आर्ट गैलरी में सुरक्षित है। इस क्षेत्र में मन्सूर नामक चित्रकार सर्वश्रेष्ठ था।

षाहजहां के काल में चित्रकला अपने श्रेष्ठ दिनों में थी। ताज के निर्माण के साथ सर्वश्रेष्ठ चित्रों का सृजन भी इस काल में हुआ। इस काल की चित्रकला की अपनी विशेषतायें थीं। प्राचीन रंगरंजित चित्रों की अपेक्षा संयत, शान्त, दरबारपरक चित्रों का सृजन इस काल में हुआ। सुरुचि का संस्कार भी हुआ। साथ ही चटक रंगों का स्थान कोमल रंगों ने ले लिया। इस काल के चित्रकारों के लिए प्रिय विषय लैला मंजूनू पीरी-खुरुर, कान्ता कामरूप और रूपमती – बाजबहादुर थे। इस काल के प्रमुख कलाकारों में चतरमल, अनूप छत्र, मनोहर, मोहम्मद नादिर, समरकण्डी, मीरहासिम और मोहम्मद फकीरुल्ला खां थे।

पैली द्वास का जहां तक प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यद्यपि औरंगजेब को कला से प्रेम न था किन्तु उसके काल तक कला का द्वास नहीं हुआ था

क्योंकि उस काल के हिन्दू राजा वास्तविक कला के संरक्षक थे जिसके अपने-अपने चित्रकार थे। किन्तु केन्द्रीय राजधानी के छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण अनेक चित्रकार बिखर गए। परिणामस्वरूप विभिन्न प्रान्तों में स्थानीय विशेषताओं से युक्त राजपूत पैली का उदय हुआ।

राजपूत पैली

राजस्थानी चित्रकला का अपना अस्तित्व रहा है और भारतीय चित्रकला के इतिहास में भी इसका अपना महत्व है। राजस्थानी चित्रकला में अनेक राजपूत पैलिया सम्मिलित हैं। इन पैलियों में मेवाड़, मारवाड़, किशनगढ़, जयपुर, अलवर, बीकानेर, कोटा, बून्दी, नाथद्वारा आदि पैलियां मुख्य हैं।

15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजस्थानी चित्रकला के इतिहास में एक नया मोड़ आया यद्यपि गुजराती पैली का प्रभाव तो यथावत बना रहा, लेकिन अब अनुपात से बड़ी आंखों का चित्रण, जो गुजरात पैली की मुख्य विशेषता थी, को त्याग दिया गया। अब तत्कालीन वेषभूषा दर्शायी जाने लगी। दैनिक जीवन के चित्र बनने लगे तथा भिन्न-भिन्न रंगों का प्रयोग कर चित्रों को रंग-बिरंगा बनाया जाने लगा। अब प्राकृतिक दृष्टियों के चित्रांकन पर भी अधिक ध्यान दिया जाने लगा। अभी तक केवल हिन्दू तथा जैन ग्रंथों को ही चित्रित किया जाता था परन्तु अब गैर धार्मिक ग्रंथों को भी चित्रित करने का प्रयत्न-प्रारम्भ हो गया।

अकबर के साथ राजपूत शासकों के बढ़ते हुए सम्पर्क ने राजस्थानी की चित्रकला को भी प्रभावित किया और उस पर धीरे-धीरे मुगल चित्रकला पैली का प्रभाव परिलक्षित होने लगा। 1567 ई. में अकबर ने अपने दरबारी चित्रकारों मीर सैयद अली व अब्दुलसमद को हम्जानामा ग्रंथ चित्रित करने का कार्य सौंपा। इस प्रयोजन में 1400 बड़े आकारों के कपड़ों के चित्र बनाने थे। अतः राजपूत राज्यों सहित मुगल साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में श्रेष्ठ चित्रकारों को इस कार्य के लिए बुलाया गया। 1582 ई. में कार्य पूरा हो गया और चित्रकार अपने-अपने राज्यों में वापस चले गये लेकिन लम्बे समय तक मुगल दरबार में ईरानी चित्रकारों के निर्देशन में कार्य करने से उन्होंने चित्रकला के नए तत्वों को ग्रहण कर लिया था जिसका प्रयोग उन्होंने अपने राज्य में बनाये जाने वाले चित्रों में किया। यद्यपि आरम्भ में उन चित्रों पर भी गुजराती पैली तथा लोदी पैली की प्रधानता बनी रही परन्तु ज्यों-ज्यों राजपूत राजाओं के साथ मुगल दरबार का सहयोग बढ़ता गया त्यों-त्यों राजस्थानी चित्रकला पर मुगल पैली का प्रभाव भी बढ़ता गया। परिणाम यह निकला कि अब गुजराती एवं लोदी पैली का प्रभाव क्षीण होने लगा और चित्रों को बनाने में मुगल तकनीक का अधिक रुचिपूर्वक प्रयोग किया जाने लगा। मुगलकाल में राजपूत चित्रकला की विभिन्न पैलियां विकसित हुईं, जिसमें प्रमुख हैं, मेवाड़ पैली, मारवाड़ पैली, बीकानेर पैली, जयपुर पैली बून्दी, कोटा, उनीयारा, अलवर, नाथद्वार पैलियां इत्यादि।

पहाड़ी पैली

भारत का इतिहास

पहाड़ी पैली को कई बार राजपूत पैली के अन्तर्गत ही ले लिया जाता है। परन्तु विषिष्ट भौगोलिक स्थिति में विकसित इस पैली का अलग से ही अध्ययन करना आवश्यक है। इस पहाड़ी पैली में जो मनोहरता व बांकपन दृष्टिगत होता है वह मुगल व राजपूत (राजस्थान) कला से भिन्न है। पंजाब के मैदानों के उत्तरी व पूर्वी भागों के पहाड़ों में हिमालय की विभिन्न श्रृंखलाओं में स्थित जम्मू, जसरोटा, मानकोट, बाषोली, कांगड़ा, गुलार, चम्बा, नरपुर, बिलासपुर, गढ़वाली, सिरमूल तथा कुल्लू इसके मुख्य केन्द्र रहे हैं। सतलज नदी के पश्चिमी पर्वतीय राज्यों की चित्रकला मुख्यतः जम्मू स्कूल के नाम से जानी जाती है। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत सतलज नदी के सभी पूर्वी पर्वतीय राज्यों की कला का उल्लेख कांगड़ा स्कूल के नाम से किया जाता है। कांगड़ा स्कूल के अर्गत ही गढ़वाल राज्य में विकसित चित्रकला को रखा जाता है। निःसन्देह पहाड़ी पैली की चित्रकला के उदय से मुगल दरबार के आश्रय विहीन हो गये उन चित्रों की प्रमुख भूमिका रही जिन्होंने विभिन्न पर्वतीय क्षेत्रों की स्थानीय रियासतों में आश्रय प्राप्त किया है। हां, इस पैली का प्राण स्रोत निश्चित ही राजपूत चित्रकला है।

आनन्द कुमार स्वामी के अनुसार 17वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में कुछ नवीनताओं को लिए हुए पंजाब की पहाड़ी रियासतों में विशेषतः डोगरा के पहाड़ी राज्यों में जम्मू सहित एक चित्रकला पैली विकसित हुई। यहां के चित्रों को उनकी पैली के अतिरिक्त उनकी ताकी लिखावट से पहचाना जाता है।

कांगड़ा पैली के अधिकतम चित्रों का निर्माण 18 वीं शताब्दी से हुआ। कांगड़ा स्कूल अपने पासक संसारचन्द्र (1774–1823 ई.) के काल में सर्वोच्चता को प्राप्त होता है। कांगड़ा स्कूल के प्रिय कथानक हैं— कृष्णलीला, नायक—नायिका भेद तथा महाकाव्यों के प्रसिद्ध प्रसंग जैसे, नल दमयन्ती कथा आदि। कांगड़ा के चित्रों को जीवन व गति देने में गुलेर और बसौली (जम्मू राज्य के कथुवा के अन्तर्गत) के कलाकारों का महत्वपूर्ण योगदान है। कांगड़ा पैली रोमांटिक है। एक विख्यात कलाविद् के अनुसार यूनान के कलष चित्रों और जापान के डिजाइन चित्रों में भले ही अन्य आकर्षण, समृद्ध कल्पनाएं, आजस्विता और रूप वैचित्र्य समाहित हो, किन्तु कांगड़ा के चित्रों में मोहकता, गति और स्वातंत्र्य है। 18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में एक लघु स्कूल गढ़वाल के पहाड़ी राज्य में उदित हुआ। गढ़वाल का प्रसिद्ध चितेरा मोलाराम था। पंजाब में चित्रकला की सिक्ख पैली का समय स्थूलतः 1775–1850 ई. के मध्य है। सिक्ख पैली की चित्रकला में प्रायः व्यक्ति चित्रों की बहुलता है इसमें सिक्ख गुरुओं, सरदारों तथा दरबारियों के स्वतंत्र एवं समूह चित्रों का निर्माण हुआ।

संगीत कला

मुगल के षौकीन थे। बाबर ने संगीत कला पर लिखने का प्रयास भी किया। संगीत का वास्तविक विकास तो अकबर के काल से ही प्रारम्भ हुआ। अबुल फजल ने उसके दरबार के 36 कुषल संगीतज्ञों का उल्लेख किया है, जिनमें षिरोमणि तानसेन था। उसके बाद बाबा रामदास का नाम आता है। प्रसिद्ध सन्त कति सूरदास भी उस काल के प्रसिद्ध संगीतज्ञ व गायक थे। कहा जाता है कि बैजू बावरा यद्यपि, मुगल दरबार से सम्बन्धित नहीं था, लेकिन अपने काल का निगुण संगीतज्ञ व गायक माना जाता है। अकबर के काल में अष्टछाप संगीत की परम्परा बहुत तेजी से पल्लवित हुई जिसने भारतीय शास्त्रीय संगीत को ध्रुपद – धमार, कीर्तन आदि गान पैलियों, पखावज व वीणावादन की पैलियों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उस समय की मीरा बाई को विस्मृत नहीं किया जा सकता

जिसके पद विभिन्न राग-रागिनियों में आज भी भारत में श्रद्धा के साथ गाये जाते हैं। उसी प्रकार सन्त दादू की रचनाएं एवं संगीत उल्लेखनीय हैं।

ध्रुपद गायकी के चारों चरण (वाणियां) — गोबहारी, खण्डारी, डागुरी और नोहारी का विकास अकबर के समय से माना जाता है। इनमें खण्डारी व नोहारी का उद्गम राजस्थान से कहा जाता है। जहांगीर भी संगीत का प्रोत्साहन देने में पीछे नहीं रहा। उसके काल में जहांगीदाद, छत्र खां, खुर्रमदाद, मक्खू आदि प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे और विट्ठलदास के शिष्य गाविन्द स्वामी प्रति गायक थे। षाहजहां स्वयं एक अच्छा गायक था व उसे नृत्य व संगीत दोनों में रुचि थी। ध्रुपद गायकी का लालखां जो तानसेन का दामाद बतलाया जाता है, गुण समुद्र की उपाधि से विभूषित था। मुगल दरबार के अन्य गायक सूरसेन, सुखसेन, दुरंगखां थे और उनमें प्रमुख जगनाथ था। औरंगजेब की इस क्षेत्र में कोई रुचि नहीं थी व उसका दरबार भी सूना था। उत्तर-मुगल कालीन शासकों मुहम्मदशाह षंगीलाह के काल में ख्याल गायन लोकप्रिय हुआ।

मुगल काल में प्रान्तीय स्तर पर विशेषकर राजस्थान के राजाओं के दरबार में संगीत व नृत्य दोनों को आश्रय मिला। अनुप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में संगरहीत संगीत के ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। आमेर के मानसिंह, माधव सिंह व मिर्जा राजा जयसिंह के संरक्षण में अनेक रागमालाओं व रस मंजरी की रचनाएं हुईं। औरंगजेब के काल से ही राजपूत घराने संगीत के केन्द्र बन गये। बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह ने अनूप विलास, अनूप संगीत रत्नाकर, अनूपाकुष, अनूपराग सागर, अनूप संगीत वर्तमान, अनूपोद्रेष, अनूप राग माला, गमक, मंजरी टीका, कुतुपाध्याय भान मंजरी, नाश्टोदिष्ट, प्रबोधक, ध्रुपद टीका, राम विवेक, मुरली प्रकाश आदि की रचनाएं करवायीं। इनमें से अधिकांश रचनाएं, जो संगीत के विभिन्न पक्षों का विवेचन प्रस्तुत करती हैं, पं. भट्ट द्वारा अथवा उसके निर्देशन में तैयार हुईं।

आलोचकों का यह कथन भी है कि मुगल काल में भगवान को प्रसन्न करने वाली नृत्यकला राज दरबारी हो गयी। उसका आध्यात्मिक स्वरूप मिटकर आर्थिक दृष्टिकोण पर केन्द्रित हो गया। भारतीय नर्तकों की वेषभूषा भी दरबारी हो गयी। इन कारणों से नृत्य के स्तर में गिरावट भी आयी।

मुगल स्थापत्य

भारतीय स्थापत्य एक ऐसी प्रतिष्ठित कला है जिसमें एक वर्गीय कलाकारों से काम नहीं चलता। इसमें भवन निर्माता, मूर्ति निर्माता, चित्रकार, तथा इनके स्थापक की समन्वित साधना अपेक्षित है। मध्यकाल के जो भवन तुर्क, अफगान व मुगल शासकों के द्वारा बनवाये गये, उनका वास्तु शैली भारतीय व मध्य एशिया-ईरान की मिश्रित शैली थी। स्थापत्य में आकार, आचार व विचार सिन्धु नदी के पश्चिम देशों में स्थित निवासियों के माध्यम से भारत में तेजी से प्रसारित हुए, वहीं निर्माण कर्ता भारतीय होने के कारण उनके स्वभाव व आदत के अनुसार हिन्दू शैली का पुट मुस्लिम कला कृतियों में स्वाभाविक उन्हें रूप से हो गया। भारत में तुर्क शासन की स्थापना के पश्चात् जिन भवनों का निर्माण करवाया गया, षण्डोसारसनिक स्थापत्य शैली कहकर पुकारा गया। उस शैली में भारतीय सीरिया, मिश्र, उत्तरी अफ्रीका तथा ईरान की दासानियन वास्तु शैली के साथ मिलकर उभरी। तुगलकों के काल से वास्तु शैली में सादगी के स्थान पर अलंकरण को अधिक महत्व दिया जाने लगा। अफगानों के काल में षकमल के आकार की महारावे स्थापत्य में पूरी तरह स्थापित हो गयीं व फर्ष भी

भारत का इतिहास

रंगीन टाइल्स के अधिक बनने लगे। बंगाल में जहां एक ओर ईंटों, बांसों व लकड़ी का अधिक प्रयोग हुआ, वहीं चौकोर ईंटों के स्तम्भ तथा झुकावदार छज्जे बनने लगे। गुजरात के सुल्तान भी पीछे नहीं रहे और वहां स्तम्भों पर टिके बारामदों तथा जालीदार खिड़कियों के निर्माण को अधिक महत्व दिया गया। अहमदाबाद में रानी सीपरी की मस्जिद की जालियों की नक्कासी उत्कृष्ट है। मालवा में प्ष्टी आकार के भवन बनवाये गये दरबार हाल के ऊपर जनाना महल बनाने की प्रक्रिया बढी। जौनपुर, गुलबर्गा, बीदर, दौलताबाद स्थापत्य कला के नये केन्द्र उभर कर सामने आये।

मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर भारत में आते ही बिखरी झोपड़ियों को देखकर निराश हो जाता है षीघ्र ही ग्वालियर के किले के स्थपत्य को देखने के पष्चात् उसके विचार बदलने लगते हैं। लेकिन बाबर भारत में अपने अल्पकाल में व हंमायू सदैव षत्रुओं से घिरे रहने के कारण कुछ विषेश नहीं कर सका। लेकिन उन्होंने भारत, ईरान व मध्य एषिया के देशों के मध्य पुनः मार्ग स्थापित कर दिये जिससे स्थापत्य व कला के क्षेत्र में आदान-प्रदान की प्रक्रिया आगे बढी।

मुगल षासन की स्थापना के पष्चात् अफगान षासक षेरषाह ने 1540 में हुमायूँ को पराजित करके नये वंष के षासन की स्थापना की थी। षेरषाह के षासन काल में सर्वाधिक सुन्दर भवन उसका स्वयं का मकबरा है, जो सहसराम (बिहार) में स्थिर है। इसकी ऊँचाई इत्यादि वास्तु षैली की दृष्टि से इतनी अधिक सुन्दर है कि कला मर्मज्ञ इसकी भूरि-भूरि प्रषंसा करते हैं। षेरषाह के षासन काल में ही किला – एक-कोहाना मस्जिद का निर्माण हुआ था। बाबर और हुमायूँ के षासनकाल में स्थापत्य षैली के विकास के रूप में विषेश प्रकार के भवनों का निर्माण नहीं करवाया गया था। बाबर के काल की मस्जिदें तथा धौलपुर से प्राप्त हमाम के खंडहर स्मारकों के रूप में विद्यमान हैं। उसके साथ ही बाबा ने अयोध्या एवं संम्भल में दो मंजिदों का निर्माण करवाया था। बाबार के काल से ही चारबाग उद्यान स्थापत्य की षैली भारत में तेजी से प्रसारित होने लगी। बाबर को ऐ उद्यान लगाने का बहुत षौक था जिसमें पत्थरों की फर्ष के मार्ग व फव्वारें लगी हों। यह मुगल षैली पर ईरानी प्रभाव था। मुगल स्थापत्य का सर्वप्रथम आकर्षक निर्माण दिल्ली के निजामुद्दीन स्टेषन के पास स्थित हुमायूँ का मकबरा है जिसका विषाल गुम्बद अनूठा है जो भविष्य के निर्माण में अनुकरणीय बना। कुछ विचारकों की दृष्टि में यह ताजमहल के गुम्बद से भी ज्यादा भव्य है। इसक निर्माण अकबर ने करवाया था।

इसके बाद अकबर ने आगरा में किले और उसके भीतर महलों का निर्माण करवाया अकबर के षासन काल में ही लाहौर तथा अजमेर में किलों का निर्माण करवाया गया था। आगरा के किले में वास्तुकला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट प्रतीक हाथीपोल द्वारा है जिसके विषेश रूप से डिजाईन करके तैयार करवाया गया था। आगरा के किले में ही अंकबरी महल और जहांगीर महल स्थित है। इनको बनवाते समय भवनों के बीचों बीच आंगन का निर्माण और दो मंजिले कमरों का निर्माण चारों दिषाओं में करवाया गया था। यह अपनी सजावट और आकर्षक षैली के लिए प्रसिद्ध है। अकबर ने आगरा से लगभग 26 मील दूरी पर फतेहपुर सीकरी की स्थापना की थी और उसमें महलों का निर्माण करवाया था। फतेहपुर सीकरी में स्थित भवनों में आगरा दरवाजा, जोधाबाई का महल, इबादत खाना विषेश रूप से प्रसिद्ध बीरबल का महल और निवान-ए-खास अपने कोणों की सजावट के लिए प्रसिद्ध है। इन भवनों के निर्माण पर विषेश ध्यान दिया गया था। फतेहपुर सीकरी की जामा मस्जिद और

बुलन्द दरवाता भी अपनी भव्यता के लिए प्रसिद्ध है। अकबर ने अपने जीवन काल में ही सिकन्दरा में स्वयं के मबरे का निर्माण करवा दिया था। जिसकी पूर्णता जहांगीर के शासनकाल में हुई थी। सिकन्दरा के मकबरे के लिये कहा जाता है। कि उसकी भव्यता और सौन्दर्य जहांगीर के मकबरे से भी अधिक है, जिसका निर्माण उसकी मृत्यु के बाद लाहौर में नूरजहां बेगम ने करवाया था। एतामाउद्दौला के मकबरे का निर्माण उसकी पुत्री नूरजहां ने करवाया था। इन स्मारकों का निर्माण सफेद संगमरमर में करवाया था, जिसमें बेषकीमती रंग बिरंगे पत्थरों को जड़ने की पैली प्रारम्भ हो गयी थी। शाहजहां के शासनकाल में मुगलकालीन स्थापत्य कला अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी थी। उसने मकराना के संगमरमर का विषाल पैमाने पर भवनों के निर्माण में प्रयोग किया था। इसने स्थापत्य पैली में नवीन प्रयोग किये। शाहजहां ने आधुनिक पुरानी दिल्ली की स्थापना की थी। वहां लाल किले में संगमरमर की महाराबों का (तबीमे) निर्माण करवाया था। दिल्ली की स्थापना की जामा मस्जिद और आगरा में स्थित ताजमहल उसके शासन काल की सर्वाधिक प्रसिद्ध इमारतें हैं। आगरे के किले में स्थित मोती मस्जिद का निर्माण शाहजहां के शासन काल में करवाया गया था। ताजमहल को तो कला मर्मज्ञ विश्व का एक आकर्षण कहकर पुकारते हैं। इसके निर्माण के लिए बगदाद, बुखारा, सिराज और समरकन्द से कारीगर बुलवाये गये थे। ताजमहल की आंतरिक सजावट और उससे अधिक भवन की बाह्य भाग की सजावट इती अधिक है कि कला मर्मज्ञ ताजमहल की आज भी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

—

औरंगजेब ने अपने शासन काल में बहुत ही कम भवनों का निर्माण करवाया था। उसके द्वारा दक्षिण भारत के औरंगाबाद नगर के मकबरे का निर्माण अपनी पत्नी की स्मृति में करवाया गया था। यह ताजमहल की तर्ज पर बना है लेकिन इसको देखने पर लगता है कि मुगलकालीन स्थापत्य कला का पतन होना शुरू हो गया था। क्योंकि इसमें घटिया निर्माण कला का प्रदर्शन होता है। उत्तर मुगल कालीन सम्राटों के शासनकाल में दक्षिण भारत में बीजापुर में गोल गुम्बज का निर्माण आदिलशाही सुल्तान मोहम्मद आदिलशाह के द्वारा करवाया गया था। इब्राहीम रौजा के शासन काल में एक विषाल मस्जिद का निर्माण करवाया गया था। इस प्रकार दक्षिण भारत के सुल्तानों ने भी स्थापत्य कला के विकास में मुगल बादशाहों के साथ समानान्तर योगदान दिया था।

प्रारंभिक मुगल स्थापत्य कला में ईरानी प्रभाव अधिक था। विशेषकर योजनाओं में प्रेरणा के स्रोत वे ईरानी मापदण्ड रहे जो ईरान उजबेक— मंगोल कलाओं के मिश्रण से समरकन्द, बुखारा, हेरात व ताशकन्द की इमारतों में दुश्तिगत होते हैं। लेकिन शाहजहां के काल तक आते-आते स्थानीय भारतीय प्रभाव छा गया। ताजमहल इस मिश्रण का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। दिल्ली का लाल किला व राजस्थान के राजपूती किले एक समान लगते हैं। इस काल में राजस्थान के राजपूती किले एक समान लगते हैं। इस काल में राजस्थान में भी स्थापत्य में गुम्बजों, कंगूरों व मेहराबों का प्रभाव बढ़ गया। दुर्ग एक सुरक्षात्मक स्थल होने के साथ भव्य महलों के केन्द्र भी बन गये।

राजपूती महलों व किलों में दीवान—ए—आम व दीवन—ए—खास बनने लगे। पीषों से जुड़ी चित्रित की गयी दीवारों का निर्माण होने लगा। निर्माणकर्ताओं ने भवनों में अपने हस्ताक्षर भी किये हैं व प्रतीक निषान भी हैं।

भारत का इतिहास

मुगल काल के साहित्य

पूर्व मध्यकाल से ही राजपूत, तुर्क व अफगान शासकों ने साहित्य निर्माण व साहित्यिकों को संरक्षण देने में रुचि दिखलाई। मुगलों के आने से पूर्व, प्राकृत व अपभ्रंश का विकास हो चुका था। अपभ्रंश की उत्पत्ति सम्भवतः उत्तर पश्चिमी भारत में हुई थी। इसी के बाद अनेक प्रादेशिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई। मराठी और जैन— गुजराती भाषाओं की उत्पत्ति इस काल में प्रारम्भ हो गयी थी। बंगाली, असामिया, उड़ीसा और बिहार प्रदेश की विभिन्न बोलियाँ प्राकृत की देन हैं। मुगलों ने इन परम्पराओं को और आगे बढ़ाया। फारसी तो राजभाषा थी ही, इस कारण उसे विशेष प्रोत्साहन मिला।

लोक प्रयोग में संस्कृत के जिन शब्दों को विभिन्न रूपों में प्रयोग किया जाता था, पातञ्जलि ने उसे अपभ्रंश कहकर पुकारा। नाट्य शास्त्र में अपभ्रंश के अनेक रूपों की चर्चा है। आचार्य रुद्रद मम्मट ने अपभ्रंशों को काव्य भाषा मान लिया। प्रारम्भ से ही अपभ्रंश में दोहे और छन्द लिखे गये। प्रेम, वैराग्य, आदि विषयों पर अपभ्रंश में कृतियाँ लिखी गईं। जैन और बौद्ध आचार्यों ने जन साधारण तक उनके धर्म का संदेश पहुँचाने के लिए अपभ्रंश का प्रयोग किया। भक्ति काल के संतों ने लोक भाषा का ही प्रयोग किया था। अपभ्रंश में पहला महाकाव्य स्वयं भूदेव के द्वारा शडमचरित्र लिखा गया था। इसी काल में हरिवंश ने रामायण और महाभारत का रूपान्तरण किया था।

उत्तर भारत में काष्मीरी, पंजाबी, सिन्धी, नेपाली, सौरसैनी और मराठी भाषाओं का विकास अपभ्रंश से ही हुआ था। मराठी को अनेक धर्म और समाज सुधारकों ने अपनी कृतियों के द्वारा समृद्ध बनाया। गाथा, गीतों और लोकगीतों की काफी रचनाएं इस भाषा में की गईं। ऐसा माना जाता है कि गोरखपंथी संतों ने अपनी रचनाओं के द्वारा मराठी को विकसित किया था। संस्कृत के प्रभाव के कारण बंगाली, आसामी और उड़ीसा के साथ-साथ मैथिली साहित्य को भी संस्कृत ने ही समृद्ध किया। प्राचीन गुजराती भाषा, उत्तरी गुजरात से पश्चिमी राजस्थान तक प्रचलित थी। एक हजार ई. के लगभग जब विद्वानों ने गुजराती भाषा में साहित्य की रचनाएँ करनी प्रारम्भ की तो वह भी अपभ्रंश से मुक्त नहीं रह सकी।

विभिन्न भाषाओं का उत्थान

मध्यकालीन भारत के इतिहास में साहित्य, विशेष रूप में हिन्दी साहित्य ने महत्वपूर्ण योगदान दिया था। उसके क्षेत्रीय रूपों की बोलियों को ब्रज, अवधी के अलावा मैथिली, खड़ी बोली, डिगल और राजस्थानी भी कहकर पुकारा जाता है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने हिन्दी का विकास के परवर्ती काल को चारण काल कहकर पुकारा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नगेन्द्र ने वीर गाथा काल को आदि काल कहकर पुकारा और उसका समय आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के बीच निर्धारित किया। इस काल के अधिकांश लेखक चारण कवि थे जिन्होंने वीगाथात्मक और श्रृंगारिक साहित्य की रचना की। राजपूत राजा और सामन्त चारण जाति के जिन लेखकों को आश्रय प्रदान करते थे उन्हें चारण भाट राजपूत कहकर पुकारा जाता था। इन लोगों ने अपने आश्रयदाताओं की उपलब्धियों का वर्णन अपनी कृतियों में किया है। महिमा मंडित करने की प्रवृत्ति के कारण कई बार ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा कर दी गई। कवियों ने के . तो कथा वस्तु को चरित्र नायक के चारों ओर इतना अधिक संकुचित कर दिया था कि कथा वस्तु

विकास की ओर ध्यान ही नहीं दिया। इन्हीं लोगों के कारण रासो साहित्य के उद्भव और विकास हुआ। समकालीन रासो साहित्य का जन जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। इसके रचयिताओं का उद्देश्य अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना था। पूर्व मध्यकालीन राजनीतिक प्रवृत्तियों के विवेचन का आधार रासो साहित्य बन गया। इसमें चरित्र नायक प्रधान 12 ग्रंथ रचे गये। इन्हें इतिहासकार इतिवृत्त कहकर पुकारते हैं घ रासो साहित्य के प्रमुख ग्रंथों में खुमान रासो, बीसलदेव रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो आदि हैं।

रासो साहित्य के अतिरिक्त आदिकालीन हिन्दी साहित्य की साहित्यिक कृतियों को पांच वर्गों में विभाजित किया गया है 1. सिद्ध साहित्य, 2. जैन साहित्य, 3. नाथ साहित्य, 4. लौकिक साहित्य 5. गद्य साहित्य। इस प्रकार आदिकालीन हिन्दी साहित्य के द्वारा समकालीन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों की पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। राम्रो साहित्य में सामन्तवाद, युद्ध, हिंसा, शौर्य, वीरता का उल्लेख किया गया। वह क्षेत्रीय प्रवृत्तियों के प्रतीक है। हिन्दी साहित्य से पता चलता है कि मध्यकाल में रूढ़िवादी और अन्य विश्वास का बोलबाला हो गया था। केवल नारी के पारिपरिक सौन्दर्य को विभिन्न श्रृंगारिक रूपों में व्यक्त करने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी थी। बाबर ने इसका वर्णन व्यंगात्मक भाषा में अपनी आत्मकथा में इन शब्दों में किया है। 'प्राजपूत युद्ध में मारे जाने को ही अपनी सबसे बड़ी वीरता समझते हैं।' इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि रासो साहित्य पूर्व मध्य कालीन उत्तर भारत के सामन्तवाद का अत्यन्त वस्तुपरक दर्पण है।

धर्म और संस्करतिक के क्षेत्र में समकालीन हिन्दी साहित्य में अंतर – विरोधी प्रवृत्तियों की जानकारी मिलती है। एक ओर भोगवादी सिद्ध वामपंथी थे तो दूसरी ओर नाथ पैली के लेखक थे, जिन्होंने योग के हठ मार्ग का सहारा लिया था और वाम मार्ग का खंडन किया था। जैनियों ने अपने रास साहित्य के द्वारा समकालीन समाज में व्याप्त हिंसक से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अहिंसा और शांति का प्रचार किया। उनके प्रचार का परिणाम यह हुआ कि हिंसा और सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध शांति, प्रेम, अहिंसा और बंधुत्व की दिशा में जो प्रगति हुई उसने भक्ति कालीन कवियों के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

भक्ति कालीन कवियों की वाणी ने भारत में समन्वयवादी संस्कृति और समाज की स्थापना के लिए पहल की थी जिसका पूर्ण विकास अकबर के शासन काल में हुआ। समन्वित संस्कृति को भारतीय जन जीवन का अभिन्न अंग बनाने वाले मध्यकालीन इतिहास परक लेखकों में जायसी, मुल्ला दाऊद, अमीर खुसरो और कबीर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

7

अकबर की शिक्षा पद्धति के कारण बहुत हिन्दू फारसी पढ़ने लगे। फलतः कई हिन्दू फारसी के कवि, इतिहास और कोशकार हो गये। अबुल फजल ने कुछ हिन्दू विद्वानों के नाम गिनाये हैं— जैसे नारायण, माधो भट्ट, विद्या निवास, गौरी नाथ, गापीनाथ, किषनपण्डित भट्टाचार्य, भागीरथ, काशीनाथ, महादेव, भीमनाथ तथा नारायण शिवजी। इस युग में हिन्दी की चरमम उन्नति हुई। रहीम का हिन्दी भाषा व साहित्य को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण योगदान है। उस समय अलंकारों की अपेक्षा नायिका भेद की ओर कवियों का झुकाव हुआ। फलस्वरूप श्रृंगार रस की अनेक मुक्तक रचनाएं हिन्दी में हुई। नायिका श्रृंगार रस का आलंबन है। इस आलंबन के अंगों का वर्णन एक स्वतंत्र विषय हो गया। इसी प्रकार उद्दीपन

भारत का इतिहास

के रूप में शङ्कराचार्य वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गयीं। विप्रलम्भ सम्बन्धी, (चारहमासे) भी कुछ कवियों ने लिखे। स्वयं रहीम ने ज्वायिकाभेद लिखा था। सल्तनत काल में चित्रकला का जो विकास हुआ, उसकी जानकारी चांदायन, मण्णावती जैसे साहित्यिक ग्रंथों के द्वारा ही प्राप्त हो सकी है। अलाउद्दीन खिलजी के राजस्थान में अभियानों का उल्लेख हमीर रासो के अतिरिक्त मलिक मोहम्मद जायसी के द्वारा रचित पद्मावत से भी प्राप्त हुआ है। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत में बहुराज्य वादी व्यवस्था का विकास हुआ था। जिसके कारण स्वभावतः क्षेत्रीयवाद को बढ़ावा मिला। उत्तर भारत की प्रादेशिक भाषाओं का उदय और विकास सातवीं और आठवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो चुका था। मध्यकालीन भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी समकालीन हिन्दी भाषा के साहित्यिक ग्रंथों से प्राप्त होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रारम्भिक काल को वीर गाथा काल के नाम से पुकारा जाता है। इस काल की रचनाओं में सामन्त प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। हिन्दी साहित्य का द्वितीय युग भक्ति काल कहलाता है। सल्तनत की इत्तादारी व्यवस्था ने प्राचीन सामन्तवाद को मष्तप्रायः कर दिया था और जब भारतीय धर्म नवोदय की ओर बढ़ रहा था तब साम्प्रदायिक समन्वय की लहर आई। भक्ति आन्दोलन के संतों ने अपनी वाणी को मुखरित करके हिन्दी साहित्य को विकसित किया। भक्ति काल के युग में प्रेम मार्गी धारा प्रवाहित होने लगी, जमींदारी और जागीरदारी व्यवस्था के रूप में सामन्तवादी प्रणाली ने नया रूप धारण और हिन्दू में फारसी भाषा के इक-प्रत्यय लगाने से हिंदी बन गया, जिसका अर्थ होता है हिन्द का हिन्दी भाषा का नाम दिया गया। सबसे पहले हिन्दी शब्द का प्रयोग सफ़द्दीन यजदी ने अपनी कृति जफरनामा में किया था, जिसे उसने 1425 के लगभग लिखा था। हिन्दू और उर्दू दोनों सगोत्रीय भाषायें हैं। उर्दू मूल रूप से तुर्की का शब्द है जिसका अर्थ होता है खेमा (षिविर) छ सल्तनत काल में तुर्की शासकों के मध्य एशिया के साथ सम्बन्ध टूट चुके थे। उस समय बोलचाल के लिए भाषा की समस्या विकट हो गयी। सल्तनत काल से ही सेना में जो विभिन्न जाति और धर्मों के लोग थे, उनकी बोलचाल के लिए जिस मिश्रित भाषा का प्रयोग किया गया उसे उर्दू कहकर पुकारा गया। स्पष्ट है कि उर्दू का उदय और प्रारम्भिक विकास खेमों में हुआ था। कालान्तर में उर्दू का हिन्दवी कहकर पुकारा गया। सल्तनत काल के सूफी संतों, अमीरों और प्रशासनिक अधिकारियों को भाषा की समस्या का विकट रूप से सामना करना पड़ा था क्योंकि जब वे लोग दक्षिण भारत में पहुंचे तो वहां की प्रादेशिक भाषाओं से अनभिज्ञ थे। उस समय उर्दू का ही दक्षिण भारत में विकास हुआ और उसे दक्कनी कहकर पुकारा गया। अठारवीं शताब्दी के मध्य तक उर्दू को हिन्दवी, रेखता, दक्कनी अथवा हिन्दी कहकर पुकारा जाता था। आम लोग उर्दू भाषा को हिन्दुस्तानी या दक्कनी कहकर पुकारते थे। उन्सवीं शताब्दी के मध्य तक उर्दू के विभिन्न नामों का प्रचलन बंद हो चुका था और इसे वर्तमान रूप से उर्दू कहकर पुकारा गया। उत्तर मध्य काल में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के समन्वय की प्रक्रिया में उर्दू का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

जिस तरह हिन्दी के क्षेत्रीयवाद के कारण विभिन्न रूप उत्पन्न हो गये थे, उसी प्रकार उर्दू के भी कई रूप बदले। बज्ज में बोली जाने वाली हिन्दी वरजभाषा, अवध में हिन्दी को अवधी, उत्तर पूर्वी बिहार में भोजपुरी, मिथिला में मैथिली, राजस्थान और मालवा में मालवी के नाम से पुकारा गया, इन सब क्षेत्रीय भाषाओं के विविध रूप में हिन्दी का एक सामान्य रूप उभरा जिसे खड़ी बोली कहकर पुकारा गया। खड़ी बोली किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है, यह समूचे हिन्दी प्रदेश की भाषा है। मध्यकाल के प्रमुख लेखक अमीर खुसरो, कबीर और

गोरखनाथ ने खड़ी बोली का मिश्रित भाषा के रूप में ही प्रयोग किया। रसमलीन करत अंग दर्पण से ज्ञात होता है कि केषव ने नायिकाओं के 360 भेद, देव ने 384, परन्तु सैयद गुलाब नबी रसलीन ने उनके 1352 भेद किये। वस्तुतः भक्तों एवं सूफियों ने मिलकर प्रेम की तीव्रता को उत्कर्ष ष्ढेने के लिए नायिका भेद की रचना कर डाली। यहाँ तक मीराबाई जो माधुर्य भाव से कृष्ण की उपासना कर रही थी, सुफी संस्कारों से प्रभावित न रह सकी। की प्रेम वाटिका 1614 ई. की है और वह अकबर – जहांगीर काल की सामाजिक व सांस्कृतिक स्थिति का अच्छा परिचय देती है।

मुगलकाल के लिए यह चमत्कार ही है कि उसमें गोस्वामी तुलसीदास जैसे कवि का प्रादुर्भाव हुआ। उनका श्री रामचरितमानस रचना कौषल, प्रबन्ध पटुता व सहृदयता आदि की दृष्टि से अद्वितीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि यदि कोई पूछे कि जनत के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है? तो एक मात्र सही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत हृदय, भारती कण्ठ, भक्त चूड़ामणि— गोस्वामी तुलसीदास दरबारी कवियों में टोडरमल, बीरबल, गंग, मनोहर आदि कवि थे केषवदास ने रामचन्द्रिका नाम सुप्रसिद्ध महाकाव्य लिखा। इस काल के अन्य प्रसिद्ध कवि सूरदास थे जिनका बाल क्रीड़ाओं पर रचित काव्य प्रत्येक हृदय को आज भी आह्लादित करता है।

17वीं शताब्दी में भी यह धारा अनवरत चलती रही। बिहारी इस युग के महाकवि थे। बिहारी की समाहार शक्ति, रस व्यंजना, वस्तु व्यंजना, व्यंगार्थ प्रियता, वाग्वैदग्ध्य अद्वितीय थी। उनकी मार्मिक ओर अनुठी उक्तियां हिन्दी साहित्य का शाश्वत शृंगार हैं। रीतिकाल के अन्य कवि मतिराम थे। शृंगारी वातावरण में वीररस की व्यंजना करने वाले महाकवि भूषण इसी युग में हुए। उनकी कविताएं अत्यधिक ओजस्विनी और वीर दर्प पूर्ण हैं। भूषण बड़े ही प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। उनका अर्थ सौष्टव और नवोन्मेष अन्यत्रा दुर्लभ है। भिखारीदास एवं पद्माकर भट्ट रीति काल के कवियों में सर्वप्रथम कवि थे। इस काल में हिन्दी गद्य की परम्परा भी चल पड़ी। नाभादास का अष्टयाम बैकुण्ठ मणिषुक्ल का अगहन महात्म्य और बैसाख महात्म्य ब्रजभाषा गद्य के अच्छे उदाहरण माने जाते हैं। आगे चलकर सूरति मिश्र का बैताल पच्चीसी और हीरालाल का भाषा वचनिका, जो आईने अबकरी का अनुवाद है, प्रकाशित हुआ।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में समसामयिक और ऐतिहासिक साहित्य अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में लिखे गये। आठवीं शताब्दी के बाद जो अरब और मुस्लिम यात्री धर्म प्रचार अथवा व्यापारिक हितों की पूर्ति के लिए भारत आए थे, उनमें से अधिकांश ने अपनी यात्रा के अमूल्य संस्मरण छोड़े हैं। विवरणों में भौगोलिक तत्वों को अधिक महत्व दिया गया। लेकिन, उन्होंने प्रसंगवश जो अन्य विवरण लिख लिए हैं वे ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान प्रमाणित हुए हैं। तुकों के आगमन से पूर्व भारत में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से राजरंगिणी को 1148 ई. के लगभग लिखा गया था। इसके लेखक कल्हण ने काष्मीर का इतिहास लिखा था, जिसमें कृषि की रचना क्यों, कब और कैसे की गई उसका उल्लेख विस्तार से मिलता है। काष्मीर के इतिहास लेखन की परम्परा, में वहाँ के निवासियों की रुचि के कारण क्षेत्रीयता की भावना उत्पन्न होने के बाद भी, कमी नहीं आई। संभवतः यह इसलिए चेतना अधिक बलवती थी।

भारत का इतिहास

कालीन भारतीय समाज दिल्ली सल्तनत काल में आयी उथल-पुथल के बाद एक स्थिरता के भव में आ गया था। पूर्व मध्यकाल में बाहर से आकर अनेक कबीलों व जातीय समूहों ने भारत में षरण ली थी। मध्य एशिया में मंगोलों के उत्थान के बाद यह क्रम और तेजी से प्रारम्भ हुआ व दिल्ली इस्लामिक संस्कृति के नये केन्द्र के रूप में उभरकर सामने आया। इस काल में अनेक प्राचीन कबीलों व जातीय समूहों का नये ढंग से बंटवारा हुआ और उसके परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर इस्लाम में स्थानीय लोगों की संख्या बढ़ी वहीं अनेक समूहों ने भारत की जाति व्यवस्था में स्वयम् को ढाल लिया। नये सैन्य वर्गों जैसे राजपूत का अभ्युदय हुआ। मुगल काल में आये परिवर्तनों, विशेषकर आर्थिक परिवर्तनों के कारण जाति व्यवस्था अपने विभिन्न गोत्रों व श्रेणियों के साथ कठोर हुई और इस प्रक्रिया में परस्पर वैवाहिक सम्बन्धों ने भी निर्णायक भूमिका निभायी।

अबुल फजल ने समाज को चार वर्गों में विभक्त किया है। प्रथम, यौद्धा व सैनिक, जो राजनीतिक व प्रशासनिक व्यवस्था लाते हैं। अबुल फजल इन्हें अग्नि की श्रेणी में रखता है। द्वितीय, व्यापारी व कारीगर जो हवा के समकक्ष हैं, अपने श्रम व यात्रा से जीवन को पोषित करते हैं। तृतीय, विद्वान एवं दार्शनिक जो पानी के समकक्ष हैं अपनी लेखनी व ज्ञान से समाज के बगीचे को हराभरा रखते हैं तथा चतुर्थ, कृषक, — पशुपालक एवं श्रमिक जिनकी तुलना धरती से की जा सकती है, अपने परिश्रम व लग्न से जीवन में परिपक्वता लाते हैं व खुशियाँ बटोरते हैं। इस प्रकार अबुल फजल ने धर्म व सम्प्रदाय के स्थान पर कार्य विभाजन से समाज के वर्गों की रूपरेखा खींची है। वैसे वह यौद्धाओं जिनमें साम्राज्य का अमीर वर्ग है बनता है, को श्रेष्ठता प्रदान की है। पर साथ ही राजा के दायित्वों में यह स्वीकार किया है कि राजा इन सभी वर्गों के मध्य न्याय से सामंजस्य उत्पन्न करें तथा सभी को अपने अपने कर्तव्यों में लगाये। मुगल काल में जनसंख्या का अधिक भाग हिन्दू जाति व्यवस्था के अनुसार ऊपर से नीचे के वर्ग की श्रेणी में गठित था। यूरोपीय यात्रियों ने इस सामाजिक व्यवस्था का रोचक विवरण दिया है। हिन्दू जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों का सर्वाधिक सम्मानजनक स्थान था। उनका मुख्य कार्य अध्यापन व पुरोहिती का था। प्रारम्भिक मुगल शासकों ने ब्राह्मणों के प्रति सम्मान भी व्यक्त किया। हिन्दू शासकों के राज्य में इनकी तुलना का कोई वर्ग नहीं था। परन्तु मुगल शासित क्षेत्रों में इनकी दशा में गिरावट आ रही थी। खाफी खां लिखता है कि बनारस के पण्डित आर्थिक समस्याओं से जूझ रहे थे। मनुची ने अनेक ब्राह्मणों को सामन्तों व व्यापारियों के घर रसोइये का कार्य करते हुए देखा था। राजस्थानी दस्तावेजों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण खेती के कार्य में भी संलग्न थे। यद्यपि उन्हें भूमि दान में अथवा उसकी उपज पर करों में रियायती दरों पर प्राप्त थी। इस काल में क्षेत्रीय व राजपूत शब्द एक-दूसरे के पर्याय बन गये थे। यद्यपि अनेक लेखकों ने इन्हें षक, हुण व पार्थियनों का वंशज भी कहा है। बल्कि कुछ इनकी जनजातीय शासक वर्ग से भी बताते हैं। राजपूत से 36 कौमों का मत प्रचलन था जो कि इनके मुख्य गौत्र थे। इस काल की विलक्षण घटना मुगल- राजपूत सामाजिक सम्बन्धों की है और अनेक राजपूत राजा मुगल मनसबदार बनकर एक ओर जहाँ मुगलों की सैन्य शक्ति का आधार बन रहे थे। वहीं दूसरी ओर अतिरिक्त जमीरें पाकर समृद्ध हो रहे थे। राजपूतों की स्वयम् की शक्ति का आधार उनका कुल था। इस काल में लगभग सभी को सैन्य नौकरी प्राप्त हो गयी थी। एक अध्ययन के अनुसार लगभग 26 मिलियन लोग सेना में जुड़े हुए थे। यह अपने आप में एक बहुत बड़ी संख्या है। सामाजिक धरातल पर यह परिवर्तन अवश्य आया कि चौहानों, गुहिलों, प्रतिष्ठानों बघेलों के स्थान पर राठौड़ों व कछवाहों की शक्ति का अधिक उत्कर्ष हुआ।

मुगल काल में वैश्य वर्ग का उत्थान भी हुआ। जैसा कि आर. एस. शर्मा ने इनकी स्थिति पूर्व मध्यकाल में बतलाती है, उससे तुलना करने पर उनकी उन्नत स्थिति का भाव होता है वस्तुतः केन्द्रित मुगल साम्राज्य में आन्तरिक व बाह्य व्यापार दोनों विकसित हुए तथा नगरीकरण की प्रक्रिया भी तेजी से बढ़ी। इन सबका लाभ बनियों या वैश्यवर्ग को प्राप्त हुआ। बर्नियर एवं मनुची ने इनके ज्ञान व कार्यक्षमता में निपुणता की बहुत प्रशंसा की है। राजस्थानी साहित्य से विदित होता है कि वैश्य राजा मुगल प्रशासन में महत्वपूर्ण पदों यहाँ तक कि दीवान के पद पर भी नियुक्त होते थे। राजस्व प्रशासन तो पूर्ण रूप से इनके हाथों में था लेकिन इनकी स्थिति चाहे वह व्यापारी की हो अथवा प्रशासनिक पद की राजा व अमीरों की कृपा पर आश्रित थे। इनका किसी भी पद पर कोई वंशानुगत दावा नहीं था। पुद्ग एवं श्रमिकों व दस्कारों में सुनार, लुहार, खाती चमार, कुम्हार आदि मुख्य वर्ग थे। मुगल काल में मौद्रिक अर्थ व्यवस्था के विकास ने गृह उद्योगों के स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन ला दिये थे।

अमीर वर्ग मुगल कालीन व्यवस्थाओं में अमीर वर्ग ने हर प्रकार से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। मुगल अमीर (सामन्त), मुगल दरबार के मनसबदार थे जिन्हें साम्राज्य को सैनिक व प्रशासनिक सेवाएँ देने के बदले मनसब प्राप्त होता था। मनसबदार प्रथा स्थूल रूप से दशमलव प्रणाली पर आधारित थी व इसकी जात व सवार दो श्रेणियाँ थी। जात मनसबदार को निजी खर्च के लिए तथा सवार सैनिकों की संख्या व पदों पर कार्य करने वाली अधीनस्थों के वेतन के रूप में दिया जाता था। महत्वपूर्ण अमीर पाँच हजारी व सास हजारी मनसबदार होते थे। सामान्यतः वेतन नकदी के रूप में दिया न जाकर किसी क्षेत्र विशेष अथवा जागीर से पैदा होने वाली आय के रूप में दिया जाता था और मनसबदार उस जागीर के प्रशासन को भी संभालते थे, इस कारण जागीरदार भी कहलाते थे। इतिहासकारों ने अमीरवर्ग के सामाजिक संगठन को समझाने के लिए इन्हें तुरानी, ईरानी, राजपूत, भारतीय मुसलमान एवं अन्य वर्गों में बांटा हुआ है। तुरानी व ईरानी अधिकतर विदेशी थे तथा मुगल सम्राट— के नातेदार तथा विभिन्न महत्वपूर्ण पदों को संभालने वाले अमीर थे। तुरानी मध्य एशिया से बाबर से लेकर अकबर के काल तक बड़ी संख्या में भारत आये। ईरानी अपने प्रशासनिक अनुभव के कारण विख्यात थे और ईरान से आये थे। अकबर के काल तक अमीर वर्ग में इनकी संख्या 64 प्रतिशत के लगभग रही। भारत का इतिहास (1200 से 1739 तक) थी। जहाँगीर के बाद अफगानों को भी अमीर वर्ग में स्थान मिलने लगा तथा पाहजहाँ व औरंगजेब के काल में दक्षिण अमीरों की संख्या बढ़ने पर विदेशी अमीरों की संख्या में गिरावट आ गयी। उत्तर भारत के राजपूत शासकों का अमीर वर्ग में प्रवेश हुआ। सर्वप्रथम आमेर के कछवाहों व बीकानेर के राठोड़ों ने उच्च पद प्राप्त किया व उनका मनसब क्रमशः सात व पाँच हजारी तक पहुँच गया। तत्पश्चात् जोधपुर के राठोड़ अधिक प्रभावशाली हो गये। औरंगजेब की प्रारम्भिक वर्षों की नीति भी राजपूत विरोधी नहीं थी। मिर्जा राजा जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् राजपूत अमीरों की संख्या में गिरावट आनी प्रारम्भ हो गयी। लेकिन औरंगजेब के काल में मराठों को भी अमीरवर्ग में स्थान मिलने लगा था। मुगल अमीर अपने कार्य क्षेत्र में बहुत प्रभावशाली थे लेकिन जन्ती के नियम के अन्तर्गत बादशाह उनकी सम्पत्ति को राज्य में मिला सकता था राजपूतों के क्षेत्र इसके अपवाद थे बल्कि उनके क्षेत्र को वतन जागीर कहा जाता था क्योंकि ये क्षेत्र तबादलों की नीति से मुक्त थे और राजपूत शासकों का उन पर वंशानुगत अधिकार स्वीकार किया जाता था। औरंगजेब के विरुद्ध राजपूतों के विद्रोह इसी कारण हुए थे क्योंकि इन नियमों में छेड़छाड़ करने की कोषि की थी। ग्रामीण समाज मुगल काल की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से भू-राजस्व पर टिकी हुई थी लेकिन कृषकों की दशा में सुधार नहीं हो पाया था। बाबर जब भारत आया तो उसने अथ नंगे भागते हुए ग्रामीण

भारत का इतिहास

वासियों का विवरण दिया है जो पल भर में बस्ती छोड़ देते हैं फिर कहीं और बनते रहते हैं। अकबर के काल में राजस्व के क्षेत्र को लेकर महत्वपूर्ण प्रयोग किये गये थे तथा अकाल भूखमरी के समय दान सहायता तथा करों में कमी अथवा छूट के प्रावधान किये थे, लेकिन बर्नियर व मनुची के विवरणों से ज्ञात होता है कि षाहजहाँ औरंगजेब के काल तक ग्रामीणों की दशा बहुत खराब थी। यद्यपि बर्नियर ने यह तर्क दिया है कि हिन्दू राजाओं के क्षेत्र में उनकी स्थिति कुछ ठीक थी लेकिन मनुची इस बात को भी नहीं मानता है और लिखता है कि इन गरीबों को किसी क्षेत्र में आराम नहीं था। जागीर व जमींदारी क्षेत्र के राजस्व रिकार्ड से भी यही स्पष्ट होता है कि मुगल साम्राज्य में किसानों पर पड़ने वाला करों का बोझ समान ही था। बर्नियर इस समस्या का मूल कारण भारत में किसानों के भूमि अधिकारों के नहीं होने को बतलाता है और सम्पूर्ण भूमि का मालिक राजा को हो बतलाया है। लेकिन आधुनिक शोधकर्ता किसान के भूमि पर स्वामित्व को परम्पराओं के रूप में स्वीकार करते हैं। पर इखल का अधिकार राजा के पास था। राजस्थानी दस्तावेजों में गांव के मूल किसानों व बाहर से आकर बसने वाले नये किसानों में भेद किया है।

ग्रामीण समाज के स्वरूप को लेकर एक और धारण है कि यह छोटे गणतन्त्रों के समान पथ्यक व अपरिवर्तनीय रहा है अर्थात् बाह्य प्रभावों ने इसे प्रभावित नहीं किया है। लेकिन वस्तु स्थिति यह है कि एक और गुर्जर व जाट जैसे कबीलों के बसने तथा राजपूत शासकों की कुलीन व्यवस्था के अन्तर्गत गांवों पर सामन्ती नियंत्रण से तथा दूसरी ओर मुगल प्रशासन के अधिकारियों के हस्तक्षेप से ग्रामीण समाज के स्वरूप में परिवर्तन आने लगे थे। इस कारण सभी गांव जहाँ एक जाति ही प्रमुखता से रहती थी वहाँ ग्राम व जाति पंचायत एक ही होती थी। जहाँ गांव में विभिन्न जातियों का अच्छी संख्या में आवास था, वहाँ जाति व गांव पंचायत अलग-अलग षक्तियाँ भी प्रभावशाली ढंग से कार्य कर रही थी। प्रथम, कृषक एवं गैर—कृषक परिवारों के मध्य सम्बन्ध एवं द्वितीय, कृषक परिवारों में भी भूमि की प्रकृति एवं विस्तार पर। बी. आर. ग्रोवर ने कृषक समाज को मुख्य रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया है, खुद काश्तकार, पाही काश्तकार एवं मुजारियों। खुद काश्तकार परम्पराओं के अनुसार अपनी भूमि पर वंशानुगत अधिकार का दावा प्रस्तुत करता था तथा अतिरिक्त भूमि को किराये पर देता था। महाराष्ट्र में इसे थालवाहीक तथा राजस्थान में करसां, घरुहाली या आसामी कहा जाता था। माही काश्तकार चाहे नयी भूमि पर अथवा किराये की भूमि पर खेती कर लेते थे। भू-राजस्व को लेकर ग्रामीण समाज विभक्त था जिन्हें स्थूल रूप से रियायती एवं रैययती कह सकते हैं। गांव के चौधरी, मुखिया, जमींदार, मुकददम, सहाणा आदि किराये पर भूमि देते थे व राज्य को कम दरों पर राजस्व देते थे। सैनिक व अन्य प्रशासनिक अधिकारी भी इसी श्रेणी में आते थे। इसके अतिरिक्त पाही काश्तकार जब नयी भूमि पर खेती करते थे तब वे पूरा भी एक निर्धारित समय पर कम दरों से भुगतान करते थे। जिन वर्गों से बेगार ली जाती थी उन्हें भी कृषि करने पर रियायत दी जाती थी। बाकी सभी कृषक रैययती कहलाते थे और निर्धारित करों को चुकाते थे। सिंचाई सुविधा प्राप्त करने वालों को और भी अधिक कर चुकाना होता था। राजस्थानी दस्तावेजों के अध्ययन से विदित होता है कि कृषक जातियों जैसे जाट, माली (सैनी), सीखी, पटेल आदि को कर चुकाती थीं। बाकि सभी जातियाँ किसी न किसी रूप में रियायती थीं। यहाँ तक कि वैश्य व ब्राह्मण भी रियायती कृषक थे। इस प्रकार मुगल कालीन समाज जातियों व प्रत्येक जाति में भी श्रेणीगत स्तर पर विभक्त था। इसके अतिरिक्त अमीरों व व्यापारियों का जीवन स्तर काफी ऊँचा था वहीं ग्रामीण समाज को रैययत वर्ग बुनियादी समस्याओं से जूझता रहता था। कतिपय सामाजिक परम्पराएँ इनका लेखा-जोखा काफी विस्तरत है परन्तु मध्य

कालीन कुछ सामाजिक परम्पराएँ जिनकी आज भी विशेष रूप से चर्चा होती है को इस खण्ड में लेने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः पूर्व मध्यकाल में जिन प्रथाओं जैसे सती प्रथा, पर्दा प्रथा का उद्भव हो चुका था, मुगल काल में अधिक व्यापक हो गयी थी। जौहर प्रथा जिसके विस्तृत विवरण खिलती एवं तुगलकों के काल में मिलते हैं, वस्तुतः अकबर के काल से समाप्त हो गयी थी। इसी प्रकार शाका प्रथा भी बन्द हो गयी थी। लेकिन सती प्रथा का प्रचलन बहुत बढ़ गया। यहाँ तक कि यह प्रथा सैन्य जातियों से बाहर निकलकर अन्य जातियों में भी अपनायी जाने लगी। सतियों को देव-देवी तुल्य स्थान मिलने लगा। पर्दा प्रथा भी उच्च जातियों से निकलकर सामान्य वर्गों में आ गयी। जहाँ तक समाज में स्त्रियों की स्थिति का प्रश्न है, दृष्टि से नहीं मापा जा सकता। उच्च व शासकीय वर्गों में की स्त्रियाँ आराम का जीवन जीती थी। लेकिन बहुप्रथा का शिकार थीं। इन वर्गों में पुनर्विवाह नहीं होने के कारण विधवा का जीवन कठोर था। वैश्य व राजकीय सेवा में कार्य करने वाले वर्गों में भी उच्च वर्ग की परम्पराओं को अपनाने का राग बढ़ता जा रहा था। सामान्य, वर्ग की स्त्रियाँ पुनर्विवाह का अधिकार रखती थीं व निःसंतान होने पर गोद प्रथा को अपनाने में भी

प्रस्तुत करती थीं। इनके आर्थिक आधार भी पंचायत के नियमों के कारण स्पष्ट थे तथा पति के जीवनकाल में कृषि उत्पादन में वर्षा के पीछे इस तथ्य से परिचित होना आवश्यक है। वस्तुतः पर्दा प्रथा, पुनर्विवाह न करना व सती होना सामाजिक प्रतिष्ठा के भाग बन गये थे।

1601 में भारत की अनुमानित जनसंख्या 145 मिलियन थी और संभवतः यह प्रतिवर्ष 1.21 प्रतिशत की दर से बढ़ रही थी। अधिकांश लोगों का व्यवसाय कृषि था और सहजता से यह माना जा सकता है कि मुगल कालीन भारतीय अर्थ व्यवस्था कृषि पर आधारित थी। 1595 ई. में संभवतः कुल कृषि योग्य भूमि 53 से 55 प्रतिशत तक भाग खेती के लिये उपयोग में आता था जो कि 1909-10 ई. के 50 प्रतिशत से कुछ अधिक है। मुख्यतः दो फसलें रबी व खरीफ बोयी जाती थी और इन दोनों फसलों में खाद्यान्न व व्यापारिक फसलों का उत्पादन होता था। इस काल में नहरों, कुओं, तालाबों व बाढ़ के पानी से कृत्रिम सिंचाई के साधनों का बहुत विकास हुआ व कृषि उत्पादन बढ़ा। अनेक प्रकार की फसलें सामने आयी। अबुल फजल रबी में लगभग 16 प्रकार की विभिन्न फसलों की चर्चा करता है। पूर्वी राजस्थान

भी खरीफ में 5 से अधिक फसलें बोई जाती थी। नई फसलों में मुख्य रूप से तंबाकू व ज्वार है। बाकू की फसल तो लगभग सम्पूर्ण भारत में बोई जाने लगी। बंगाल दुनिया में सिल्क का उत्पादन भी इस काल में प्रारम्भ हो गया था। संभवतः कॉफी का उत्पादन भी इस काल में प्रारंभ हो गया था। बागवानी में भी नये प्रयोग हुए। पौधों में ग्राफ्टिंग का प्रचलन बढ़ा और उसी के फलस्वरूप कश्मीर में मीठी चेरी का आगमन हुआ व पुर्तगालियों ने आम की प्रसिद्ध नस्ल ऐलेफन्जों तैयार की। पाइनएपल, पपया का आना भी प्रारम्भ हुआ। बाकी गेहूँ, चावल, जौ, मूँग, तिलहन, ज्वार, बाजरा, चना व साना तो मुख्य उत्पादन थे। व्यवसायिक फसलों में गन्ना, कपड़ा, नील की खेती मुख्य थी लेकिन इनका उत्पादन गिर रहा था। पर इनका व खाद्यान्न फसलों के प्रति एकड़ के उत्पादन में कोई गिरावट नहीं थी। मुगल भारत में आज की तुलना में दुग्ध व घी का उत्पादन अधिक था। पशुओं की संख्या से पता चलता है कि कुषक अधिक क्षेत्र में खेती कर सकते थे। एक हल पर चारबेल, दो गाय और एक भैंस आंकी गयी है। चूंकि कृषक वर्ग आर्थिक स्तर पर बहुत विभाजित था इस कारण यह गणना एक खुद काफ्त या आसामी श्रेणी के किसान पर लागू होनी चाहिये। कृषि उत्पादन

भारत का इतिहास

में विस्तार के पश्चात् भी कृषक प्राकृतिक आपदाओं को झेलने में असमर्थ रहते थे। क्योंकि अपनी उपज का अधिकांश भाग विभिन्न करों में चुका देते थे। 1630–32 ई. में गुजरात के अकाल में 3 मिलियन लोग मर गये। मुगल काल सूखे व अकाल की विभिन्नकाओं से भरा हुआ है। समाज में व्याप्त सामाजिक व आर्थिक विभेद के कारण ही औरंगजेब के काल में अनेक कृषक विद्रोहों ने जन्म लिया। हस्त उद्योग हस्त उद्योग मुख्य रूप से कृषि पर ही आधारित थे लेकिन इस काल में जब उत्पादन का लक्ष्य स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति से उठकर विस्तृत हो गया तो स्वाभाविक है कि हस्त उद्योग भी उस पूर्ति में जुट जाता। इस आर्थिक हलचल को देखते हुए हम उद्योगों को दो भागों में बांट सकते हैं। प्रथम, वे कृषि आधारित उद्योग जो स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे तथा द्वितीय, वे वस्तु उत्पादन उद्योग जो दूरस्थ बाजारों में भी पूर्ति करते थे। स्थानीय आवश्यकताओं में सुनार, लुहार, खाती, चमार, कुम्हार आदि वर्ग सम्मिलित होते हैं, जो किसान को उसकी आवश्यकतानुसार औजार व वस्तु प्रदान करते थे। दूसरे, कृषि उत्पादन को व्यवसायिक वस्तु में बदला जाता था। उदाहरणार्थ, इस काल में चीनी उद्योग का विकास हुआ बंगाल में षक्कर की मांग थी। लाहौर मिश्री की मण्डी बना हुआ था और उत्तरी-पश्चिमी राजस्थान से मिश्री यहाँ लाकर बेची जाती थी आय वैसे गृह कार्य ही था लेकिन बन्दरगाहों पर जहाजों के लिये आटा पीसना एक उद्योग बन गया था। तेल, नमक का व्यापार दूरस्थ क्षेत्रों तक होता था। कृषि प्रधान उद्योगों में रंग तथा नील की विश्व बाजार में मांग थी बयाना नील का प्रमुख उत्पादन केन्द्र था व आगरा इसकी प्रसिद्ध मण्डी थी। बल्कि मध्ययुगीन यूरोप के बाजार में नील की मांग वहाँ की बहुत सी कम्पनियों को भारत खींच लायी। षोरा का उत्पादन भी किसानों द्वारा संचालित उद्योगों में से एक था। इसका मुख्य उपयोग बारूद बनाने में होता था और यूरोपीय कम्पनियों की मांग की सूची में था। मुगलकाल में बहु संख्या में कारीगर लोहे, ताँबे, सोना, जवाहरात, चमड़ एवं लकड़ी के उद्योग में लगे हुए थे। बर्नियर एवं ट्रेवनियर ने हीरों के व्यापार व खुदाई की चर्चा की है। राजस्थान में जस्ता व ताँबे की खानें थी। सिरोही की तलवार व कटारें भारत भर में विख्यात थी। षिल्पकार एवं कारीगर भारत के सभी भागों में बसे हुए थे। यापार एवं वाणिज्य यापार का अध्ययन हम आन्तरिक व बाह्य दो षीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे। आन्तरिक व्यापार वृद्धि की ओर था क्योंकि एकीकृत मुगल साम्राज्य राजनीतिक व प्रशासनिक दृष्टि से सुरक्षा प्रदान कर रहा था। फिर इस काल में अविकसित गांवों को छोड़कर स्वावलम्बन की प्रवृत्ति समाप्त हो रही थी। व्यावसायिक फसलों के उत्पादन में वृद्धि एवं राजस्व के कनदी में लेने की प्रवृत्ति के कारण स्थानीय व्यापार में व्यापारियों की भूमिका बढ़ने लगी थी। इसक काल में बड़े नगरों की बात तो अनेक लेखकों व यात्रियों ने की है लेकिन मण्डियों व कसबों को संख्या में भी वृद्धि हुई है। षहर व गांव के मध्य विनिमय विस्तृत हो गया था। अर्थात् साप्ताहिक बाजार लोकप्रिय होते जा रहे थे। कुछ गांव केवल कारीगरों एवं बुनकरों से ही बस गये थे। बर्नियर, ट्रेवनियर व मनूची ने स्थानीय व्यापारिक मार्गों का विवरण दिया है तथा राजस्थानी दस्तावेजों में भी सक्रिय मार्गों का उल्लेख है। स्थानीय व्यापार को बढ़ाने के लिये मार्गों का जाल बिछा हुआ था। षेरषाह के मार्ग जो ग्राण्ड ट्रंक रोड्स के नाम से प्रसिद्ध हैं भारत की सभी दिषाओं को जोड़ते थे। मुगलों ने उत्तर से दक्षिण को जोड़ने के मार्गों को और विकसित किया। बर्नियर व ट्रेवनियर ने जो व्यापारिक मार्गों का विवरण दिया है उससे पता चलता है कि काबुल का दिल्ली से संबंध लाहौर के मार्ग से, मुल्तान का दिल्ली से संबंध सिरसा के मार्ग से, दिल्ली से दक्षिण जाने का मार्ग अजमेर से अहमदाबाद तथा दूसरा बुरहानपुर से तथा पूर्व का मार्ग

आगरा—पटना से था। पटना से हुगली जाने का नदी मार्ग भी थी। अकबर के काल में मुगल साम्राज्य में 120 बड़े शहर एवं 3200 कसबे थे। सत्रहवीं पताब्दी में आगरा, दिल्ली, लाहौर, पटना व अहमदाबाद बड़े नगर थे। विदेशी व्यापार की महत्वपूर्ण विशेषता बहुमूल्य पदार्थों का संग्रह था। वैसे आयात निर्यात का एक छोटा सा भाग ही था। आयात में चांदी प्रमुख थी। निर्यात में सूती वस्त्र सबसे आगे थे। निर्यात की अन्य मुख्य वस्तुओं का विवरण पूर्व में दिया जा चुका है। सिन्ध का लहरी बन्दर पश्चिम भारत के केम्बे, गोवा, दीव, सूरत, राजपुर, कालीकट, कोचीन, पूर्वी भारत के मछलीपट्टनम्, हुगली, पीपली, बालसौर, चिटगांव, नागापट्टम प्रमुख बन्दरगाह थे। थल मार्ग से विदेशी व्यापार ईरान व मध्य एशिया के नगरों तक पहुँचता था। पुर्तगालियों के आतंक के कारण ये थल मार्ग काफी लोकप्रिय थे लेकिन मुगल—ईरान सम्बन्धों के बिगड़ जाने के बाद समुद्री मार्ग से व्यापार क्रमशः बढ़ता ही गया। पन्द्रहवीं शताब्दी से यूरोपीय व्यापारी भारत में सक्रिय हो गये थे। जिसका श्री गणेश पुर्तगालियों ने किया था। जल्दी ही उन्होंने पश्चिमी तट के व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। लेकिन यूरोपीय बाजारों में नील, वस्त्रों व षोरा की मांग घटने से उनकी स्थिति कमजोर होने लगी। धीरे—धीरे च, फ्रांसीसी व अंग्रेजों के हाथ में व्यापार जाने लगा। सत्रहवीं शताब्दी में बंगाल ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रभुत्व छा गया। रेशम के व्यापार में उनकी विशेष रुचि जागी। इंग्लैण्ड में मशीनी क्रान्ति आने से पूर्व भारत का वस्त्र उद्योग विश्व में छाया हुआ था। बंगाल, गुजरात व देवगिरी इसके उत्पादन व निर्यात के लिये विख्यात थे। धीरे—धीरे वस्त्रों की मांग से पंजाब भी इसमें सम्मिलित हो गया लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् ब्रिटिश कपड़ा सस्ता होने तथा जुलाहों के पास क्रियाशील पूंजी के अभाव में स्थिति विपरीत जाने लगी। मुगलों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने व्यापार को प्रोत्साहित नहीं किया लेकिन यह सही नहीं है। 18वीं पताब्दी की राजनीतिक स्थिति तथा सूरत बन्दरगाह के पतन की कहानी से यह स्पष्ट हो जाती है। जहाजों के निर्माण पैली ने यूरोपीय उत्थान को और सुविधा दी। भारतीय जहाज भारी व कम गतिशील थे। भारत में प्रमाणित एवं सर्वमान्य मुद्रा के प्रचलन का श्रेय मुगलों को जाता मुद्रा की सुन्दरता के साथ ही उसे टिकाऊ बनाने के लिये उच्च कोटि की धातु का प्रयोग किया जाता था। सिक्के स्वर्ण, रजत व तांबे के बने होते थे। मुद्रा को ढालने का कार्य स्वतंत्र था अर्थात् कोई भी व्यक्ति सोने—चांदी की धातु ले जाकर टकसाल में मुद्रा ढलवा सकता था। अकबर व जहाँगीर ने विशेष रूप से रुपये का भार निर्धारित किया था जो क्रमशः साढ़े ग्यारह मासे से 20 प्रतिशत अधिक बढ़ा दिया गया था। चांदी का जहाँगी रुपया एक तोले के बराबर था। आईने अकबरी के अनुसार रुपये की विभिन्न इकाइयाँ थी। 16 आना का एक रुपया और 80 जीतन का एक आना होता था। स्वर्ण मोहर का भार 11 मासा तथा अषर्फी का अधिकतम भार 169 ग्रेन था। ताम्बे के सिक्कों को दाम कहा जाता था और 1 रुपया 40 दाम में आता था। तांबे के सिक्कों की अन्य इकाइयाँ 1 दमड़ी 3 दाम, 1 पैसा, 2 पैसा, 1 टका या 25 दाम बराबर होते थे। जैसा कि लिखा जा चुका है कि मुगल साम्राज्य में चांदी का आयात किया जाता था और यह स्थिति बाजार में रुपये के प्रवाह को प्रभावित करती थी। 1591 से 1639 ई. के मध्य रुपये के प्रवाह में तीन गुणा वृद्धि हो गयी और उसके बाद गिरावट का दौर आ गया था। 1700 के पश्चात् पुनः वृद्धि होने लगी। जहाँ तक मुगल काल में नाप और तोल का प्रश्न है 1 मन 40 सेर के बराबर होता था। यद्यपि यह मापदण्ड सभी क्षेत्रों में समान नहीं था छ सेर 18 से 22 दामों के वजन का था जो धीरे—धीरे 30 दाम के वजन का हो गया। तोला के मान के सम्बन्ध में। दाम के 1 तोला के 7 सुर्ख (71/96



Notes

भारत का इतिहास

तोला) होता था। 1 दाम का वजन 322.7 ग्रेन था। जहाँगीर ने 36 दामों का 1 सेर पर मन स्थापित किया। षाहजहाँ के काल में 1 सेर 40 दाम तक बढ़ गया अर्थात् 1 मल 73.76 पोण्ड के वजन का हो गया। इन सबके बाद भी अलग-अलग क्षेत्रों में वजन का भेद रहा। जैसे, आगरा का मन सूरत के। मन से दुगना था। तोल की तरह दूरी के माप के लिये कोई एक निश्चित पैमाना नहीं। अकबर ने अनिश्चितता को दूर करने के लिए इलाही गज की स्थापना की थी। जो 31 इंच लम्बा होता था। जहाँगीर ने मापन में 20 प्रतिषत की वृद्धि कर दी। पर ऐसा लगता है 31 इंच का गन ही लोकप्रिय रहा।

मुगल काल में बैंकिंग व्यवस्था का भी विकास हुआ। आन्तरिक व बाह्य व्यापार के बढ़ने में बैंकिंग व साख प्रणालियों ने पूरा साथ दिया। भू-राजस्व के नकदी में वसूली तथा शहरों में दस्तकारी वस्तुओं की बढ़ती खपत ने ग्रामीण स्तर पर ऋण व्यवस्था को फैला दिया। अमीरवर्ग भी अपने सैनिक खर्चा के निर्वाह के लिये ऋण लेते थे क्योंकि जागीरों की आय तो फसलों के कटने के बाद ही आती थी। इन परिस्थितियों के निर्वाह के लिये हुण्डी प्रथा का विकास हुआ। बनियों का कार्य ऋणदाता के अलावा, मुद्रा बदलना, हुण्डी द्वारा धन का विनिमय, धन को जमा करना, आदि भी था। हुण्डी अथवा हुण्डिका या हुण्डनी एक विनिमय बिल था जिसमें एक निश्चित स्थान पर वर्णित धन राशि के भुगतान का वचन दिया जाता था जैसे आजकल बैंक ड्राफ्ट हैं। यह काम करने वाले साराफ कहलाते थे। इससे मार्ग में आने वाले खतरों से पैसों को बचाया जा

संदर्भ सूची

1. "मध्यकालीन भारत: सल्तनत से मुगलों तक" (खंड 1 व 2) – डॉ. सतीश चंद्र
2. "मध्यकालीन भारत का इतिहास" – जे. एल. मेहता
3. "मध्यकालीन भारत के इतिहास का उन्नत अध्ययन" – जे. एल. मेहता
4. "मध्यकालीन भारत" – वी. डी. महाजन
5. "द वंडर दैट वाज़ इंडिया – भाग 2" – एस. ए. ए. रिज़वी
6. "मध्यकालीन भारत" – आर. एस. चौरसिया

MATS UNIVERSITY

MATS CENTER FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS : Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 M : 9109951184, 9755199381 Toll Free : 1800 123 819999

eMail : admissions@matsuniversity.ac.in Website : www.matsodl.com

